बी.ए. द्वितीय वर्ष

भूगोल, प्रथम प्रश्नपत्र

भौतिक भूगोल
(वायुमण्डल एवं जलमण्डल)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY-BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Kusum Mathur
   Professor,
   S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal.
2. Dr. Neerja Bhardwaj
   Professor,
   Govt. Hamidia College, Bhopal.
3. Dr. Manisha Dubey
   Professor,
   MLB College, Bhopal.

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor,
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal.
2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar,
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal.
3. Dr. L.P. Jharia
   Director Student Support,
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal.
4. Dr. Kusum Mathur
   Professor,
   S.N. Girls Autonomous (PG) College,
   Bhopal.
5. Dr. Neerja Bhardwaj
   Professor,
   Govt. Hamidia College, Bhopal.
6. Dr. Manisha Dubey
   Professor,
   MLB College, Bhopal.

COURSE WRITER

Dr. Bramhanand Tripathi, Professor in Geography, Department of Geography Govt. Mankunwar Bai Arts and Commerce College for Women, Napier Town, Jabalpur-482001.

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. (Developed by Himalaya Publishing House Pvt. Ltd.) and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल)

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 मौसम एवं जलवायुः जलवायु विज्ञान की परिभाषा एवं महत्व, मौसम एवं जलवायु के तत्व। वायु मण्डल का संघटन, वायु मण्डल की परतें एवं उनकी विशेषतायें। सौर्यातप एवं इसके वितरण को प्रभावित करने वाले कारक। उष्मा संतुलन तापमान का क्षैतिज एवं उर्ध्वाधर वितरण, तापमान की विलोमता।	**इकाई 1** : मौसम एवं जलवायु विज्ञान **(पृष्ठ 3–35)**
इकाई–2 वायुमण्डलीय दाबः वायुदाब पेटियाँ, वायुदाब पेटियों का विस्थापन। वायुमण्डलीय परिसंचरण, ग्रहीय पवनें, मौसमी पवनें, स्थानीय पवनें। वायुमण्डलीय आर्द्रता, निरपेक्ष सापेक्ष एवं विशिष्ट आर्द्रता। संघनन एवं उसके रुप, वाष्पीकरण, वृष्टि। वर्षा– प्रकार एवं वितरण।	**इकाई 2** : वायुमण्डलीय दाब **(पृष्ठ 36–81)**
इकाई–3 वायुराशियाँ, वाताग्रः उत्पत्ति एवं वर्गीकरण। उष्ण कटिबंधीय एवं शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात एवं संबन्धित मौसमी दशायें। विश्व की जलवायु का वर्गीकरण– कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट।	**इकाई 3** : वायुराशियाँ, वाताग्र **(पृष्ठ 82–117)**
इकाई–4 जलमण्डलः उच्चतादर्शी वक्र, प्रशान्त महासागर, अंध महासागर एवं हिन्द महासागर का उच्चावच, महासागरीय निक्षेप, प्रवाल भित्तियाँ एवं उनकी उत्पत्ति से संबन्धित सिद्धांत।	**इकाई 4** : जलमण्डल **(पृष्ठ 118–153)**
इकाई–5 समुद्री तापमानः लवणता, समुद्री जल का संचरणः लहरें, धारायें एवं ज्वार भाटा। ज्वार भाटा संबन्धित सिद्धांत। महासागर भावी संसाधन के स्रोत के रुप में।	**इकाई 5** : समुद्री तापमान **(पृष्ठ 154–216)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 मौसम एवं जलवायु विज्ञान 3–35

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 मौसम एवं जलवायु विज्ञान की परिभाषा एवं महत्व
  1.2.1 जलवायु विज्ञान
  1.2.2 मौसम
1.3 मौसम एवं जलवायु के तत्व
  1.3.1 जलवायु
1.4 वायुमण्डल का संघटन
  1.4.1 वायुमण्डल– परिचय एवं महत्व
1.5 वायुमण्डल की परतें एवं उनकी विशेषतायें
  1.5.1 वायुमण्डल की परतें
  1.5.2 वायुमण्डल का महत्व
1.6 सौर्यातप एवं इसके वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
  1.6.1 सौर्यातप एवं वायु तापमान
  1.6.2 भूतल पर सौर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
  1.6.3 पृथ्वी का ताप बजट
  1.6.4 वायुमण्डलीय तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
1.7 उष्मा संतुलन तापमान का क्षैतिज एवं उर्ध्वाधर वितरण
  1.7.1 ऊष्मा ताप सन्तुलन
  1.7.2 तापमान का वितरण
1.8 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 वायुमण्डलीय दाब 36–81

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वायुमण्डलीय दाबः वायुदाब पेटियाँ, वायुदाब पेटियों का विस्थापन
2.3 वायुमण्डलीय परिसंचरण
  2.3.1 वायुमण्डलीय परिसंचरण को नियन्त्रित करने वाले कारक
  2.3.2 वायुमण्डलीय परिसंचरण के प्रकार
2.4 ग्रहीय पवनें, मौसमी पवनें, स्थानिय पवनें
  2.4.1 पवनें
  2.4.2 पवनों का वर्गीकरण
2.5 वायुमण्डलीय आर्द्रता
  2.5.1 जल वाष्प एवं वाष्पीकरण
2.6 निरपेक्ष सापेक्ष एवं विशिष्ट आर्द्रता
  2.6.1 वायुमण्डलीय आर्द्रता के प्रकार

2.7 संघनन एवं उसके रुप
2.7.1 संघनन के रुप
2.8 वाष्पीकरण वृष्टि
2.8.1 वाष्पीकरण
2.9 वर्षा – प्रकार एवं वितरण
2.9.1 वर्षा
2.9.2 वृष्टि के प्रकार
2.10 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
2.11 सारांश
2.12 मुख्य शब्दावली
2.13 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.14 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 वायुराशियाँ, वाताग्र **82—117**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 वायुराशियाँ, वाताग्र उत्पत्ति एवं वर्गीकरण
3.2.1 वायु राशियाँ
3.2.2 वायु राशियों के उत्पत्ति के क्षेत्र
3.2.3 वाताग्र
3.3 उष्ण कटिबंधीय एवं शीतोष्ण कटिबंधी चक्रवात एवं संबन्धित मौसमी दशायें
3.3.1 चक्रवात
3.3.2 चक्रवातों के प्रकार
3.4 विश्व की जलवायु का वर्गीकरण– कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट
3.4.1 मौसम और जलवायु
3.4.2 विश्व जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक
3.4.3 कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट
3.4.4 थॉर्नथ्वेट का विश्व जलवायु वर्गीकरण
3.5 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 जलमण्डल **118—153**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 जलमण्डल उच्चतादर्शक वक्र
4.2.1 उच्चतादर्शक या उच्चतामितीय वक्र
4.3 प्रशान्त महासागर
4.3.1 प्रशान्त महासागर के तल का धरातल
4.3.2 अटलाण्टिक महासागर का नितल
4.4 अंध महासागर एवं हिन्द महासागर का उच्चावच
4.4.1 हिन्द महासागर की नितल
4.5 महासागरीय निक्षेप
4.5.1 महासागरी तल के निक्षेप

4.6 प्रवाल भित्तियों एवं उनकी उत्पत्ति से संबन्धित सिद्धांत
4.6.1 प्रवाल भित्तियाँ
4.6.2 प्रवाल भित्तियों के प्रकार
4.7 अपनी प्रगती जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्यसामग्री

इकाई 5 समुद्री तापमान **154—216**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 समुद्री तापमान, लवणता
5.2.1 समुद्री तापमान
5.2.2 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक
5.2.3 तापमान का क्षैतिज वितरण
5.2.4 तापमान का लम्बवत् वितरण
5.2.5 लवणता
5.2.6 सागर जल में खारापन मिलने के साधन या स्रोत
5.2.7 समुद्री जल के खारेपन की भिन्नता के कारण
5.2.8 समुद्री जल में खारीपन का वितरण
5.3 समुद्री जल का संचरणः लहरें धारायें एवं ज्वार भाटा
5.3.1 लहरें एवं धाराएँ
5.3.2 लहरें
5.3.3 धाराएँ
5.3.4 धाराओं के चलने के कारण
5.3.5 अन्ध (अटलाण्टिक) महासागर की धाराएँ
5.3.6 दक्षिणी अन्ध महासागर की धाराएँ
5.3.7 प्रशान्त महासागर की धाराएँ
5.3.8 दक्षिण प्रशान्त महासागर की धाराएँ
5.3.9 हिन्द महासागर की धाराएँ
5.3.10 दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएँ
5.3.11 धाराओं का प्रभाव एवं महत्व
5.3.12 ज्वार भाटा
5.3.13 ज्वार की उत्पत्ति
5.3.14 ज्वार—भाटा का समय
5.3.15 ज्वार—भाटा के प्रकार
5.3.16 ज्वार—भाटे का प्रभाव
5.4 ज्वार—भाटा संबन्धित सिद्धांत
5.4.1 ज्वार—भाटा उत्पत्ति के सिद्धान्त
5.4.2 ज्वारीय भित्ति
5.5 महासागर भावी संसाधन के स्रोत के रुप में
5.6 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल) मध्यप्रदेश के विभिन्न महाविद्यालयों में बी.ए. द्वितीय वर्ष प्रथम प्रश्नपत्र के लिए निर्धारित नए वार्षिक पद्धति के अनुसार पाठ्यक्रम पर आधारित है।

इस पुस्तक में विद्यार्थियों को नविनतम शोध कार्यो से प्राप्त जानकारियों को उपलब्ध कराया गया है। और इसकी भाषा भी अत्यंत सरल है। जो की, विद्यार्थियों को आसानी से समझ में आ सकती है, और विद्यार्थी सरलतापूर्वक उसका अध्ययन कर सकते हैं। पुस्तक पूर्णतः म. प्र. भोज विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुरुप है। प्रत्येक अध्याय इकाई से संबोधित लघु एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न भी दिए गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में वि. वि. के पाठ्यक्रमानुसार प्रत्येक शीर्षक पर स्तरीय एवं प्रमाणित पाठ्यसामग्री सम्मिलित की गई है, जिसे सरल, सुबोध, सुगम्य, रुचिपूर्ण एवं तर्कसंगत ढंग से विश्लेषित किया गया है। जिससे विद्यार्थियों को समझने में सहायता मिलेगी।

अंत में, यह पुस्तक छात्रों को आवश्यक स्रोतग्रन्थ का कार्य करेगी।

डॉ. ब्रम्हानंद त्रिपाठी

जबलपुर (मध्यप्रदेश)

टिप्पणी

इकाई 1 मौसम एवं जलवायु विज्ञान (Weather and Climatology)

संरचना (Structure)

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 मौसम एवं जलवायु विज्ञान की परिभाषा एवं महत्व
    1.2.1 जलवायु विज्ञान
    1.2.2 मौसम
1.3 मौसम एवं जलवायु के तत्व
    1.3.1 जलवायु
1.4 वायुमण्डल का संघटन
    1.4.1 वायुमण्डल– परिचय एवं महत्व
1.5 वायुमण्डल की परतें एवं उनकी विशेषतायें
    1.5.1 वायुमण्डल की परतें
    1.5.2 वायुमण्डल का महत्व
1.6 सौर्यातप एवं इसके वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
    1.6.1 सौर्यातप एवं वायु तापमान
    1.6.2 भूतल पर सौर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
    1.6.3 पृथ्वी का ताप बजट
    1.6.4 वायुमण्डलीय तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक
1.7 उष्मा संतुलन तापमान का क्षैतिज एवं उर्ध्वाधर वितरण
    1.7.1 ऊष्मा ताप सन्तुलन
    1.7.2 तापमान का वितरण
1.8 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय (Introduction)

इस इकाई में वायुमण्डल की जलवायु एवं मौसम सम्बन्धी दशाओं का विवरण दिया गया है। विद्यार्थी वायुमण्डलीय दशाओं के साथ सौर्यातप एवं उष्मा सन्तुलन का भी अध्ययन इसी इकाई से करेंगे।

1.1 उद्देश्य (Objectives)

भौतिक भूगोल के इस प्रश्न पत्र में वायुमण्डल एवं जलमण्डल को शामिल किया गया है। यह प्रश्नपत्र वायुमण्डल व उसकी प्रक्रियाओं को गतिशील प्रकृति और पृथ्वी पर जीवन के विकास पर पड़ने वाले वायुमण्डलीय प्रभावों के अध्ययन पर

विशेष बल देते हैं। इस प्रश्नपत्र की विषय वस्तु धरती पर जल व जनित परिवर्तनशीलता और उसके मानवीय गतिविधियों पर प्रभाव की भी पहचान कराती है। जलमण्डल के अन्तर्गत समुद्र विज्ञान अवयव भी उसी प्रकार समुद्र तटीय प्रक्रियाओं एवं उसके विशाल तथा विभिन्न संसाधनों का वर्णन करता है।

1.2 मौसम एवं जलवायु विज्ञान की परिभाषा एवं महत्व (Definition and Importance of Meteorology and Climatology)

1.2.1 जलवायु विज्ञान (Climatology)

जलवायु विज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान के समान ही वायुमण्डल का विश्लेषण करती है। अन्तरिक्ष विज्ञान वास्तव में वायुमण्डल प्रक्रमों का अध्ययन करती है जबकि जलवायु विज्ञान के अन्तर्गत हम उन वायुमण्डलीय प्रक्रमों से जनित परिणामों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करते हैं।

इसकी उत्पत्ति **क्लीमाटा** (Climata) शब्द से हुई है। किसी क्षेत्र में जलवायु की जो विशेष दशाएँ अनुभव की जाती हैं, उनके आधार पर उस भाग को एक जलवायु के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। जलवायु विज्ञान के अन्तर्गत अन्तरिक्ष विज्ञान में वर्णित वायुमण्डलीय प्रक्रमों से जनित दबाव, तापमान, वर्षा एवं अन्य तत्वों के व्याख्यात्मक स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है।

जलवायु विज्ञान के अन्तर्गत पृथ्वी की जलवायु की दशाओं का अध्ययन किया जाता है।

जलवायु विज्ञान का सम्बन्ध अन्तरिक्ष विज्ञान (Meterology) तथा भूगोल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए भूगोल वेत्ता जलवायु विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। भूगोल के अध्ययन में जलवायु को भौगोलिक सत्ता माना जाता है। भूगोल से सम्बन्धित जलवायु विज्ञान को दो भागों में बाँटा जाता है–

1. **भौतिक जलवायु विज्ञान (Physical Climatology)**– इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सर्वेक्षित तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है; जो जलवायु के मुख्य तत्व हैं, यथा – तापमान, आर्द्रता, वर्षा, दबाव, वायु, बादलों की उपस्थिति, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के सम्पूर्ण आँकड़े जिनका संकलन विश्व पैमाने पर किया जाता है।

   इसका मुख्य उद्देश्य जलवायु की उत्पत्ति, इसकी विभिन्नता के कारण, जीव–जन्तुओं तथा प्राकृतिक वनस्पति पर जलवायु के प्रभावों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाता है।

2. **व्याख्यात्मक जलवायु विज्ञान (Descriptive Climatology)**– इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के जलवायु क्षेत्रों का निर्धारण तथा उनका विस्तृत विवरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्यों के रहन–सहन, स्वास्थ्य, व्यवसाय, आर्थिक अवस्था तथा सामाजिक उन्नति पर

जलवायु के विभिन्न तत्वों द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का भी आलोचनात्मक अध्ययन किया जाता है। इसे स्थानीय जलवायु भी कहा जाता है क्योंकि इनमें अध्ययन विशेषकर स्थानीय या क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है।

जलवायु विज्ञान के अन्तर्गत जलवायु का ही विस्तृत अध्ययन किया जाता है, अतः इसे समझने लिए मौसम एवं जलवायु को अलग–अलग समझना होगा।

सामान्यतः मौसम तथा जलवायु समान अर्थों में प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु ये दोनों भिन्न तथा भिन्न–भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। अतः इनका अलग–अलग विवरण देना अधिक हितकर होगा।

1.2.2 मौसम (Weather)

मौसम शब्द का प्रयोग अति प्राचीन समय से होता चला आया है क्योंकि यह हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। मौसम की घटनाओं का प्रभाव मानव पर प्रारम्भ से ही पड़ता चला आया है। मौसम से तात्पर्य किसी स्थान और समय पर वायुमण्डल की विशेष अवस्थाओं के अध्ययन से है। **''किसी स्थान–विशेष पर समय–विशेष में वायुमण्डलीय दशाओं; यथा–तापमान, वायुदाब, हवाएँ वर्षा, आर्द्रता, ओला, पाला, तूफान आदि के क्षणिक योग को मौसम कहा जाता है।''** ये तत्व परिवर्तनशील होते हैं। इसमें वायुमण्डल के निचले मण्डल (क्षोभमण्डल) में घटित होने वाली घटनाओं का अध्ययन ही मौसम है।

परिभाषा (Definition)– मौसम को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित किया है जिनमें से कुछ का विवरण यहाँ दिया जा रहा है–

ट्रिवार्था के अनुसार, **''किसी स्थान की अल्पकालीन वायुमण्डलीय दशाओं (तापमान, वायुदाब, हवाओं, आर्द्रता, वर्षा) के योग को मौसम कहते हैं।**

डी. लोंग एवं कोपे के अनुसार, **''किसी एक स्थान एवं समय की वायुमण्डल की दशाओं को मौसम कहा जाता है।''**

क्रिचफील्ड के अनुसार, **''मौसम वायुमण्डल की दिन–प्रतिदिन की दशा को कहते हैं और इसका सम्बन्ध तापमान, आर्द्रता एवं वायु की गतियों में होने वाले अल्पकालिक परिवर्तनों से है। मौसम की उत्पत्ति मुख्यतः उन प्रक्रमों द्वारा होती है जो सौर विकिरण के वितरण में वर्तमान विषमता को दूर कर सन्तुलन स्थापन का प्रयास करती है।''**

हार्बिज एवं ऑस्टिन के अनुसार, **''किसी स्थान का मौसम वहाँ की किसी समय की सभी मौसमी दशाओं; यथा–तापमान, वायुदाब, वायु, आर्द्रता, वर्षण, आकाश, की दशा आदि के योग को कहते हैं।''**

इस प्रकार मौसम से तात्पर्य उस स्थान में वायुमण्डल की लाक्षणिक दशाओं के परितर्वन का सूचक है। इसका महत्व सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। अतः मानव जीवन का प्रत्येक पहलू इससे प्रभावित होता है। पहले लोग इसके प्रभावों का अनुभव तो करते थे। किन्तु इनके तत्वों का विश्लेषण करना नहीं जानते थे, किन्तु

अब वैज्ञानिक एवं भृतुवेत्ता इनके सभी तत्वों के बारे में विस्तार से जानकारी देते हैं। वर्तमान कृषि, वायुयान की उड़ानों, जलयानों का परिसंचालन, रॉकेट सम्बन्धी परीक्षण, अणु सम्बन्धी परीक्षण, चलचित्रों का निर्माण, बाढ़ भविष्यवाणी, मौसम की भविष्यवाणी आदि में मौसम की जानकारी अत्यावश्वक है। विश्व के सभी देश जलयानों, वायुयानों एवं कृषकों के लिए मौसम निरीक्षण वेधशालाएँ एवं वायरलैस द्वारा मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी करते रहते हैं। समुद्रतलों पर रहने वाले लोगों को भविष्यवाणी करते ही समुद्री तूफानों से सुरक्षित जगह पर कर लिया जाता है जिससे मछुआरों का जीवन बचा लिया जाता है। मौसम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने एवं उसे प्रसारित करने के लिए एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना की गयी है जो मौसम विभाग (Meteorological Department) कहलाता है।

विश्व मौसम विज्ञान संघ (W. M. O.) की स्थापना 23 मार्च, 1950 को हुई। इसका उद्देश्य मौसम विज्ञान सम्बन्धी कार्यो एवं निरीक्षण को बढ़ावा देना है। यह संघ संसार के विभिन्न देशों को मौसम विज्ञान सम्बन्धी सभी आवश्यक सूचनाएँ देता है। इसका प्रधान कार्यालय (**जेनेवा**) में है।

भारत में मौसम विज्ञान विभाग की स्थापना एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल (Asiatic Society of Bengal) की अनुशंसा के आधार पर 1864 में हुई। सर्वप्रथम इसकी स्थापना शिमला में हुई थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद शासकीय मौसम विज्ञान विभाग का विस्तार हुआ तथा इसका प्रधान कार्यालय शिमला से हटाकर पुणे (महाराष्ट्र) कर दिया गया। अब इसका प्रधान कार्यालय एवं अनुसंधानशाला नई दिल्ली में है जो मौसम विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान एवं पूर्वानुमान में विशिष्टीकरण रखता है। भारतीय मौसम वेधशाला पुणे (महाराष्ट्र) में है जो मौसम सम्बन्धी आँकड़ों का संकलन करती है तथा मौसम मानचित्रों का प्रकाशन करती है।

भारतीय मौसम विज्ञान विभाग का सर्वोच्च अधिकारी महानिदेशक होता है जिनके अधीन चार उप–महानिदेशक हैं। भारतीय मौसम विज्ञान विभाग को पाँच क्षेत्रों में विभाजित किया गया है जिसके प्रधान कार्यालय दिल्ली, नागपुर, मुम्बई, चेन्नई तथा कोलकाता में हैं। इन कार्यालयों में एक–एक निदेशक होता है। इनके अधीन विभिन्न वेधशालाएँ हैं जो मौसम सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्रित करती हैं तथा प्रसारण हेतु मुख्य कार्यालयों को भेज देती हैं। इन आँकड़ों के आधार पर रिपोर्ट तैयार की जाती है।

भारतीय मौसम वेधशालाएँ निम्नलिखित पाँच प्रकार की होती हैं–

1. प्रथम श्रेणी की वेधशालाएँ,
2. द्वितीय श्रेणी की वेधशालाएँ,
3. तृतीय श्रेणी की वेधशालाएँ,
4. चतुर्थ श्रेणी की वेधशालाएँ,
5. पंचम श्रेणी की वेधशालाएँ।

टिप्पणी

प्रथम श्रेणी की वेधशालाओं में स्वतः लेखी (Self Recording) यंत्र लगे रहते हैं। इनमें प्रतिदिन दो बार मौसम सम्बन्धी सूचनाएँ केन्द्रीय वेधशाला को भेज दी जाती है।

द्वितीय श्रेणी की वेधशालाओं में नेत्र अभिलेखी (Eye Recording) यंत्र लगे रहते हैं जिनमें दिन में दो बार मौसम सम्बन्धी जानकारी केन्द्रीय वेधशालाओं को भेज दी जाती है।

तृतीय श्रेणी की वेधशालाओं में नेत्र अभिलेखी यंत्रों का प्रयोग किया जाता है किन्तु इनसे दिन में एक बार ही मौसम सम्बन्धी सूचनाएँ केन्द्रीय वेधशाला को भेजी जाती हैं।

चतुर्थ श्रेणी की वेधशालाओं में केवल तापमान एवं वर्षा के आँकड़े केन्द्रीय वेधशाला को भेजे जाते हैं किन्तु उन्हें प्रतिदिन नहीं भेजा जाता है।

पंचम श्रेणी की वेधशालाओं से प्रतिदिन 8.30 बजे पिछले 24 घण्टों में हुई वर्षा के आँकड़े केन्द्रीय वेधशाला को भेजे जाते हैं।

1.3 मौसम एवं जलवायु के तत्व (Elements of Weather and Climate)

किसी निश्चित स्थान पर किसी निश्चित समय में वायुमण्डलीय दशाओं का ठीक–ठीक वर्णन करने के लिए अथवा मौसम में होने वाले परिवर्तनों को सही ढंग से समझने के लिए यह आवश्यक होता है कि वायुमण्डल की दशाओं तथा उसके भौतिक गुणों का प्रेक्षण और उसका मापन किया जाए। जिन तत्वों के सम्मिश्रण से मौसम की उत्पत्ति होती है उनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं–

1. सौर विकिरण
2. वायु का तापमान
3. वायुदाब
4. पवन
5. आर्द्रता एवं वर्षण
6. मेघों की मात्रा

1.3.1 जलवायु (Climate)

मौसम के विपरीत जलवायु किसी बड़े भू–भाग पर मौसमी दशाओं का दीर्घकालिक योग होता है अर्थात् किसी स्थान की जलवायु ज्ञात करने के लिए उस क्षेत्र में लम्बे समय तक मौसम की दशाएँ ज्ञात करनी पड़ेगी। यहाँ जलवायु की कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं–

ट्रिवार्था के अनुसार, **''जलवायु प्रतिदिन की ऋतु अवस्थाओं के विभिन्न रुपों का सम्मिश्रण या सामान्यीकरण है।''**

टिप्पणी

मोंकहाउस के अनुसार, **''किसी स्थान की वायुमण्डल की दीर्घकालीन अवस्थाएँ जलवायु के अन्तर्गत आँकी जाती हैं।''**

डी. लोंग एवं कोपे के अनुसार, **''जलवायु लम्बे समय की मौसमी दशाओं का सारांश अथवा संलिष्ट योग है अथवा जलवायु मौसम का सम्पूर्ण योग है।''**

क्रिचफील्ड के अनुसार, **''एक लम्बी कालावधि तक पृथ्वी एवं वायुमण्डल में ऊर्जा एवं पदार्थ के विनिमय की प्रकियाओं का प्रतिफल जलवायु है। अतः जलवायु केवल सांख्यिकीय औसत से बढ़कर है अपितु इसके अन्तर्गत ऊष्मा आर्द्रता तथा पवन संचलन जैसी वायुमण्डलीय दशाओं का योग सम्मिलित है।''**

ब्लेयर के अनुसार, **''जलवायु मौसम के बहुरुपीय प्रभावों के परिणाम अथवा सारांश को कहते हैं।''**

जलवायु के तत्व (Elements of Climate)– जलवायु के तत्व वे हैं जिनके द्वारा जलवायु की उत्पत्ति होती है। प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं–

1. तापमान (Temperature)– वायुमण्डल में संवेद्य ऊष्मा (Sensible Heat) एवं ठण्ड की मात्रा तापमान कहलाती है। धरातल पर तापमान सर्वत्र समान नहीं पाया जाता है। विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर तापमान में कमी आती है। इसी प्रकार समुद्रतल से ऊँचाई पर जाने पर तापमान में कमी आती है। यह कमी क्षोममण्डल में प्रति 165 मीटर पर 1^{o} सेण्टीग्रेड होती है। इस तापमान भिन्नता का स्पष्ट प्रभाव जलवायु पर होता है। तापमान ज्ञात करने के लिए तापमापियों का प्रयोग किया जाता है। एक दिन के अधिकतम एवं रात्रि के न्यूनतम तापमान के औसत को **दैनिक औसत तापमान** (Daily Mean Temperature) कहा जाता है। दिन और रात के अधिकतम एवं न्यूनतम तापमान के अन्तर को **दैनिक तापान्तर** (Daily Range of Temperature) कहा जाता है तथा पूरे वर्ष के सभी महीनों के तापमानों को **दैनिक तापान्तर** (Daily Range of Temperature) कहा जाता है। वर्ष में सबसे ठण्डे व सबसे गर्म माह के तापमान का अन्तर वार्षिक तापान्तर कहलाता है।

2. वायुदाब (Air Pressure)– दो या दो से अधिक गैसों का सम्मिश्रण हवा (वायु) है। इसकी क्षैतिजीय गति (Horizontal Motion) हवा कहलाती है। किसी तल के इकाई क्षेत्रफल पर कार्य करने वाले लम्बवत् बल को तल का भार या दाब (Pressure) कहा जाता है। इस प्रकार किसी तल के इकाई क्षेत्रफल पर ऊर्ध्वाधर वायुस्तम्भ के कारण सतही कार्य करने वाला लम्बवत बल वायुदाब कहलाता है। वायुदाब कभी स्थिर नहीं रहता है। यह सदैव परिवर्तित होता रहता है। इसका वितरण भी असमान पाया जाता है क्योंकि इसे– (1) तापमान, (2) समुद्रतल से ऊँचाई, (3) जलवाष्प, (4) पृथ्वी की घूर्णन गति आदि बहुत प्रभावित करते हैं।

भूपृष्ठ से ऊपर जाने पर वायुदाब कम होता जाता है क्योंकि वायुमण्डल के निचले भागों में भारी गैसें होती हैं। ऊपर जाने पर गैसें हल्की होती जाती हैं।

टिप्पणी

ऊँचाई बढ़ने पर वायुदाब कम हो जाता है। सामान्यतः प्रति 300 मीटर की ऊँचाई पर वायुदाब 34 मिलीबार कम हो जाता है किन्तु अधिक ऊँचाई पर जाने पर यह तेजी से नीचे गिरता है। सागर तल पर वायुदाब 29.92 इंच अथवा 1013.2 मिलीबार पाया जाता है जो सर्वाधिक होता है।

विषुवत् रेखा के समीपवर्ती क्षेत्रों में तापमान की अधिकता के कारण वायुदाब कम पाया जाता है। विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर वायुदाब बढ़ता जाता है क्योंकि तापमान में कमी पायी जाती है। यह वितरण दोनों गोलार्द्धों में समान नहीं पाया जाता है क्योंकि स्थल एवं जल का वितरण समान नहीं है। वायुदाब में भिन्नता के कारण ही पवन संचरण होता है।

3. आर्द्रता (Humidity)– जलवायु को प्रभावित करने वाला कारक आर्द्रता भी है। वायुमण्डल में विद्यमान जल में परिवर्तित रुप **वाष्प** को आर्द्रता कहा जाता है। धरातल से वाष्पित होकर यह वाष्प विभिन्न गैसों से मिल जाती है। जल को वाष्पित करने में तापमान बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। मौसम के अनुसार किसी स्थान की वायु में आर्द्रता धारण करने की क्षमता घटती–बढ़ती रहती है। विषुवत् रेखीय भागों में सूर्यताप अधिक रहने से वाष्पीकरण भी अधिक होता है। इसके विपरीत ध्रुवों की ओर ठण्डक पड़ने से नमी की मात्रा कम पायी जाती है।

वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प विभिन्न स्थितियों में कुहरा, ओस, पाला, ओला आदि में परिवर्तित होकर मौसम एवं जलवायु को प्रभावित करते हैं।

जलवाष्प को जलरुप में बदलना संघनन कहलाता है। संघनन के रुप ओस, कुहरा, कुहासा, पाला, हिम, ओला तथा मेघ आदि हैं।

4. वर्षा (Rainfall)– जल वाष्प द्रवीभूत होकर धरातल पर बूँदों के रुप में गिरता है तो उसे वर्षा कहा जाता है। वाष्प के द्रवीभूत होकर धरातल पर बूँदों के रुप में गिरने से पहले अत्य आवश्यक परिवर्तन होते हैं। जैसे– हवा का ठण्डा होकर ओस बिन्दु तक पहुँचना, बादल बनना तथा जल सीकरों का बूँदों में परिवर्तित होना आदि।

जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting the Climate)– जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक निम्नांकित हैं–

(i) अक्षांश (Latitude)– धरातल पर ताप का वितरण अक्षांश के अनुसार होता है। पृथ्वी पर प्राप्त सूर्य ताप की मात्रा सूर्य की किरणों के कोण पर निर्भर करती है। सूर्य ताप की मात्रा किरणों के अनुसार बदलती रहती है। विषुवत रेखा पर सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं, अतः इन क्षेत्रों में तापमान अधिक रहते हैं तथा ध्रुवों की ओर किरणें तिरछी होती हैं, अतः किरणों को धरातल तक पहुँचने के लिए वायुमण्डल के अधिक भाग को पार करना पड़ता है। अतः ध्रुवों की ओर के भागों में सूर्यताप की कम प्राप्ति के कारण तापमान कम रहते हैं।

(ii) समुद्रतल से ऊँचाई (Altitude)– किसी स्थान की समुद्रतल से ऊँचाई जलवायु को प्रभावित करती है, धरातल से अधिक ऊँचे भाग तापमान और वर्षा को प्रभावित करते हैं। समुद्रतल से ऊँचाई के साथ–साथ

टिप्पणी

तापमान घटता जाता है, क्योंकि जैसे–जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है, वायु हल्की होती जाती है। ऊपर की वायु के दाब के कारण नीचे की वायु ऊपर की वायु से अधिक घनी होती है तथा धरातल के निकट की वायु का ताप ऊपर की वायु के ताप से अधिक रहता है। अतः जो स्थान समुद्रतल से जितना ऊँचा होगा वह उतना ही ठण्डा होगा। इसी कारण अधिक ऊँचाई के पर्वतीय भागों में सदैव हिम जमी रहती है।

(iii) पर्वतों की दिशा (Direction of Mountains)– पर्वतों की दिशा का हवाओं पर प्रभाव पड़ता है, हवाएँ तापमान को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार पर्वतों की दिशा तापमान को प्रभावित कर जलवायु को प्रभावित करती है। हिमालय पर्वत शीत–ऋतु में मध्य एशिया की ओर से आने वाली शीत हवाओं को भारत में प्रवेश करने से रोकता है, अतः भारत के तापमान शीत–ऋतु में अधिक नहीं गिर पाते हैं।

(iv) समुद्र से दूरी (Distance from the Sea)– समुद्रों की निकटता और दूरी जलवायु को प्रभावित करती है। जो स्थान समुद्रों के निकट होते हैं उनकी जलवायु सम रहती है तथा जो स्थान दूर होते हैं, वहाँ तापमान विषम पाये जाते हैं। सागरीय धाराएँ भी निकटवर्ती स्थानीय भागों को प्रभावित करती हैं। ठण्डी धाराओं के निकट के क्षेत्र अधिक ठण्डे और गर्म जलधारा के निकटवर्ती तट उष्ण रहते हैं। अतः समुद्रों का प्रभाव जलवायु को प्रभावित करता है।

(v) पवनों की दिशा (Direction of winds)– पवनों की दिशा जलवायु को प्रभावित करती है। ठण्डे स्थानों की ओर से आने वाली हवाएँ उष्ण होती हैं और तापमान को बढ़ा देती है। इस प्रकार हवाएँ जलवायु को प्रभावित करती हैं।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

1. वायुमण्डल की अल्पकालीन दशाओं को कहा जाता है–

   (अ) मौसम (ब) जलवायु

   (स) वातावरण (द) उपयुक्त सभी

2. ''किसी स्थान एवं समय की वायुमण्डलीय दशाओं को मौसम कहा जाता है।'' यह विचार किसका है?

   (अ) ट्रिवार्था (ब) डी लोंग व कोप

   (स) क्रिचफील्ड (द) ऑस्टिन

3. सापेक्षिक आर्द्रता किससे निकाली जाती है?

   (अ) साधारण थर्मामीटर

   (ब) उच्चतम एवं निम्नतम तापमापी

टिप्पणी

(स) शुष्क एवं आर्द्र तापमापी

(द) वायुदाब मापी

4. सागर तल पर वायुदाब पाया जाता है–

(अ) 460 मिलीबार	(ब) 540 मिलीबार
(स) 960 मिलीबार	(द) 1013.2 मिलीबार

5. विषय मौसम विज्ञान संघ का मुख्यालय है–

(अ) जेनेवा	(ब) बर्न
(स) वारसा	(द) बर्लिन

6. पृथ्वी के धरातल का तापमान प्रभावित होता है–

(अ) अक्षांश	(ब) सागर से दूरी
(स) ऊँचाई	(द) उपयुक्त सभी

1.4 वायुमण्डल का संघटन (Atmosphere: Its Composition and Layers)

1.4.1 वायुमण्डल– परिचय एवं महत्व (Atmosphere: Introduction and Importance)

वायुमण्डल शब्द वायु + मण्डल से मिलकर बना है। पृथ्वी के चारों ओर बहुत ऊँचाई तक हवा या गैसों का समूह फैला हुआ है। इसी कारण यह भी कहा जाता है की **''पृथ्वी वायुमण्डल रूपी लिफाफे में बन्द है।''** वायुमण्डल की गैसें रंगहीन, गन्धहीन, स्वादरहित, किन्तु वाष्पयुक्त हैं। इसी कारण मानव एवं जैव–जगत को बिना किसी कठिनाई के प्राण वायु एवं सौर ऊर्जा या किरणें इनके माध्यम से प्राप्त होती रहती हैं।

वायुमण्डल एवं मौसम के प्रभाव व महत्व विषयक ज्ञान कृषि व सभ्यता के विकास के साथ–साथ बढ़ता गया। वायु के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ग्रीस निवासी **अनेक्सीमेण्डर** ने ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व जानकारी दी थी। उन्होंने बताया था कि वायु चलती है। वायुमण्डल की बदलती दशाओं अर्थात् मौसम एवं उनके प्रभाव तथा पृथ्वी की भिन्न–भिन्न प्रकार की जलवायु दशाओं, आदि का प्रारम्भिक किन्तु व्यवस्थित वर्णन अरस्तू, थियोफ्रेस्टस, इरेटॉस्थनीज, हिप्पारकस एवं टॉलेमी ने यूनान काल में प्रस्तुत किया था। यूनानी विद्वानों ने पृथ्वी को अक्षांशों के आधार पर जलवायु कटिबन्धों में भी बाँटा था। वर्तमान के प्रारम्भ से पूर्व उत्तर–मध्य युग में (**टोरिसेली**) (गेलिलिओ का शिष्य) नामक विद्वान ने वायुदाब की बात सिद्ध की थी। सत्रहवीं सदी में (**हेली**) ने पवनों के लक्षण बताए थे एवं उनका वायुदाब से

सम्बन्ध स्थापित किया था। उन्नीसवीं सदी में उनके विद्वानों ने यूरोप के देशों व आंग्ल–अमेरिका में वायुमण्डल के सम्बन्ध में वैज्ञानिक खोज की थी। इसी समय (**फैरल**) एवं (**बाजय बैलेट**) के नियम एवं आधुनिक मौसम सम्बन्धी घटनाओं के वैज्ञानिक पहलुओं की खोज भी की जाती रही। द्वितीय विश्व–युद्ध के पूर्व तक पश्चिमी यूरोप के विद्वानों ने मौसम विज्ञान व जलवायु विज्ञान को एक वैज्ञानिक शाखा के रूप में विकसित कर लिया। सन् 1970 के पश्चात् उपग्रहीय व्यवस्था के कारण आज वायुमण्डल का ज्ञान प्रेक्षण एवं निरीक्षण द्वारा प्रायः पूर्णतः ज्ञात किया जा चुका है। अब तो अमेरिका, रूसी एवं विश्व के अन्य देशों के विद्वानों द्वारा स्थापित मौसम जाँच के उपग्रहों से प्राप्त ज्ञान के द्वारा वायुमण्डल की सबसे सजीव व निचली परत के अध्ययन को विशेष व्यावहारिक एवं तथ्यपरक बना दिया गया है। इसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहने के बाद भी वायुमण्डल की इस निचली परत (विक्षोभमण्डल) के सम्बन्ध में आज सही भविष्यवाणी एवं मौसम का पूर्वानुमान सम्भव हो सका है। ऐसी खोज से ही वायुमण्डल की कुल ऊँचाई, उसकी परतें, संघटन, उनका प्रभाव एवं व्यवहार, ओजोन एवं आयन परतों की महत्ता व प्रभाव एवं अन्य बातों का ज्ञान आज प्रायः पूर्णतः विश्वसनीय बनता जा रहा है।

वायुमण्डल के परिवर्तनशील प्रभाव का महत्व धरातल के निकट, मध्यवर्ती वायु की परतों एवं ऊपरी वायुमण्डल की परतों–सभी क्षेत्रों के लिए निरन्तर माना जाता है। जहाँ निचली परतों का प्रभाव, मौसम विज्ञान की परिवर्तनशील दशाओं, कृषि, उद्योग, मानव कार्य–क्षमता, आबादी का विस्तार, आदि पर पड़ता है, वहीं यह भाग मानव द्वारा निरन्तर बढ़ाये जा रहे विविध प्रकार के प्रदूषण का सबसे पहला शिकार भी है। शान्ति एवं युद्ध दोनों ही कालों के क्रियाकलापों एवं व्यवहार का इस पर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है। वायुमण्डल की मध्यवर्ती परतें सूक्ष्म तरंग प्रसारण, रेडियो एवं चुम्बकीय–दशाओं व तरंगों, आदि को प्रभावित करती रही हैं एवं **(ओजोन मण्डल)** की ओजोन गैसें तो मानव जीवन एवं जैव–जगत की सुरक्षा का ढाल ही हैं।

वायुमण्डल की उत्पत्ति एवं वर्तमान स्वरूप (Origin of Atmosphere and Present Form)

पृथ्वी की उत्पत्ति एवं महासागरों का खारापन जिस प्रकार वर्तमान में भी उलझे हुए प्रश्न हैं, उसी प्रकार वायुमण्डल की उत्पत्ति का सही–सही उत्तर भी अब तक नहीं ढूँढा जा सका है। इतना निश्चित है कि वायुमण्डल का जो वर्तमान स्वरूप है, वैसा पृथ्वी की उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल अथवा वर्तमान से कुछ करोड़ वर्षो पूर्व नहीं था। पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही पृथ्वी के चारों ओर गैसों का आवरण भी बनता गया। प्रारम्भ में इसमें बहुत ऊँचे तापमान पर हाइड्रोजन, ऑर्गन, हीलियम जैसी गैसें अधिक थीं। धीरे–धीरे विघटन क्रिया, तापमान घटने, वाष्प के संघनन होने की क्रिया, कॉस्मिक व अन्य कारणों एवं सूर्य की किरणों के विशिष्ट प्रभाव से गैसों का स्वरूप बदलता गया।

वायुमण्डल के स्वरूप में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन या संरचना में संशोधन तब हुआ होगा, जबकि भूतल पर घास व अन्य प्रकार की वनस्पति का विकास होता गया एवं बाद में प्राणी या जन्तु–जगत का भूतल पर विकास होने के

साथ–साथ बीच–बीच में ज्वालामुखी घटनाएँ भी बड़े पैमाने पर घटित होती गई। ऐसे परिवर्तनों से ही ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ–ऑक्साइड एवं अन्य कई गैसें बनी होंगी। चट्टानों व जीवों के अपघटन व विघटन से भी वायुमण्डल की निचली परतें उसी प्रकार से प्रभावित होती रहीं, जिस प्रकार कि आज प्रदूषकों के कारण से हो रही हैं। इस प्रकार वायुमण्डल का वर्तमान स्वरूप सरल से लेकर जटिल प्रक्रियाओं वाला एवं जैव–रसायनों के विकास के पश्चात् अनेक प्रकार के विषम किन्तु गतिशील कारकों एवं प्राकृतिक घटनाओं का विविध–स्तरीय एवं अनोखा सामंजस्य स्वरूप बन गया है। वायुमण्डल स्वयं प्राणवान नहीं है, किन्तु प्राणों को संचालित एवं पोषित करता रहा है, जलचक्र का वास्तविक विकास वायुमण्डल के माध्यम से ही पूरा होता है। वास्तव में, सम्पूर्ण चर एवं अचर जगत की गतियाँ एवं जैव स्वरूप सूर्य ऊर्जा के साथ–साथ जल एवं वायु पर निर्भर हैं।

वायुमण्डल की ऊँचाई (Height of Atmosphere)

वायुमण्डल की ऊँचाई के विषय में वैज्ञानिक शोध एवं ज्ञान की वृद्धि के साथ–साथ निरन्तर संशोधन होता रहा है। यद्यपि वायु को हजारों वर्ष पूर्व ही पाँच प्रधान तत्वों (पंचभूत) में से एक तत्व बताया गया है किन्तु इसकी ऊँचाई एवं संघटन का सही–सही ज्ञान बीसवीं सदी की ही देन है। सन् 1945–50 तक इसकी ऊँचाई 200 मील (320 किलोमीटर) बताई गई। **ट्रिवार्था** ने अपनी पुस्तक में पहली बार सन् 1960 एवं सन् 1972 के संस्करणों में वायुमण्डल की ऊपरी सीमा के बारे में महत्वपूर्ण बातें बतायीं। उनके अनुसार वायु ऊँचाई के साथ–साथ विरल होती जाती है एवं उसका वितरण भी निचली परतों की भाँति संगठित नहीं रहता। 600 किलोमीटर के पश्चात वायु बादलों की भाँति छोटे बड़े गुच्छों में बँटने लगती है। इससे भी ऊपर वायुमण्डल के गुच्छे तो कुछ हजार किलोमीटर तक भी देखे जा सकते हैं। सन् 1960 तक सुमेरू एवं कुमेरू ज्योति, उल्कापात, संध्या एवं उषा काल की ललाई, उल्कापात जैसी घटनाओं के आधार पर वायुमण्डल की ऊपरी सीमा 1,000 किलोमीटर बताई गई। अब तो अनेक प्रकार के मानव निर्मित भू–उपग्रहों, अन्तःग्रहीय राकेट एवं अन्य विकसित तन्त्रों से इसकी ऊँचाई का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है। इस आधार पर विशेष विरल एवं स्वतन्त्र–प्रायः आयन युक्त वायु के गुच्छे हजारों किलोमीटर की ऊँचाई (अयन व बर्हिमण्डल की ऊपरी सीमा) तक पाये जा सकते हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 1,600 किलोमीटर के पश्चात् वायु इतनी अधिक हल्की व आयनीकृत (Ionised) हो जाती है कि वह भूतल पर प्रभाव की दृष्टि से नगण्य मानी जा सकती है। इसके पश्चात् विरल वायु कभी भी गुच्छों के रूप में स्वतन्त्र तैरती हुई भी मिल सकती है। सामान्यतः वायुमण्डल की ऊँचाई 16 से 2,900 किलोमीटर तक है किन्तु धरातल से 800 किलोमीटर की ऊँचाई वाला वायुमण्डल ही अधिक महत्वपूर्ण है।

वायुमण्डल का संघटन या बनावट (Structure of Atmosphere)

वायुमण्डल की बनावट या संघटन सामान्यतः ऊँचाई के अनुसार परितर्वनशील रहा है। भारी गैसें वायुमण्डल के निचले भागों में एवं अधिक हल्की एवं विशेष प्रकार की आवेशित या चार्ज (Charged) गैसें वायुमण्डल में विविध ऊँचाई पर पायी जाती

टिप्पणी

हैं। ऐसी सभी गैसें एवं अन्य तत्व जो कि वायुमण्डल में पाये जाते हैं, वायुमण्डल की संघटन या संरचना (बनावट) का अंग हैं। वायुमण्डल में मुख्यतः अनेक प्रकार की गैसें, जल वाष्प एवं धूल के कण पाये जाते हैं। भूतल के 5 किलोमीटर तक के वायुमण्डल में सम्पूर्ण वायु का 90% भाग रहता है। यदि वायुमण्डल की समस्त वायु का संघनन कर दिया जाये तो सम्पूर्ण पृथ्वी के चारों ओर 1 इंच मोटी परत बन जायेंगी। अब तो अनेक प्रकार के जहरीले व घातक प्रदूषक मिलकर जीवन की पोषक वायु को भी घातक वायु में बदलते जा रहे है। इस पर तत्काल कठोर नियन्त्रण व विश्वव्यापी स्तर पर नियमन अनिवार्य है।

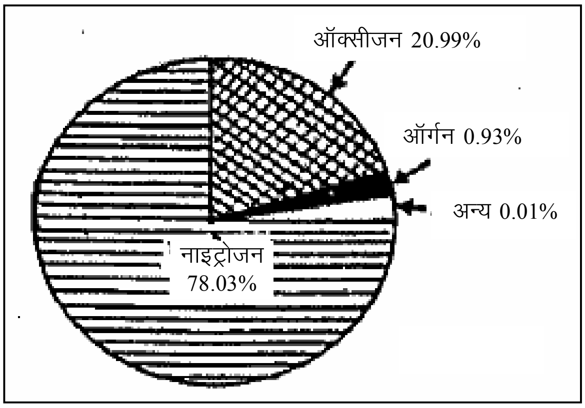

चित्र क्र. 1.1: वायुमण्डल में गेसों की मात्रा प्रतिशत में

वायुमण्डल में पाई जाने वाली **मुख्य गैसें** नाइट्रोजन एवं ऑक्सीजन हैं। दोनों ही गैसें प्राण पोषक हैं। ऑक्सीजन शरीर के रक्त को शुद्ध व संचालित रखती है, जबकि नाइट्रोजन, प्रोटीन व विटामिन निर्माण का आधार है। ये दोनो गैसें मिलकर वायुमण्डल का 99 प्रतिशत से कुछ अधिक भाग पूरा करती हैं। वायुमण्डल की विभिन्न गैसों के नाम एवं उनका प्रतिशत निम्नांकित सारणी से स्पष्ट है।

सारणी क्र. 1.1

गैस	मात्रा (प्रतिशत) में
भारी गैसें	
1. नाइट्रोजन N_2	78.03
2. ऑक्सीजन O_2	20.99
3. ऑर्गन (A)	0.93
4. कार्बन डाइ–ऑक्साइड CO_2	0.032
हल्की गैसें	
5. हाइड्रोजन H_2	0.01
6. नियोन (Ne)	0.0018
7. हीलियम (He)	0.0005

8. क्रिप्टोन (Kr)	0.0001
9. जिनोन (Xe)	0.000009
10. ओजोन (O_3)	0.000001

टिप्पणी

उपयुक्त सारणी की प्रथम चार गैसें भारी होती है, शेष अपेक्षाकृत हल्की होती हैं। उपयुक्त गैसों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की अम्लीय व घातक गैसें, गन्धक का अम्ल व कार्बन डाइ–ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, अमोनिया एवं अन्य अनेक प्रदूषक भी वायुमण्डल में पाये जाते है। कार्बन डाइ–ऑक्साइड 20 किलोमीटर की ऊँचाई तक, ऑक्सीजन व नाइट्रोजन 80 से 100 किलोमीटर की ऊँचाई तक एवं हाइड्रोजन 125 किलोमीटर की ऊँचाई तक पाई जाती है। अन्य हल्की गैसें इससे भी अधिक ऊँचाई तक पाई जाती है। ओजोन गैसें ऑक्सीजन एवं सौर ऊर्जा की पराबैंगनी की प्रतिक्रिया से 30 से 80 किलोमीटर के मध्य मिलने वाली विशेष ($O_2 + O \rightarrow O_3$) हैं।

अन्य पदार्थ

(i) जलवाष्प (Water Vapour)– वायुमण्डल की निचली परतों में जलवाष्प की कम–अधिक मात्रा अवश्य पाई जाती है। यही नहीं, आकाश में जितने प्रकार के संघनन के रुप विकसित होते रहे हैं, वे सभी वायु में वाष्प की उपस्थिति का ही परिणाम हैं। वायु में जलवाष्प सागर तल या जल तल से निरन्तर होने वाले वाष्पीकरण से प्राप्त होती है। वाष्पीकरण की मात्रा मुख्यतः तापमान (Temperature) एवं आर्द्र सतह दोनों की अनुकूलता पर निर्भर करती है। यदि वायु में उपस्थित सम्पूर्ण जलवाष्प संघनित होकर पुनः पृथ्वी को एक साथ प्राप्त हो जाय तो सम्पूर्ण ग्लोब पर 2.5 मीटर मोटी पानी की परत बिछ जायेगी। सामान्यतः वायु में उसके कुल आयतन का 5 प्रतिशत तक ही जलवाष्प पाई जा सकती है किन्तु यह मात्रा तापमान के कम अधिक होने एवं भूतल से वाष्पीकरण घटने–बढ़ने पर निर्भर करती है। अधिकांश जलवाष्प वायुमण्डल की निचली परतों एवं निम्न अक्षांशों के सागर तल के निकट पाई जाती है। विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर तापमान घटने के साथ–साथ जलवाष्प की कुल मात्रा भी कम होती जाती है। विक्षोभ या परिवर्तन मण्डल में होने वाली सभी प्रकार की गतिशील क्रियाएँ मेघ, बिजली, मेघ गर्जना, वर्षा, तुषार या हिमपात, ओस, पाला, कोहरा, आदि सभी जलवाष्प की उपस्थिति से ही सम्भव है। प्रायः 7 किलोमीटर की ऊँचाई के पश्चात् जलवाष्प की मात्रा तेजी से घटने लगती है। 10 किलोमीटर की ऊँचाई के पश्चात् वायु में जलवाष्प अपवादस्वरुप ही मिल सकती है। जलवाष्प आती हुई सौर ऊर्जा का मात्र 4 प्रतिशत भाग ही सोख सकती है। इस प्रकार जलवाष्प निचले वायुमण्डल का मुख्य घटक है।

(ii) धूल के कण (Dust Particles)– विभिन्न माध्यमों से सामान्यतः भूतल से धूल के विभिन्न आकार–प्रकार के कण वायुमण्डल की निचली परतों में प्राप्त होते रहते है। ऐसे कणों की मात्रा क्षेत्रवार एवं जल, स्थल मण्डल एवं वायुप्रवाह की दिशा के अनुसार कम–अधिक होती रहती है। महीन धूल के कण वायु में झूलती हुई अवस्था में पाये जाते है। धूल के कण सौर ऊर्जा के प्रकाश को

टिप्पणी

बिखेरते हैं। इसी से प्रातः एवं सायंकाल की लालिमा दिखाई देती है एवं दिन में आकाश नीला दिखाई देता है। धूल के कण जलवाष्प की संघनन क्रिया में विशेष सहायक रहते हैं। अधिक ऊँचाई पर इनकी मात्रा तेजी से घटने लगती है। भूमि पर सर्दियों में प्रातःकाल बिछी ओस के जमने का मुख्य कारण भी धूल के कण ही हैं। वायुमण्डल की निचली परतों में मिट्टी के कणों के साथ–साथ समुद्री लवण के कण, वनस्पति, जैव सामग्री के कण, ज्वालामुखी राख के कण एवं उड़ती राख एवं विशेष प्रदूषण प्राप्त कण भी पाये जाते हैं।

1.5 वायुमण्डल की परतें एवं उनकी विशेषतायें (Layers of the Atmosphere and their Characteristics)

1.5.1 वायुमण्डल की परतें (Layers of the Atmosphere)

वायुमण्डल में ऊँचाई के अनुसार उसकी बनावट बदलती जाती है। इसी प्रकार सौर ऊर्जा का अधिकांश भाग पहले पृथ्वी तल को गर्म करता है, अतः वायु की निचली परतों का तापमान वितरण इससे भी प्रभावित होता है। इसी प्रकार विभिन्न ऊँचाई पर वायु की परतें सौर ताप की विशेष गैसों को सोख लेती है। इसका प्रभाव भी वायु की संरचना पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त, निचली परतों एवं उससे ऊँचाई की परतों में पाई जाने वाली गैसों का स्वरुप भी बदलता जाता है। अतः वायुमण्डल की परतों का वर्गीकरण दो प्रकार से हैं–

1. रासायनिक बनावट के आधार पर,
2. गैसों की उपलब्धि एवं विशेष घटनाओं के प्रभाव के आधार पर।

1. रासायनिक बनावट के आधार पर परतों का विभाजन (Classification of Layers on the Basis of Chemical Structure)– इस आधार पर वायुमण्डल को दो मुख्य भागों में बाँटा जाता है–

(A) सममण्डल (Homosphere), एवं

(B) विषममण्डल (Heterosphere)

(A) सममण्डल की ऊँचाई 90 किलोमीटर तक है। इसमें गैसों की भौतिक व रासायनिक बनावट प्रायः समरुप रहती है। यहाँ की मुख्य गैसें नाइट्रोजन, ऑक्सीजन एवं कार्बन डाइ–ऑक्साइड हैं। ये मिलकर 99 प्रतिशत से अधिक भाग बनाती है। शेष 0.9 प्रतिशत में नियोन, हीलियम एवं जिनोन, आदि गैसे आती हैं। जलवाष्प, धूल व अन्य विविध कण यहीं पाये जाते हैं। इसमें निचली परतें परिवर्तन या विक्षोभमण्डल, समतापमण्डल एवं मध्यममण्डल (Mesosphere) आते हैं।

(B) विषममण्डल की बनावट जटिल है। इसकी ऊँचाई 90 किलोमीटर के पश्चात् वायुमण्डल के शीर्ष भाग तक है। इसमें विशेष क्षेत्रीय परत में विशेष

किस्म की सौर ऊर्जा से चार्ज गैसें पाई जाती हैं। यहाँ पर चार प्रकार की ऐसी गैसों की चार परतें मिलती हैं। ये है–

(i) आण्विक नाइट्रोजन परत (200 किलोमीटर),

(ii) आण्विक ऑक्सीजन परत (200 से 700 किलोमीटर),

(iii) हीलियम परत (700 से 1,100 किलोमीटर) एवं

(iv) आण्विक हाइड्रोजन परत (1,100 किलोमीटर से अधिक)।

इसमें सौर ऊर्जा से विविध ऊँचाई पर विशेष गैसें चार्ज होने से ये गैसें चुम्बकीय प्रभाव को जाग्रत रखने वाली होती है। इसी से ओजोन व आयन विकसित होती है। सौर ताप की उष्णता अधिक ऊँचाइयों पर विशेष मिलती है। इसी कारण यहाँ के तापमान भी अधिक ऊँचे रहते हैं। यहाँ पर ऊँचाई बढ़ने के साथ–साथ विरल गैसें ही पाई जाती हैं।

2. ऊँचाई के आधार पर परतों का विभाजन (Classification of Layers on the Basis of Height)– सामान्यतः ऊँचाई पर जाने पर वायु हल्की होती जाती है फिर भी सूर्यातप से पहले पृथ्वी की सतह गर्म होती है, उसके पश्चात् वायुमण्डल की निचली परतें एवं उनसे ऊपर की परतें क्रमशः गर्म होती हैं। यही नहीं, वायुमण्डल में ओजोन, आयन, धूल के कण, जल–वाष्प, ज्वालामुखी गैस एवं अन्य कारणों के प्रभाव से न तो सभी ऊँचाइयों पर वायुमण्डल की संरचना समान ही है और न ही उनका ताप–वितरण की दृष्टि से एक–सा प्रभाव दिखाई देता है। अतः अपनी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर एवं वायुमण्डल की बदलती हुई संरचना के अनुसार उसे निम्न परतों में बाँटा जा सकता है–

1. क्षोभ मण्डल या परिवर्तन मण्डल (Troposphere)
2. क्षोभ सीमा या मध्य स्तर (Tropopause)
3. समताप मण्डल (Stratosphere)
4. ओजोन मण्डल (Ozonosphere)
5. आयन मण्डल (Ionosphere)
6. बहिर्मण्डल या आयतन मण्डल (Exosphere)

1. क्षोभ मण्डल या परिवर्तन मण्डल (Troposphere)– यह वायुमण्डल का सबसे निचला भाग है। इसकी औसत ऊँचाई 12 किलोमीटर है। भूमध्य रेखा पर इसकी ऊँचाई 16 किलोमीटर तथा ध्रुवीय क्षेत्रों पर 6 से 9 किलोमीटर रह जाती है अर्थात् भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर इसकी ऊँचाई कम होती जाती है। इस मण्डल की वायु गर्म रहने का मुख्य कारण पृथ्वी से ताप का प्राप्त होना है। यहाँ जल–कण, जल–वाष्प, धूल–कण, आदि पाये जाते है। पार्थिव विकिरण (Terrestrial Radiation) की क्रिया भी होती है। यह मण्डल विकिरण, संचालन और संवहन की क्रिया द्वारा गर्म तथा ठण्डा होता रहता है। जैटस्ट्रीम पवनें निचले अक्षांशों में इसी मण्डल की ऊपरी सीमा पर चलती है। उपयुक्त कारणों एवं गतियों के प्रभाव से इस मण्डल में परिवर्तन की क्रिया सदैव घटित होती रहती है। इसी से इसको परिवर्तन मण्डल या विक्षोभ मण्डल नाम दिया गया

है। इस मण्डल में प्रत्येक 165 मीटर की ऊँचाई पर 1° सेण्टीग्रेड तापमान कम होता जाता है। **क्रूचर** ने इस परत में तापमान गिरने की दर 6.5 सेण्टीग्रेड प्रति किलोमीटर बताई है। इस मण्डल की ऊपरी सीमा पर वायु का दबाव घटकर धरातल की अपेक्षा 1/4 ही रह जाता है। जलवायु की परिवर्तनकारी घटनाएँ– आँधी, तूफान, बादलों की गर्जना, वर्षा, विद्युत–प्रकाश, आदि भी इसी मण्डल मे घटित होते है। इन्हीं क्रियाओं के फलस्वरुप रेडियो में भड़भड़ाहट व चुम्बकीय बाधाएँ भी उत्पन्न होती हैं। अतः प्रायः सभी संवेदनशील प्रभावों की उत्पत्ति यहीं होती है। संवाहनिक हवाएँ एवं सभी प्रकार की मौसमी घटनाओं (Weather Phenomena) में घटित होने का भी मुख्य केन्द्र यही है।

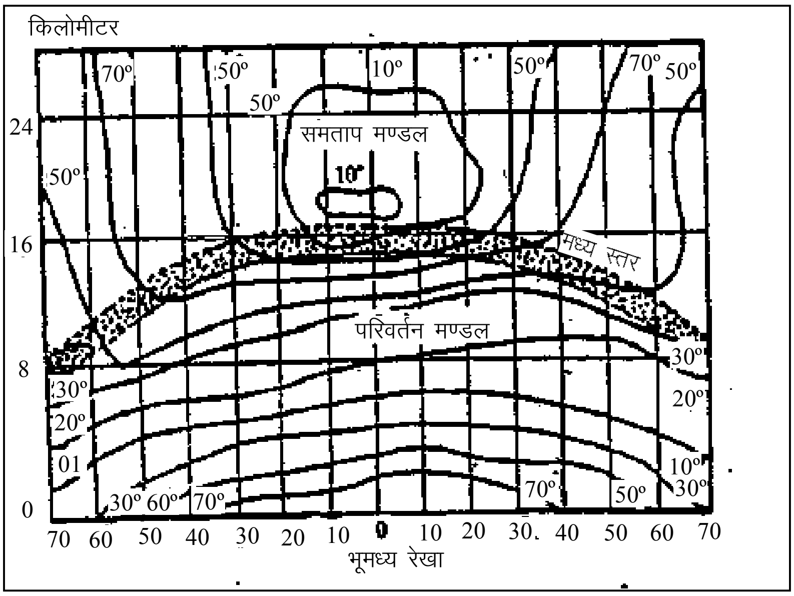

चित्र क्र. 1.2: परिवर्तन या विक्षोभ एवं समताप मण्डल

2. मध्य स्तर (Tropopause)– परिवर्तन मण्डल की ऊपरी सीमा पर और समताप मण्डल के प्रारम्भ के मध्यवर्ती भाग को मध्य स्तर का नाम दिया गया है। मध्य स्तर की दोनों पेटियों के बीच की मोटाई लगभग 1.5 से 2 किलोमीटर तक है। यहाँ किसी प्रकार की परिवर्तनकारी क्रिया घटित नहीं होती है, अतः इसे अचल स्तर भी कहते हैं। मेघों एवं धूलकणों की भी यही सीमा है। इसे मुक्ता मेघों की जननी (Mother of Pearl Clouds) भी कहा जाता है। इस स्तर में ताप की ह्रास दर में अचानक परिवर्तन आ जाता है। इसकी ऊँचाई विषुवत् रेखा पर लगभग 16 किलोमीटर तथा ध्रुवों पर 6 किलोमीटर है जो ऋतु एवं मौसम के अनुसार बदलती रहती है।

3. समताप मण्डल (Stratosphere)– यह मण्डल मध्य स्तर के बाद प्रारम्भ हो जाता है। इस मण्डल की क्षैतिज परतों के तापमान लगभग समान रहते है। समताप मण्डल के समान तापमान की जाँच सर्वप्रथम वैज्ञानिक **टीजरेन्स डि बोर्ट** ने सन् 1888 में की थी। इसकी ऊँचाई 18 से 30 किलोमीटर तक है किन्तु नवीन खोजों के अनुसार इस मण्डल की ऊँचाई 18 किलोमीटर से 80 किलोमीटर

टिप्पणी

तक आँकी गयी है। इस मण्डल की ऊँचाई अक्षांश और ऋतुओं के अनुसार परिवर्तनशील रहती है। ग्रीष्म ऋतु में इसकी ऊँचाई जाड़े की ऋतु से कुछ बढ़ जाती है क्योंकि ग्रीष्म के महीनों में विक्षोभ मण्डल की परिवर्तनशील क्रियाओं से इसकी ऊँचाई में अन्तर आता है। इसी कारण इस मण्डल में मौसम परिवर्तन, संवाहनिक एवं संघनन सम्बन्धित क्रियाएँ नही होती। समताप मण्डल की ऊपरी सीमा पर तापमान धीरे–धीरे बढ़ने लगता है।

4. ओजोन मण्डल (Ozonosphere)– ओजोन मण्डल समताप मण्डल की ऊपरी परत पर ही स्थित है। पूर्व में समझाया गया है कि सूर्य से मिलने वाली हानिकारक पराबैंगनी (अल्ट्रा वायलेट) किरणों को यहाँ की ऑक्सीजन गैस सोखकर स्वयं गर्म होकर $O_2 + O \rightarrow O_3$ (ओजोन) में बदल देती है। इससे पृथ्वी को पराकासनी किरणों से होने वाली गर्मी एवं विनाश से सुरक्षा मिल जाती है। ऑक्सीजन ओजोन में तथा ओजोन पुनः ऑक्सीजन में रुपान्तरित होती है। इस किया द्वारा उसमें 40 किलोमीटर के ऊपर सन्तुलन हो पाता है जबकी 35 किलोमीटर के पास ओजोन मिश्रित अनुपात सर्वाधिक होता है। इसकी ऊँचाई लगभग 32 किलोमीटर से 80 किलोमीटर के मध्य है। यहाँ पर तापमान इसी कारण तेजी से बढ़ता है। अतः इस परत की निचली सीमा समताप मण्डल मे भी मिल गई है। मानव विभिन्न कार्यो द्वारा इस ओजोन परत को लगातार विनाश कर रहा है। इसके ह्रास होने से धरातल पर तापमान बढ़ रहा है जिससे अनेकानेक बीमारियों की उत्पत्ति हो रही है।

5. आयन मण्डल (Ionosphere)– वायुमण्डल की यह ऊपरी परत 80 किलोमीटर से अधिकांश संगठित वायुमण्डल के समीपवर्ती भाग तक या लगभग 500 किलोमीटर की ऊँचाई तक विस्तृत है। यहाँ पर उपस्थित गैसें ब्रह्मण्ड किरणें (कास्मिक किरणें) ग्रहण कर विद्युतमय हो जाती है।

इस आयनीकरण या विद्युतमय क्रिया के कारण ही इस भाग को आयन मण्डल कहते है। इस भाग में सुमेरु ज्योति, कुमेरु ज्योति, उल्काओं की चमक, रेडियो तरंगो का विभिन्न ऊँचाई पर पुनः पृथ्वी पर लौटना, नीला आकाश जैसी क्रियाएँ घटित होती हैं। इस मण्डल की ऊपरी परतें **पराबैंगनी फोटोन** (सूर्य की विशेष हानिकारक किरणें) को भी अवशोषित करती है। यहाँ का वायुमण्डल बहुत ही हल्का एवं विरल होता है। इसकी विस्तृत खोज भू–उपग्रहों, विद्युत चुम्बकीय तरंगों, रेडियो एवं ध्वनि तरंगो की सहायता से की जाती रही है। इस परत को पुनः तीन उपमण्डलों में विभाजित किया गया है –D परत, E परत एवं F परत।

6. बहिर्मण्डल या आयतन मण्डल (Exosphere)– यहाँ पर वायुमण्डल बिखरने की स्थिति में होता है। यह विशेष गर्म एवं बहुत हल्की गैसों का तथा प्रायः घटते गुरुत्वाकर्षण के कारण गुच्छों में बिखरा हुआ होता है। यहाँ पर ऊँचाई की या ऊपरी विस्तार की कोई सीमा नही है। यहाँ पर हाइड्रोजन एवं हीलियम जैसी गैसें गुच्छों के रुप में बिखरी हुई मिल सकती हैं। इस प्रकार यह मण्डल वायुमण्डल का सीमान्त कहा जा सकता है। इस मण्डल के ऊपरी भाग की ऊँचाई बेमाने है क्योंकि हल्की गैसों के गुच्छे अन्तरिक्ष में 25–30 हजार किलोमीटर की ऊँचाई पर भी मिल सकते है।

1.5.2 वायुमण्डल का महत्व (Importance of Atmosphere)

वायु मानव सहित सम्पूर्ण जैव मण्डल का आधार है। पृथ्वी की सतह पर वायुमण्डल की गैसों की बनावट का अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। ऐसे प्रभाव की एवं वायुमण्डल की घटनाओं या आकस्मिक घटनाओं की खोज मनुष्य निरन्तर नव विकसित तकनीक, अनुभव, प्रेक्षण एवं दूरस्थ संवदेन (रिमोट सेंसिंग) तथा राकेट एवं उपग्रहों से सही–सही ज्ञान प्राप्त करता रहा है।

इसी कारण मानव द्वारा वर्तमान में वनों का विनाश करने, इनका सन्तुलन बिगाड़ने एवं बढ़ते हुए प्रदेश के प्रभावों से वर्तमान वैज्ञानिक जगत बुरी तरह चिन्तित है क्योंकि इसका प्रभाव वायुमण्डल के सन्तुलन एवं परतों व गैसों के व्यवहार पर पड़ता है। इसका तेजी से एवं घातक प्रभाव मानव तथा अन्य जीवों पर भी पड़ने लगा है। पृथ्वी तल का तापमान, गैसों का संगठन एवं मानव की सहनशीलता सभी इससे प्रभावित रहे हैं।

इसी कारण परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाई जा रही है। आज ओजोन परत में छिद्र होने की आशंका भी मानव एवं जैव–जगत को विशेष चेतावनी है। वैज्ञानिक इस ओर भी निरन्तर सुधार के लिए उपाय सुझाते रहे है। अतः विश्व के सभी देशों के निवासियों एवं जैव–जगत का हित इसी में है कि वायुमण्डल की निचली परतें स्वच्छ एवं सहज रुप में बनी रहें। इसके लिए पृथ्वी की सतह पर वातावरण का सन्तुलन तथा मानव एवं जैव–जगत तथा प्रकृति के बीच मानव द्वारा सहयोग एवं सुखद स्थिति बनाये रखना आवश्यक है अन्यथा बढ़ते हुए प्रदूषण में तेल के कुओं तथा इण्डोनेशिया के जंगलों में लगी आग से स्थानीय रुप से भयंकर गर्मी व प्रदूषण बढ़ा है। अतः वायुमण्डल में बढ़ती हुई घातक गैसों व जहरीले धुएँ से भूमण्डल का तापमान गिर भी सकता है। वायुमण्डल की निचली परत असन्तुलित व दूषित हो सकती है। इससे सम्पूर्ण भोजन श्रृंखला एवं जैव–रसायन भी प्रदूषित होकर मानवशील क्रियाओं पर अनेक प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

7. वायुमण्डल की ऊपरी परत है।

   (अ) क्षोभ मण्डल   (ब) समताप मण्डल

   (स) आयन मण्डल   (द) बाह्म मण्डल

8. वायुमण्डल की सबसे निचली परत है।

   (अ) समताप मण्डल   (ब) क्षोभ मण्डल

   (स) आयन मण्डल   (द) बाह्य मण्डल

9. वायुमण्डल में सर्वाधिक मात्रा में पायी जाने वाली गैस है।

   (अ) ओजोन   (ब) ऑक्सीजन

   (स) नाइट्रोजन   (द) हीलियम

टिप्पणी

10. वायुमण्डल का सर्वाधिक भाग कहाँ स्थित है?
    (अ) समताप मण्डल (ब) परिवर्तन मण्डल
    (स) आयन मण्डल (द) ओजोन मण्डल
11. क्षोभ स्तर __________ स्थित है।
    (अ) क्षोभमण्डल एवं समताप मण्डल के मध्य
    (ब) आयन मण्डल
    (स) ओजोन मण्डल
    (द) भूतल एवं क्षोभ मण्डल

1.6 सौर्यातप एवं इसके वितरण को प्रभावित करने वाले कारक (Insolation and Factor Affecting its Distribution)

1.6.1 सौर्यातप एवं वायु तापमान (Insolation and Air Temperature)

''सूर्यातप, सूर्याभिताप, सौर ऊर्जा या सौर शक्ति (Insolation) उस ऊर्जा को कहते हैं जो प्रकाश एवं ऊष्मा के रुप में धरातल को प्रकाश की गति से एवं लघु तरंगों के रुप में सूर्य से प्राप्त होती है।'' इसे सौर विकिरण (Solar Radiation) भी कहते हैं।

सूर्य सम्पूर्ण सौर मण्डल का जनक है। यह पृथ्वी की सभी प्रकार की जैविक एवं अजैविक क्रियाओं का आधार है। अतः इसे **'पृथ्वी मण्डल का महाप्राण'** भी कह सकते हैं। सूर्य आग का धधकता हुआ गोला है। इसकी सतह का औसत तापमान 6,000° सेल्सियस एवं भीतरी व केन्द्रीय भागों का तापमान करोंड़ो डिग्री सेल्सियस रहता है। सूर्य की सतह पर निरन्तर गर्मी बनी रहने का आधार वहाँ होने वाले प्रतिक्षण के न्यूट्रोन या उद्जन बमों जैसे अनेक विस्फोट हैं। अतः ऐसी अविश्वसनीय ऊष्मा की प्रचण्डता मात्र कल्पना का विषय है। सूर्य की सतह से ब्रह्माण्ड में चारों ओर प्रति वर्ग सेण्टीमीटर सतह के प्रति सेकण्ड 250 हजार अश्व शक्ति के बराबर की शक्ति या ऊर्जा निरन्तर प्रसारित होती रहती है। यह ऊर्जा प्रकाश की गति से निरन्तर विकरित होती रहती है। पृथ्वी की सूर्य से दूरी लगभग 14.98 करोड़ किलोमीटर है। अतः पृथ्वी को इस विशाल ऊर्जा का मात्र दो अरबवाँ भाग ही प्राप्त हो पाता है। महान जलवायुवेत्ता **ट्रिवार्था** के अनुसार, सूर्य एक विशाल व निरन्तर क्रियाशील इंजन है जोकि धरातल पर हवाओं एवं धाराओं को गतिशील रखता है। ''सूर्य के ताप का विकिरण लघु तरंगों के रुप में होता है जो 1/250 से 1/6,700 मिलीमीटर लम्बी होती है तथा 1,86,000

टिप्पणी

मील (3,00,000 किलोमीटर) प्रति सेकण्ड की गति से चलती है। इसे **सौर्य विकिरण या सूर्यातप** कहते हैं।''

(The radiant energy received from the sun, transmitted in a form analogus to short waves (1/250 to 1/6,700 mm) and travelling at the rate of 1,86,000 miles (3,00,000 kms) a second, is called solar radiation or insolation.)

केण्ड्रयू के अनुसार, ''सूर्य से वायुमण्डल में निरन्तर विकरित ऊष्मा को सूर्यातप कहा जाता है।''

बायर्स के अनुसार, ''पृथ्वी की सतह पर प्रत्यक्षतः प्राप्त सौर विकिरण की दी को सूर्यातप कहते हैं।''

(Insolation is the rate at which direct solar radiation energy is received on a horizontal surface.)

टार एवं मार्टिन के अनुसार, ''सूर्य के विकरित ऊर्जा जो पृथ्वी पर पहुँचती है, उसे सूर्यातप कहते हैं।''

(The radiant energy from the sun which reaches the earth, is called insolation.)

थामस ब्लेयर के अनुसार, ''सूर्य सें विकरित यह ऊष्मा जो पृथ्वी के घरातल पर प्राप्त होती है, विशेष नाम सूर्याभिताप से सम्बोधित किया जाता है।''

(The part of the incoming solar radiation that reaches the earth's surface is given the special name of insolation.)

सूर्य की सतह समतल नहीं है। जहाँ भी इसकी सतह पर गड्डे पाये जाते हैं, वहाँ की सतह का रंग गहरा या काला रहता है। ऐसे क्षेत्र को **सौर कलंक** (Sun Spot) कहते हैं। यहाँ से भारी मात्रा में ऊर्जा विकरित होती रहती है। इनके प्रभाव से भूतल पर चुम्बकीय ज्वार आते रहते हैं एवं रेडियो तरंगे प्रसारित होती रहती हैं। यह सौर कलंक ग्यारह–वर्षीय चक्र के अनुसार घटते–बढ़ते रहते हैं। सूर्य से प्राप्त सौर विकिरण तीन प्रकार की तरंगो वाली किरणों वाला होता है। इन्हें तरंगो की लम्बाई के अनुसार –**लघु, मध्यम एवं लम्बी** तरंग वाली ऊर्जा कहते हैं–

(i) लघु–तरंगों वाली ऊर्जा (Short-waved Energy)– इसमें तरंगों की लम्बाई 0.44 μ या कम होती है। इनका अधिकांश भाग वायुमण्डल की ऊपरी परतों विशेषकर ओजोन परत द्वारा सोख लिया जाता है। इस वर्ग की अधिकांश उर्जा पराबैंगनी तरंग वाली होती है। कुल सौर ऊर्जा का बहुत थोड़ा अंश ही ऐसा होता है एवं उसका भी मात्र 2 प्रतिशत भाग ही पृथ्वी तल तक पहुँच पाता है। ये किरणें मानव शरीर एवं प्राणी विकास के लिए हानिकारक मानी जाती हैं।

(ii) मध्यम–तरंग वाली ऊर्जा (Medium-waved Energy)– सौर ऊर्जा का अधिकांश भाग इसी वर्ग में आता है। इन तरंगों की लम्बाई 0.44 से 10^{o}.

टिप्पणी

84 μ के मध्य होती है। इनका रंग सप्तवर्णी एवं उनसे बनने वाला प्रकाश सफेद होता है। इन्ही लहरों का अधिकांश भाग भूतल तक आ पाता है।

(iii) लम्बी तरंग वाली ऊर्जा (Long waved Energy)– इनकी लम्बाई सबसे अधिक (0.84 μ से भी अधिक) होती है। इनका रंग गहरा लाल से नारंगी के मध्य होता है। इनकी तीव्रता का बड़ा हिस्सा एवं कॉस्मिक किरणों को आयन मण्डल की गैसें सोख लेती हैं।

भूतल पर प्राप्त कुल सौर ऊर्जा का 6 प्रतिशत लघु तरंग वाली ऊर्जा, 52 प्रतिशत मध्यम तरंग वाली ऊर्जा एवं 42 प्रतिशत लम्बी तरंग वाली ऊर्जा होती है। पृथ्वी की ओर जितनी ऊर्जा प्रसारित होती है, उसका एक बड़ा भाग वायुमण्डल की ऊपरी परतों से प्रतिबिम्बित होकर पुनः बाह्माकाश में विकरित हो जाता है। शेष ऊर्जा का कुछ भाग वायुमण्डल की गैसें, धूल के कण एवं जलवाष्प अनेक प्रकार से ग्रहण करती रहती है। प्रारम्भ में आयन मण्डल एवं ओजोनमण्डल सूर्यातप की अधिकांश घातक किरणों (एक्स, कॉस्मिक गामा व पराबैंगनी) को अपने में अवशोषित कर लेते हैं। वायुमण्डल की निचली परतों में उपस्थित जलवाष्प, धूल के कण एवं बादल मिलकर सूर्यातप को बिखेर (Scatter) कर, परावर्तित (Reflection) कर एवं थोड़ी मात्रा में सोखकर मार्ग में ही ग्रहण कर वहीं खर्च या परावर्तित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, आते हुए सूर्यातप का 10% भाग जलमण्डल की सतह द्वारा भी पृथ्वी को बिना गर्म किये वायुमण्डल में पुनः परावर्तित कर दिया जाता है। इस प्रकार भूतल को मात्र 42 से 45% सूर्यातप ही प्राप्त हो पाता है। इसमें से भी थोड़ा–बहुत अन्तर आने पर भूतल पर अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। हमारे रेडियो एवं टेलीविजन में अन्य आवाजें व बाधाएँ सूक्ष्म तरंग व दूर सन्देश में बाधा आने का आधार मुख्यतः आते हुए सौर ताप में थोड़ी–बहुत बाधा या असन्तुलन पैदा होने से होता है। सम्पूर्ण सूर्यातप का 2% भाग पृथ्वी तल से सीधे **ब्रह्माण्ड** में परावर्तित हो जाता है, इससे बाहरी आकाश से पृथ्वी चमकीली दिखाई देती है।

पृथ्वी की ओर आते हुए **सूर्यातप का वितरण** भी पृथ्वी के सभी भागों में समान नहीं है क्योंकि पृथ्वी अपनी अक्ष पर झुकी हुई है। सूर्य इसके कुछ ही भागों में थोड़े–थोड़े समय के लिए लम्बवत् चमकता है। अतः सर्वाधिक सूर्यातप 10° उत्तर–दक्षिण अक्षांशों के मध्य एवं अधिकांश सूर्यातप कर्क रेखा व मकर रेखा के मध्यवर्ती भाग में वितरित हो जाता है। भूतल पर सूर्यातप की न्यूनतम प्राप्ति ध्रुवीय वृत से ध्रुवों के मध्य होती है। यहाँ पर सूर्य की किरणें अधिक तिरछी पड़ती हैं एवं विषुवत् रेखा से 4 से 11 गुना वायुमण्डल सूर्यातप को पार करना पड़ता है। कुल मिलाकर सूर्यातप के वितरण पर सबसे अधिक प्रभाव वायुमण्डल में हुए इसके **अवशोषण** (Absorption) **परावर्तन** (Reflection) एवं **बिखरने** (Scattering) की क्रियाओं का पड़ता है। सर्वाधिक सूर्यातप पृथ्वी तल पर प्रायः वर्ष भर **निम्न अक्षांशों** में वितरित होता है, अतः यहाँ वर्ष भर गर्म वातावरण बना रहता है। मध्यवर्ती अक्षांशों में सूर्यातप की प्राप्ति (अयन वृत्तों एवं ध्रुवीय वृत्तों के मध्य) सूर्य की उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्ध की स्थिति के अनुसार रहती है। जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में रहता है तो सारे उत्तरी भागों के तापमान ऊँचे रहते हैं (मार्च से

टिप्पणी

सितम्बर)। इसके ठीक विपरीत स्थिति दक्षिणी गोलार्द्ध में रहती है। अतः यहाँ प्रत्येक गोलार्द्ध में गर्मी व सर्दी की स्पष्ट दो ऋतुएँ होती हैं। **ध्रुवीय या उच्च अक्षांशीय** प्रदेश में सूर्य की किरणें सदैव विशेष तिरछी पड़ती है एवं विपरीत गोलार्द्ध में तो ध्रुवों की ओर महीनों तक सूर्य दिखाई ही नहीं देता। अतः यहाँ सबसे कम सूर्यातप प्राप्त होता है। इसी कारण यहाँ वर्ष भर सर्दी पड़ती है एवं छः माह कठोर सर्दी या बर्फीली दशा बनी रहती है।

1.6.2 भूतल पर सौर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting the Distribution of Insolation on the Earth Surface)

भूतल पर सूर्यातप का वितरण सर्वत्र समान नही है। इसको मुख्यतः निम्न कारक प्रभावित करते हैं–

1. अक्षांशीय स्थिति (Latitudinal Position)– गोलाकार पृथ्वी के विषुवत् रेखा के निकट के भागों में ही सूर्य की किरणें सीधी चमकती हैं। इसके उत्तर एवं दक्षिण की ओर इनका कोणा बढ़ता जाता है। पृथ्वी अपनी समकोणीय स्थिति से $23.\frac{1}{2}$ के झुकाव पर रहती है। अतः मौसम के अनुसार सूर्य 6 माह उत्तरी गोलार्द्ध (उत्तरायण स्थिति) में एवं शेष 6 माह दक्षिणी गोलार्द्ध (दक्षिणायण स्थिति) में रहता है। अतः जब सूर्य किसी विशेष गोलार्द्ध की ओर चमकता है तो उस गोलार्द्ध में सूर्य की किरणें अपेक्षतया सीधी पड़ती है। निचले अक्षांशों में पृथ्वी के अन्य भागों की तुलना में अधिक सूर्यातप प्राप्त होता है। इससे कम सूर्यातप मध्यवर्ती अक्षांशों पर प्राप्त होता है। यहाँ अयन वृत्तों से ध्रुवीय वृत्तों (23.5^o से 66.5^o अक्षांश) की ओर जाने पर सूर्य की किरणों का तिरछापन अधिक बढ़ता जाता है। सूर्य की किरणों के तिरछेपन में वृद्धि होने से ही स्थान विशेष पर सौर ऊर्जा कम प्राप्त होती है। यहाँ दाहिनी ओर का चित्र अक्षांशीय स्थिति बदलने के प्रभाव से किरणों का तिरछापन ढाल एवं उसके पृष्ठीय (पिछले भाग) प्रदेश के ढालू भाग में सूर्य की किरणों की लम्बवत् एवं तिरछी स्थिति को समझाया गया है। दोनों ही दशाओं में दो स्थान की किरणें भूतल पर अधिक भाग घेरेंगी अतः वहाँ की किरणें अधिक हिस्से में फैल जाने से उस स्थान–विशेष को कम ताप मिलेगा। इसी कारण सबसे कम सूर्यातप ध्रुवीय प्रदेशों को प्राप्त होता है। यहाँ पर सूर्य की किरणें भूतल से लगभग क्षैतिज स्थिति में होती हैं।

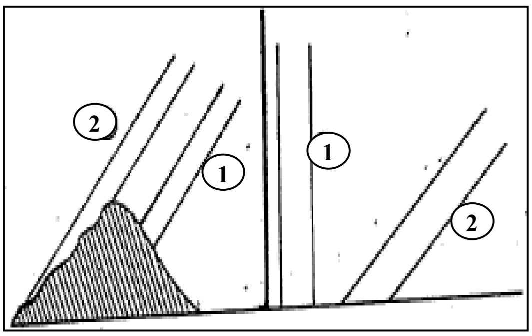

चित्र क्र. 1.3: 1 लम्बवत् एवं 2 तिरछी किरणों का भूतल पर प्रभाव

2. वायुमण्डल की मोटाई (Thickness of Atmosphere)– आता हुआ सूर्यातप वायुमण्डल पार करके पृथ्वी तक पहुँचता है। अतः जहाँ उसे विषुवत् रेखा के निकट अर्थात् एक न्यूनतम वायुमण्डल की मोटाई ही पार करनी पड़ती है, वहीं सबसे अधिक सूर्यातप भूतल पर प्राप्त होता है, जबकि मध्यवर्ती अक्षांशों में 40° अक्षांश के आस–पास दुगुनी मोटाई का या दो वायुमण्डल के बराबर मोटाई पार करनी पड़ती है क्योंकि यहाँ पर सूर्य की किरणें तिरछी रहकर वायु–मण्डल पार करती है। अतः यहाँ पहले वाली स्थिति से अपेक्षाकृत कम सूर्यातप प्राप्त होता है। इसी प्रकार 66.5° अक्षांश के पश्चात् तो सूर्य की किरणें तेजी से क्षैतिज होती जाती हैं अतः उन्हें विषुवत् रेखा की तुलना में 4 गुना वायुमण्डल पार करना पड़ता है। अतः यहाँ सबसे कम सूर्यातप प्राप्त होता है। इस प्रकार किरणों को जितने अधिक लम्बे वायुमण्डल का मार्ग पार करना होगा, उतनी ही अधिक मात्रा में सूर्यातप गैसों, वाष्प, धूल के कण, आयन, ओजोन, विशेष गैसें, बादल, आदि द्वारा सोखने, बिखरने व परावर्तन की क्रिया द्वारा मार्ग में नष्ट होता जायेगा।

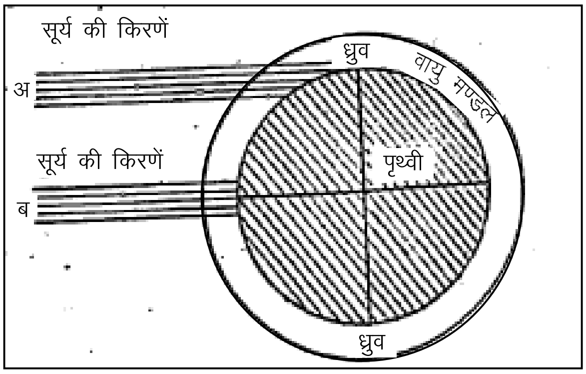

चित्र क्र. 1.4: वायुमण्डल की मोटाई का सूर्यातप वितरण पर प्रभाव

अतः जहाँ सूर्यातप कम प्राप्त होगा, वहाँ तापमान एवं गर्मी भी कम मिलेगी। ध्रुवों के निकट तो लगभग क्षैतिज स्थिति वाली किरणों को सात वायुमण्डलों के बराबर की मोटाई पार करनी पड़ती है।

3. दिन की लम्बाई (Length of Day)– यदि पृथ्वी अपनी लम्बवत् अक्ष पर झुकी न होती तो विश्व के सभी भागों में दिन–रात की लम्बाई वर्षभर समान रहती किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पृथ्वी लम्बवत् अक्ष स 23.5° अक्षांश के कोण पर झुकी हुई है। 21 मार्च एवं 23 सितम्बर को ही सूर्य विषुवत् रेखा पर सीधा चमकता है। उस समय विश्वभर में इसी दिन दिन–रात बराबर होने से इसे **समरात्रि** (Equinox) कहते हैं, जबकि 22 दिसम्बर एवं 21 जून को सूर्य क्रमशः मकर रेखा एवं कर्क रेखा पर सीधा चमकता है। तब क्रमशः दक्षिणी एवं उत्तरी गोलार्द्ध में दिनों की लम्बाई तेजी से बढ़ती है। 21 जून को विषुवत् रेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर दिन की लम्बाई बढ़ती जाती है। यह कर्क रेखा पर 13 घण्टा 48 मिनट, ध्रुवीय वृत्त 66.5° पर 24 घण्टे एवं उत्तरी ध्रुव पर 6 माह (21 मार्च को सूर्योदय एवं 23 सितम्बर को सूर्यास्त) की दिन की लम्बाई होती है। ठीक यही स्थिति 22 दिसम्बर को दक्षिणी गोलार्ध एवं दक्षिणी ध्रुव की रहती है।

टिप्पणी

सूर्यातप दिन की लम्बाई के अनुसार प्राप्त होता है। जून में उत्तरी गोलार्द्ध में एवं दिसम्बर में दक्षिणी गोलार्द्ध को सबसे लम्बे दिन होने से सर्वाधिक सूर्यातप प्राप्त होता है किन्तु ध्रुवों की ओर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने एवं वायुमण्डल की अधिक मोटाई पार करने के कारण सूर्यातप की सघनता ठीक उसी तरह घट जाती है जैसे कि किसी स्थान पर प्रातः (तिरछी किरण) एवं दोपहर (सीधी किरण) के मध्य की उष्णता में अन्तर पाया जाता है।

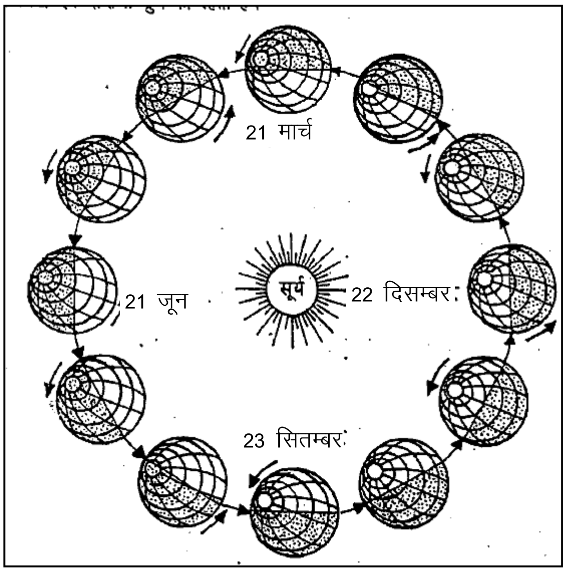

चित्र क्र. 1.5: सूर्यातप वितरण पर दिन की अवधि का प्रभाव

4. जल–थल का वितरण (Distribution of Water and Land)– पृथ्वी के 71% धरातल पर जलमण्डल एवं 29% पर स्थलमण्डल है। जल में गहराई तक किरणें पहुँचने, उसमें गतिशीलता रहने, उसकी भूमि से 2.5 गुना अधिक ऊष्मा ग्रहण करने की क्षमता होने, सूर्यातप सतह से परावर्तित होने एवं गर्मी का एक भाग वाष्पीकरण से नष्ट होने जैसी विशेषताओं के कारण पानी बहुत धीरे–धीरे गर्म होता है एवं धीरे–धीरे ही ठण्डा होता है। इसी प्रकार पानी की सतह से आते हुए सूर्यातप का 30 से 50 प्रतिशत भाग तक परावर्तित हो जाता है। अतः जल संस्थान (Water) Bodies) एवं समुद्रतटीय भाग धीमी गति से ठण्डे एवं धीमी गति से गर्म होते हैं, अतः जो स्थान समुद्र के किनारे या द्वीपों पर हैं, वहाँ पर सूर्यातप का प्रभाव समरुपी रहता है अर्थात दिन–रात एवं ग्रीष्म एवं शीतकाल के तापमान में विशेष अन्तर नही पाया जाता है। जहाँ भूमि ऊँची–नीची होती है, उसकी सतह से परावर्तन या वाष्पीकरण जल की सतह की भाँति नहीं होता। अतः भूमि पर एवं महाद्वीपों के भीतरी भागों में सूर्यातप की ऋतुवार प्राप्ति एवं तापमान का वितरण दोनों ही विषम रहते हैं। इसी कारण महाद्वीपों के भीतरी समुद्री प्रभाव से वंचित रहते हैं। ऐसे भागों में समुद्री पवनों का अभाव रहने से गर्मियों में पर्याप्त गर्मी एवं सर्दियों में विशेष ठंड पड़ती है।

5. सौर कलंको की संख्या (Numbers of Sunspots) – जब भी सूर्य के तल पर अधिक बड़े सौर कलंक पैदा होते हैं तो सूर्य से अधिक ऊर्जा प्राप्त होती

टिप्पणी

है, जबकि सदैव सामान्य सूर्यातप प्राप्त होता है। सूर्य की सतह पर प्रति ग्यारह वर्ष में एक बार सौर कलंकों में तेजी से वृद्धि होती है, तब तापमान एवं चुम्बकत्व व रेडियो तरंगों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

6. समुद्रतल से ऊँचाई (Height above sea-level) – यह एक विचित्र विरोधाभास किन्तु सत्य है कि ज्यों–ज्यों अधिक ऊँचाई पर जाते हैं, वहाँ सूर्य की किरणें तो प्रखर होती हैं फिर भी वायु के विरल होने से वह स्थान ठण्डा रहता है। ऊँचाई पर धूल के कण कम होने, वायुमण्डल विरल रहने तथा समुद्र तल से ऊँचाई बढ़ने से वहाँ धूप में तो तापमान एकदम ऊँचा रहता है, जबकि छाया वाले भाग में इसी समय तापमान विशेष नीचा रहता है। चूँकि सूर्यातप से पहले पृथ्वीतल गर्म होता है, उसके बाद वायुमण्डल की निचली परतें। यही निचली परतें अपने से ऊपरी परतों को गर्म करती हैं। अतः अधिक ऊँचाई पर सूर्यातप का विकिरण भी शीघ्र होता जाता है। इसी कारण तिब्बत के पठार पर जहाँ धूप में चमड़ी जलने लगती है, वहीं छाया वाले क्षेत्र में जाने पर ठण्ड लगने से कंपकंपी छूटती है।

7. धरातल का रंग, स्वरुप एवं स्वभाव (Colour, Features and Nature of Earth Surface)– कहीं धरातल का रंग हल्का व सफेद है तो कहीं लाल, पीला या गहरे काले रंग का। अधिकांश धरातल खुरदरा व ऊबड़–खाबड़ है तो हिम जल तथा रेतीली मरुभूमि का धरातल समतल–प्रायः रहता है। कहीं धरातल पर घने वन, घास, आदि फैले हैं तो कहीं यह बिना वनस्पति के हैं। इन सबका प्रभाव सम्बन्धित धरातल की ओर आते हुए सूर्यातप के अवशोषण (सोखना) के स्वरुप पर गहरा पड़ता है। सामान्यतः शुष्क, विषम, रेतीले और गहरे रंग के व वनस्पति विहीन तल तेजी से सूर्यातप ग्रहण करते हैं और शीघ्र विकरित भी कर देते हैं। बर्फ हल्के रंग के धरातल एवं जल–तल परावर्तन द्वारा अधिकांश सूर्यातप का तत्काल परावर्तन कर देती है। अन्य हल्के रंग के धरातल अपेक्षतया धीमी गति से सूर्यातप प्राप्त कर अवशोषित करते हैं अतः ऐसे क्षेत्रों से ताप विकिरण भी धीरे–धीरे होता है।

सूर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले अन्य कारणों में **धरातल की प्रकृति, पृथ्वी से सूर्य की दूरी, बादल, वायुमण्डलीय परिवर्तनशील अवस्थाएँ एवं वायुमण्डल की स्वच्छता, आदि उल्लेखनीय हैं।**

1.6.3 पृथ्वी का ताप बजट (Heat Budget of the Earth)

प्रो. किम्बर्ले के अनुसार आते हुए सूर्यातप का ऊष्मा बजट निम्न प्रकार से रहता है–

सारणी क्र. 1.2

कुल सौर विकिरण	100 प्रतिशत
वायुमण्डल की ऊपरी परतों द्वारा पुनः परावर्तन	42 प्रतिशत
जल वाष्प एवं धूल के कणों द्वारा अवशोषण व बिखेरना	15 प्रतिशत
पृथ्वी तल पर पहुँचना	43 प्रतिशत
पृथ्वी तल द्वारा तत्काल बाह्याकाश में परिवर्तन	(–2) प्रतिशत

आते हुए सूर्यातप का जितना भी हिस्सा पृथ्वी तल को प्राप्त होता है, पृथ्वी उसे निरन्तर इस प्रकार ग्रहण कर विकरित करती रहती है, ताकि सम्पूर्ण ऊर्जा प्राप्ति एवं उसके पुनः बाह्माकाश में जाने के मध्य सन्तुलन बना रहे। आते हुए सूर्यातप का 2% सीधा बाह्माकाश में परावर्तन द्वारा, 15% धूल के कण एवं गैसों द्वारा एवं लगभग 42% वायुमण्डल की ऊपरी परतों की गैसों द्वारा, बादलों द्वारा एवं अन्य कारणों से विविध विधियों से शोषित कर, बिखेरकर या विकिरण द्वारा मार्ग में ही ग्रहण कर लिया जाता है। अतः पृथ्वी तल पर 43% सूर्यातप ही प्राप्त हो पाता है। यह सम्पूर्ण सूर्यातप वायुमण्डल एवं भूतल को गर्म करके वहाँ से पुनः बाह्यकाश में विलीन हो जाता है। इसी कारण पृथ्वी को ताप कुचालक (Black Body) कहते हैं। **प्रो. रॉबर्ट** के अनुसार, वायुमण्डल की ऊपरी सीमा पर प्रति सेकंण्ड 1.94 कैलोरी ताप प्रति वर्ग सेण्टीमीटर प्राप्त होता है एवं उतना ही पुनः बाह्यकाश में पृथ्वी की ओर से लीन या नष्ट होता रहता है।

एक मत के अनुसार सूर्य से विकरित ऊर्जा का 35% भाग मूलतः शून्य में लौटा दिया जाता है। शून्य में लौटाए गए 35% में से 6% वायुमण्डल द्वारा प्रकीर्ण, 27% बादलों द्वारा परावर्तित तथा 2% धरातल से परावर्तित ऊर्जा है। इस प्रकार शेष 65% भाग में से 14% सौर्यिक विकिरण का प्रत्यक्ष अवशोषण कर लिया जाता है। इस प्रकार केवल 51% ऊर्जा ही पृथ्वी को मिल पाती है। इसमें 34% प्रत्यक्ष रुप से तथा 17% विसरित दिवा प्रकाश से प्राप्त होती है। पृथ्वी तथा वायुमण्डल के ऊष्मा बजट को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

प्रवेशी सौर्यिक विकिरण की मात्रा

प्रकीर्णन तथा परावर्तन द्वारा नष्ट सौर्यिक विकिरण

(अ) बादलों से परावर्तित

$$\left.\begin{matrix} 27\% \\ 2\% \\ 6\% \end{matrix}\right\} \begin{matrix} = 100\% \\ 35\% \\ = 65\% \end{matrix}$$

(ब) धरातल से परावर्तित

(क) वायुमण्डल द्वारा शून्य में प्रकीर्णन

- **सौर्यिक विकिरण की शेष मात्रा**
- **सौर्यिक विकिरण की मात्रा**

(अ) पृथ्वी का ताप बजट

(i) प्रत्यक्ष रुप से प्राप्त

टिप्पणी

(ii) विसरित दिवा प्रकाश से प्राप्त 34% 17%

51%, 14%, 34%, 48% } = 65%

(ब) वायुमण्डल का ताप बजट

(i) प्रवेशी सौर्यिक विकिरण का प्रत्यक्ष अवशोषण

(ii) बहिर्गामी पार्थिव विकिरण द्वारा प्राप्त योग

एक अन्य मत के अनुसार वायुमण्डल की ऊपरी परतों द्वारा ग्रहण करने के बाद जो कुछ सौरताप पृथ्वी के निचले वायुमण्डल एवं पृथ्वी तल की ओर आता है, यदि उसे 100 प्रतिशत मान लिया जाय तो उसका 32 प्रतिशत बादल व धूल के कण अवशोषित कर लेते हैं, लगभग 2 प्रतिशत पृथ्वी तल द्वारा सीधे परावर्तित कर दिया जाता है, शेष 66 प्रतिशत में से 18 प्रतिशत ओजोन, वाष्पीकरण एवं विभिन्न गैसों द्वारा विशेष लघु तरंगों वाले सौर ताप को अवशोषित कर लिया जाता है। शेष सौर ऊर्जा को पृथ्वी अवशोषित कर उसे भू–तापीय लहरों के माध्यम से सारी गर्मी को वायुमण्डल में विकरित करती रहती है। इसे ही **भौमिक विकिरण या पार्थिव विकिरण** (Earth's Radiation or Terrestrial Radiation) कहते है। भौमिक विकिरण दीर्घ तरंगों (Long Waves) द्वारा सौर ऊर्जा को तापीय तरंगों के रुप में वायुमण्डल में विकरित करता रहता है। वायुमण्डल की निचली परतें पुनः विविध क्रियाओं हेतु इसे अवशोषित कर अनेक प्रकार से अपने से ऊपरी परतों को ऊष्मा देती रहती हैं।

1.6.4 वायुमण्डलीय तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Distribution of Atmospheric Temperature)

वायुमण्डलीय तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाने कारक निम्न हैं–

1. अक्षांश (Latitude)– सूर्यातप के वितरण में समझाया गया है कि विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर सूर्यातप की कुल प्राप्ति में कमी आती जाती है। इसी प्रकार तापमान का वितरण भी अक्षांशीय कटिबन्धों के अनुसार वितरित होता है। कर्क एवं मकर अयन वृत्तों के आस–पास ग्रीष्मकाल (21 जून एवं 23 सितम्बर क्रमशः) में उष्णकटिबन्धीय मरुस्थलों में विश्व के सबसे ऊँचे तापमान अंकित किये जाते है, जबकि विषुवत् रेखा के आस पास वर्षभर समान रुप से तापमान पर्याप्त ऊँचे बने रहते है। इस प्रकार जब किसी अक्षांश पर सूर्य ठीक शीर्ष पर होता है तो वहॉ के उस समय के तापमान अधिक ऊँचे रहते है। अयनवृत्तों से ध्रुवों की ओर जाने पर औसत तापमान कम होते जाते है। जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में मकर रेखा के आस–पास सीधा चमकता है तो सम्पूर्ण गोलार्द्ध के

टिप्पणी

तापान्तर तेजी से बढ़ जाते है। ऐसे समय विपरित गोलार्द्ध के तापमान कम या बहुत नीचे अंकित किये जाते है। अतः वहॉ सर्दी के मौसम की दशा रहती है।

2. सागर तल से ऊँचाई (Height down sea level)– सागर तल के आस-पास स्थित स्थानों पर वायु की निचली परतों को पार्थिव विकिरण सबसे अधिक प्राप्त होता है। अतः समुद्र तट के आस–पास की वायु की परतों में सबसे अधिक तापमान रहते है, जबकि ऊँचाई पर जाने पर तापमान निरन्तर घटते जाते हैं। ऊँचाई पर जाने पर तापमान गिरने की दर प्रारम्भ में प्रति 165 मीटर पर 1ºC है। इसी कारण सागर तल की तुलना में पहाड़ों पर तापमान बहुत नीचे रहते हैं।

3. जल थल का असमान वितरण (Uneven distribution at water and land) – यदि सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्थल ही स्थल सागर ही सागर होता तो सम्भवतः औसत तापमान का वितरण अक्षांशों के समान्तर रहता किन्तु इनका वितरण जटिल एवं विषम है। भूमि एवं जल द्वारा सूर्यातप एवं भौमिक विकिरण ग्रहण करने एवं वायुमण्डल में छोड़ने की स्थिती दोनों के ही भिन्न–भिन्न लक्षणों के कारण अलग–अलग है। पानी धीरे–धीरे एवं अधिक गहराई तक गर्म एवं ठण्डा होता है। पानी के अनेक प्रकार से गतिशील होने, ताप का जल सतह से परावर्तन होने, वाष्पीकरण द्वारा ताप का गुप्त ऊष्मा के रुप में खर्च होने एवं जल की ऊष्मा ग्रहण करने की अधिक क्षमता आदि कारणों से पानी धीमी गति से बहुत गहराई तक गर्म होता रहता है। अतः समुद्र तट के निकट बसे द्वीप एवं स्थल के दैनिक एवं वार्षिक तापान्तर में अधिक अन्तर नहीं रहता, जबकि स्थल भाग दिन तेजी से व कुछ ही गहराई तक गर्म होते हैं। एवं रात्रि में उतनी ही तेजी से ठण्डे होते जाते हैं। अतः समुद्र तट से दूर के भागों का ताप वितरण विषम बना रहता है।

4. समुद्र तट से दूरी (Distance from sea coast)– सागर तट से ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है। त्यों त्यों सागर का समकारी प्रभाव घटता जाता है। इसी प्रकार हवाओं के मार्ग में पर्वतमालाएँ, जैसे– हिमालय, रॉकी, एण्डीज, आदि के कारण भी भीतरी भागों में समुद्री प्रभाव नही पहुँचा पाता। इससे सर्दियाँ अधिक ठण्डी एवं गर्मियाँ अधिक गर्म रहती हैं।

5. समुद्री धाराओं एवं प्रचलित पवनों का प्रभाव (Effects of oceanic currents and prevailing winds)– समुद्री धाराएँ गर्म एवं ठण्डे जल को बहाकर सुदूर प्रदेशों के सागरों एवं वहाँ के वायुमण्डल के तापमान को प्रभावित करती रहती हैं। जब गर्म धाराएँ जपान तट एवं पश्चिम यूरोपीय तट व निकट के सागरों में बहती है तो वहाँ के तापमान शीतकाल में भी उष्ण बने रहते है। ठण्डी धारा के प्रभाव से होकैडो (जपान) एवं लेब्रोडोर (कनाडा) का तट अत्याधिक ठण्डा रहता है। ऐसा प्रभाव प्रचलित पवनों के प्रवाह प्रदेशों में देखा जा सकता है। ठण्डी व गर्म वायु राशियों द्वारा अन्य प्रदेशों की वायु को प्रभावित करने से भी वहाँ का तापमान क्रमशः घटता बढ़ता रहता है।

6. धरातल का स्वभाव (Nature of land) – प्रायः आर्द्र व उष्ण प्रदेश धीमी गति से ठण्डे व गर्म होते हैं। कुछ चट्टाने लावा युक्त अधिक गर्मी सहकर उष्ण बनी रहती है। अतः शुष्क रेतीला एवं गहरे रंग का धरातल शीघ्र गर्म व ठण्डा हो जाता है।

टिप्पणी

1.7 उष्मा संतुलन, तापमान का क्षैतिज एवं उर्ध्वाधर वितरण (Heat Balance, Horizontal and Vertical Distribution of Temperature)

1.7.1 ऊष्मा ताप सन्तुलन (Heat Balance)

जब पृथ्वी सूर्य से ऊष्मा प्राप्त कर लेती है तो वह ऊर्जा का विकिरण करने लगती है। पृथ्वी यह कार्य इसलिए करती है जिससे धरातल पर ऊर्जा का निरन्तर संचय न हो सके। पृथ्वी द्वारा होने वाला विकिरण दीर्घ तरंगों के रुप में होता है। इसे ही **भौमिक विकिरण अथवा पार्थिव विकिरण** कहा जाता है। इसके कारण वायुमण्डल का निचला भाग गर्म होता है। पृथ्वी द्वारा 23% भाग दीर्घ तरंगों के रुप में विकरित हो जाता है। इसका 17% भाग सीधे शून्य में चला जाता है। 6% भाग प्रभावी विकिरण के रुप में वायुमण्डल को गर्म करता है। 9% ऊर्जा विक्षोभ व संवहन द्वारा खर्च हो जाती है तथा 19% ऊर्जा वाष्पीकरण द्वारा नष्ट हो जाती है। स्पष्ट है कि 51% ऊर्जा वापस विकरित होती है। इसीलिए पृथ्वी पर प्रवेशी सौर्यिक विकिरण द्वारा प्राप्त ऊर्जा तथा बहिर्गामी पार्थिव दीर्घ तरंग विकिरण द्वारा नष्ट ऊर्जा समान हो जाती है। यही ऊष्मा या ताप सन्तुलन है।

वायुमण्डल 48% ताप प्राप्त करता है। इसमें 14% प्रवेशी सौर्यिक विकिरण से, 6% प्रभावी विकिरण से, 9% विक्षोभ तथा संवहन से एवं 19% संघनन की गुप्त ऊष्मा से प्राप्त होता है जिसे वायुमण्डल शून्य में विकीर्ण कर देता है।

ताप सन्तुलन को निम्नलिखित सारणी द्वारा समझा जा सकता है

सारणी क्र. 1.3: ताप सन्तुलन (Heat Balance)

पार्थिव ताप सन्तुलन		वायुमण्डलीय ताप सन्तुलन	
कुल ताप प्राप्त	नष्ट ताप	कुल ताप प्राप्त	
51%	वाष्पीकरण 19%	6% प्रभावी विकिरण से	48%
	विकिरण द्वारा 23% विक्षोभ तथा संबहन द्वारा 9% योग 51%	9% विक्षोभ तथा संबहन से 19% संघनन की गुप्त ऊष्मा से 48%	

1.7.2 तापमान का वितरण (Temperature Distribution)

तापमान के वितरण को निम्न दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

टिप्पणी

(i) तापमान का क्षैतिज वितरण एवं

(ii) तापमान का लम्बवत् वितरण

तापमान का क्षैतिज वितरण (Horizontal Distribution of Temperature)

वायुमण्डल की निचली परतों में एवं भूतल पर तापमान का वितरण कई कारकों से प्रभावित रहा है। अतः जहाँ इसका सामान्य वितरण प्रायः अक्षांशों के अनुसार हैं वहीं इसके प्रादेशिक वितरण में कई विषमताएँ एवं विसंगतियाँ अथवा विरोधाभास भी पाये जाते हैं। तापमान का क्षैतिज वितरण दो प्रकार से समझा जा सकता है–

(i) तापमान का प्रादेशिक वितरण– तापमान के सामान्य (क्षैतिज) वितरण का आधार अयन वृत्त रेखाएँ हैं। विषुवत् रेखा से दोनो अयन वृत्तों (23.5° उत्तर व दक्षिण) के मध्य सूर्य वर्ष में दो बार सीधा चमकता है। अतः कर्क रेखा पर 21 जून को एवं मकर रेखा पर 23 सितम्बर को एक बार ही सीधा चमकता है। इसलिए अयन वृत्तों के मध्य तापमान वर्षभर प्रायः ऊँचे रहते हैं। इसी कारण उसे उष्ण कटिबन्ध कहा गया है। इसी प्रकार अयन वृत्त रेखाओं से ध्रुवीय वृत्त 66.5° तक के क्षेत्र में सूर्य प्रति दिन दिखाई देता है। यहॉ सर्दियों में भी उसका थोड़े बहुत समय तक प्रकाश मिलता है। यद्यपि सर्दियों में 45° अक्षांश के पश्चात् दिन की लम्बाई तेजी से घटती जाती है एवं 22 दिसम्बर को 66.5° उत्तर अक्षांश पर 24 घण्टे की रात एवं 21 जून को गर्मियों में 24 घण्टे का दिन होता है। अतः कर्क रेखा एवं उत्तर धुव्र (आर्कटिक) वृत्ता तथा मकर रेखा दक्षिणी धुव्र (अण्टार्कटिक) वृत्त स्पष्टतः गर्मी व सर्दी की दो ऋतुएँ होने से वृत्त के मध्य के क्षेत्र को **शीतोष्ण कटिबन्ध** कहा गया है। 45° से 66.5° के मध्य सर्दियाँ अधिक कठोर होती है।

अतः उसे शीत–शीतोष्ण कटिबन्ध कहा गया है। कटिबन्धों का ऐसा सरल मानचित्रीय वितरण सर्वप्रथम यूनानवासियों ने प्रस्तुत किया था, बाद में इसे **सूपन** एवं अन्य विद्वानों ने औसत तापमान की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सुधारा। **कोपेन का क्षेतिज ताप का वर्गीकरण**– **कोपेन** महोदय ने ताप कटिबन्धों के वर्णन हेतु उच्चतम एवं न्यूनतम तापमान को ही आधार नहीं माना है। अपितु इस ताप की अवधियों की ओर भी आकर्षित किया है। **कोपेन** के अनुसार ताप कटिबन्ध अग्रांकित है–

1. **मैगाथर्मल (Megathermal)**– इस खण्ड में सबसे अधिक ठण्डे माह का तापमान 10° सेन्टीग्रेड रहता है।
2. **मैसोथर्मल (Mesothermal)**– इस खण्ड में सर्वाधिक ठण्डे माह का तापमान 18 सेन्टीग्रेड से नीचा किन्तु 3° सेन्टीग्रेड से अधिक रहता है। सबसे गर्म महिने का औसत तापमान 10° सेन्टीग्रेड रहता है।

3. **माइक्रोथर्मल (Microthermal)**– इस खण्ड में ठण्डे माह का तापमान –3° सेन्टीग्रेड से नीचे रहता है। सबसे गर्म महिने का तापमान 10° सेन्टीग्रेड से ऊपर रहता है।

4. **ध्रुवीय (Polar)**– इस खण्ड में सबसे गर्म महीने का तापमान 10° सेन्टीग्रेड से नीचे रहता है।

(ii) समताप रेखाओं के आधार पर तापमान का क्षैतिज वितरण (Horizontal Distribution of Temperature based on Isotherms)– मानचित्रों में भी स्थानों को समुद्र तल पर मानते हुए समान तापमान वाले स्थानों को जोड़ने वाली रेखा को ही समताप रेखा कहते है। पृथ्वी के मानचित्र पर तापमान के सामान्य एवं क्षैतिज वितरण के अध्ययन में यही आधारभूत रेखाएँ हैं। विश्व मानचित्र के जिस भाग में समताप रेखाएँ पास–पास होती हैं। तो वहाँ का तापमान तेजी से बदलता है। भूतल पर ऐसा प्रायः सर्दियों में गर्म धारा से प्रभावित तट के पास में होता है। पृथ्वी की सतह पर तापमान की सामान्य दशाओं का वितरण स्वरुप समताप रेखाओं को ध्यानपूर्वक समझकर ही सरलता से समझा जा सकता है। यहाँ पर भी भूतल के मासिक ताप वितरण एवं सौर उर्जा की मासिक प्राप्ति के मध्य प्रायः वैसा ही विलम्ब या देरी पाई जाती है। जैसी कि पूर्व में समझाई गई दैनिक ताप वितरण या परिवर्तन में पाई जाती है। इसी कारण जहाँ उत्तर गोलार्द्ध में सबसे अधिक सूर्यातप जून माह में प्राप्त होता है। वहीं यहॉ के सबसे ऊँचे तापमान दिसम्बर के स्थान पर जनवरी में अंकित किये जाते है। दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका महाद्वीप के विशाल हिम प्रदेश एवं हिमशिलाओं के प्रभाव से निचले वायुमण्डल एवं सागर तल के विशेष ठण्डा बने रहने से यहाँ के तापमान उत्तर गोलार्द्ध की भाँति अधिक ऊँचे अंकित नहीं किये जाते है। अतः यहाँ समताप रेखाएँ दूर–दूर पाई जाती है।

समताप रेखाओं के आधार पर तापमान के वितरण को जनवरी तथा जुलाई की समताप रेखाओं द्वारा समझा जा सकता है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

12. पृथ्वी पर आने वाली उर्जा कहलाती है।
    (अ) सौर विकिरण (ब) सौर्याभिताप
    (स) पार्थिव विकिरण (द) इनमें से कोई नहीं

13. सर्वाधिक सूर्याभिताप कहाँ होता है?
    (अ) विषुवत् रेखा पर (ब) मकर रेखा पर
    (स) कर्क रेखा पर (द) ध्रुवों पर

1.8 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. (अ)
2. (ब)
3. (स)
4. (द)
5. (अ)
6. (द)
7. (द)
8. (ब)
9. (ब)
10. (स)
11. (अ)
12. (ब)
13. (अ)

1.9 सारांश (Summary)

भौतिक भूगोल (Physical geography) भूगोल की एक प्रमुख शाखा है जिसमें पृथ्वी के भौतिक स्वरूप का अध्ययन किया जाता हैं। यह धरातल पर अलग अलग जगह पायी जाने वाली भौतिक परिघटनाओं के वितरण की व्याख्या व अध्ययन करता है, साथ ही यह भूविज्ञान, मौसम विज्ञान, जन्तु विज्ञान और रसायनशास्त्र से भी जुड़ा हुआ है। इसकी कई उपशाखाएँ हैं जो विविध भौतिक परिघटनाओं की विवेचना करती हैं। यह पृथ्वी के स्थलरूपों का अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत जल, वायु और हिमानी के अपरदनात्मक, परिवहनात्मक और निक्षेपात्मक कार्यों द्वारा स्थलरूपों की उत्पत्ति व विकास शामिल है।

1.10 मुख्य शब्दावली (Key Terminology)

- **सूर्यातापः** सूर्य से निकली ऊर्जा का जो भाग पृथ्वी की ओर आता है, उसे 'सूर्याताप (Insolation) कहते हैं ।
- **ओजोनः** ओजोन ऑक्सीजन का एक प्रकार है। लेकिन ऑक्सीजन के विपरीत, ओजोन एक विषैली गैस है। प्रत्येक ओजोन का मॉलेक्यूल तीन ऑक्सीजन के अणुओं से मिलकर बना है इसलिये इसका सूत्र $ओ_3$ (O_3) है।
- **परावर्तनः** जब कोई प्रकाश की किरण किसी एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती है तो परावर्तक पृष्ठ से टकराकर वापस उसी माध्यम में लौट जाती है। इस घटना को प्रकाश का परावर्तन कहते है।

1.11 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास (Self Assessment Questions and Exercises)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. जलवायु विज्ञान क्या है?
2. भौतिक जलवायु विज्ञान क्या है?
3. मौसम से क्या तात्पर्य है?
4. जलवायु क्या है?
5. भारतीय मौसम वैद्यशालाओं का वर्णन कीजिये।
6. जलवायु के तत्व के रूप में तापमान को समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1 मौसम एवं जलवायु को परिभाषित कीजिये। इनके तत्वों का उल्लेख कीजिये।

2. जलवायु के तत्वों का उल्लेख कीजिये तथा इसे प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिये।
3. वायुमण्डल की विभिन्न परतों की बनावट और उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. वायुमण्डल की बनावट और उसकी संरचना का वर्णन कीजिए।
5. वायुमण्डल के संघटन एवं उसकी तापीय संरचना का विवरण दीजिए।
6. वायुमण्डल की विभिन्न परतें कौन–कौन सी है तथा वायुमण्डल का महत्व बताइए।
7. वायुमण्डल के संघटन का विवरण दीजिए।

1.12 सहायक पाठ्य सामग्री (Suggested Readings)

1. डॉ. रविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल, प्रवर्तलिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
2. डॉ. एच.एन. गुप्ता एवं डॉ. शिवानंद गौतम – भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल), प्रसाद एण्ड सन्स पब्लिकेशन, भोपाल।
3. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया – भौतिक भूगोल, साहित्य भवन, आगरा।
4. डॉ. मामोरिया एवं सिसोदिया – यूनीफाइड भूगोल, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा (म. प्र.)।

टिप्पणी

इकाई 2 वायुमण्डलीय दाब (Atmospheric Pressure)

संरचना (Structure)

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वायुमण्डलीय दाबः वायुदाब पेटियाँ, वायुदाब पेटियों का विस्थापन
2.3 वायुमण्डलीय परिसंचरण
 2.3.1 वायुमण्डलीय परिसंचरण को नियन्त्रित करने वाले कारक
 2.3.2 वायुमण्डलीय परिसंचरण के प्रकार
2.4 ग्रहीय पवनें, मौसमी पवनें, स्थानिय पवनें
 2.4.1 पवनें
 2.4.2 पवनों का वर्गीकरण
2.5 वायुमण्डलीय आर्द्रता
 2.5.1 जल वाष्प एवं वाष्पीकरण
2.6 निरपेक्ष सापेक्ष एवं विशिष्ट आर्द्रता
 2.6.1 वायुमण्डलीय आर्द्रता के प्रकार
2.7 संघनन एवं उसके रुप
 2.7.1 संघनन के रुप
2.8 वाष्पीकरण वृष्टि
 2.8.1 वाष्पीकरण
2.9 वर्षा – प्रकार एवं वितरण
 2.9.1 वर्षा
 2.9.2 वृष्टि के प्रकार
2.10 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
2.11 सारांश
2.12 मुख्य शब्दावली
2.13 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.14 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय (Introduction)

वायुमण्डलीय दशाओं तथा उनकी क्रिया तथा परिणाम सम्बधी अध्ययन विद्यार्थीयों के लिए प्रस्तुत किया गया है।

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में प्रस्तुत अध्ययन सामग्री में वायुदाब, वर्षा, आर्द्रता, पवनें तथा वाष्पीकरण आदि का विस्तृत अध्ययन कराने का प्रयास किया गया है।

टिप्पणी

2.2 वायुमण्डलीय दाबः वायुदाब पेटियाँ, वायुदाब पेटियों का विस्थापन (Atmospheric Pressure: Pressure Belts, Displacement of Pressure Belts)

वायुमण्डल में पाई जाने वाली गैसें एवं अन्य तत्व भी पदार्थ ही हैं। पदार्थ में भार एवं भार के कारण दबाव की स्थिति पाई जाती है। अतः अब यह सिद्ध किया जा चुका है कि वायुमण्डल की गैसों में भार एवं दबाव दोनों ही बातें सत्य एवं तथ्यपूर्ण है। इसी वायुमण्डलीय दाब को संक्षेप में **वायुदाब** (Air Pressure) भी कहते हैं। यह वायु के पदार्थ होने से उसकी भौतिक दशा की स्थिति है। वायु के विशाल विस्तार के कारण, जो कि हमारे चारों ओर हजारों किलोमीटर की ऊँचाई तक फैला है, उसमें निश्चित भार होता है। पृथ्वी की सतह पर या समुद्र तल पर **प्रति वर्ग सेण्टीमीटर वायु भार 2.7 किलोग्राम** हैं। इसी प्रकार समुद्र तल पर एक घन फुट वायु का भार लगभग 1.25 औंस होता है। मनुष्य एवं सभी जीवों के वायुदाब का पता ठीक उसी प्रकार नहीं चलता, जिस प्रकार कि मछली को पानी के भार का पता नहीं चल पाता। वायुदाब मापने का यन्त्र सर्वप्रथम **गेलिलियो** के शिष्य **टेरिसिली** ने सत्रहवीं सदी में बनाया। इससे धरातल पर एवं भिन्न–भिन्न ऊँचाइयों पर वायुदाब के बढ़ने–घटने का ज्ञान होता है।

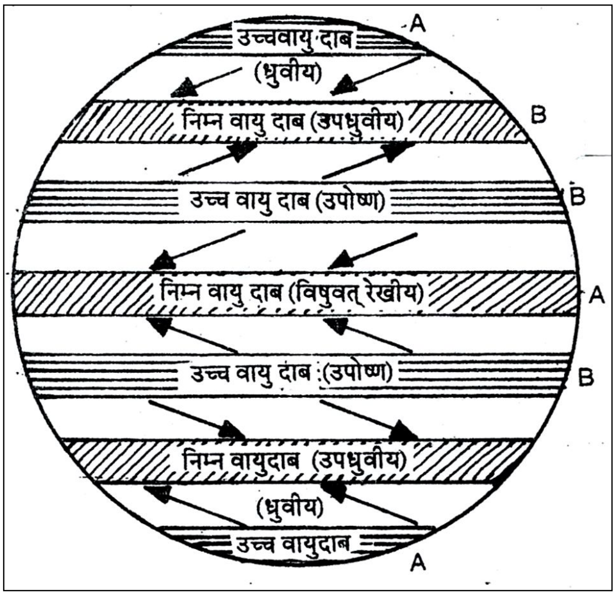

चित्र क्र. 2.1: ग्रहीय वायुदाब पेटियाँ A ताप रचित B गति रचित

वायुदाब पेटियाँ (Pressure Belts)

ग्रहीय आधार पर वायुदाब पेटियाँ अक्षांशो का अनुसरण करती हैं, जैसा कि यहाँ चित्र में समझाया गया है। यहाँ विषुवत रेखा के निकट ऊँचे तापमान रहने से वर्षभर निम्न वायुदाब की दशा विकसित होती है किन्तु अयन वृत्तों के निकट व 35 अक्षांशों के मध्य पृथ्वी की गति का पवनों पर विशेष प्रभाव पड़ने से उच्च वायुदाब

टिप्पणी

पाया जाता है, जबकि ध्रुवीय प्रदेशों पर भयंकर ठण्ड पड़नें से वहाँ सदैव उच्च वायुदाब की दशाएँ पाई जाती हैं। ध्रुवों एवं अयन वृत्तो के मध्य 65° अक्षांशों के आसपास पृथ्वी की गति के विशेष प्रभाव से वायु का दाब घटने लगता है अतः उपध्रुवीय प्रदेशों में उच्च वायुदाब की दशा विकसित हो जाती है। उपयुक्त सभी वायुदाब पेटियों का क्षेत्रवार वितरण, स्वरूप एवं ऐसे वायुदाब के विकास का कारण निम्न प्रकार से है–

1. विषुवत्‌रेखीय निम्न वायुदाब पेटी (डोलड्रम या शान्त खण्ड क्षेत्र) (Equatorial low Pressure belt or Dold-drum)– यह पेटी विषुवत्‌ रेखा सें 5° उत्तर व 5° दक्षिण अक्षांश के बीच फैली है। इसका वास्तविक विस्तार भूतल पर सूर्य की स्थिति या मौसम के अनुसार उत्तरायण या दक्षिणायण की ओर होता रहता है। यहाँ दिन–रात बराबर होने एवं सूर्य की किरणें वर्षभर लम्बवत पड़ने से तापमान विशेष ऊँचे बने रहते है। इससे यहाँ की विशेष नम हवाएँ अधिक गर्म व हल्की होकर निरन्तर ऊपर उठती रहती है। अतः भूतल पर **निम्न वायुदाब,** वर्षभर बना रहता हैं। इस कारण भी यहाँ क्षैतिज पवनें नहीं चलती। इसी कारण इस क्षेत्र को डोलड्रम या शान्त खण्ड भी कहते हैं किन्तु यह शान्त अवस्था धरातल से कुछ ऊँचाई तक ही सीमित रहती हैं। 3–4 किलोमीटर के पश्चात पवन प्रवाह गतिशील रहता है अतः शान्त खण्ड की स्थिति समाप्त हो जाती हैं किन्तु धरातल पर तो निरन्तर निम्न वायुदाब एवं क्षैतिज पवनों के अभाव में शान्त खण्ड की स्थिति बनी रहती हैं। ऊँचें तापमान रहनें से यहाँ पर स्थायी निम्न वायुदाब रहता है अतः इसे **ताप रंचित** वायुदाब पेटी भी कहते है।

2. उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब पेटियाँ (Tropical High Pressure Belts)– ये पेंटियाँ दोनों गोलार्द्धों में 30° से 40° अक्षांशों के मध्य फैली हैं। यहाँ पर उपोष्ण कटिबन्ध होने से तापमान शीतकालीन दो माह को छोड़कर वर्षभर ऊँचें रहते हैं। तापमान ऊँचा रहने के बावजूद यहाँ का वायुदाब अधिक ऊँचा बना रहता हैं। इस विशेष घटना का कारण पृथ्वी की दैनिक गति एवं उनका पवन व्यवस्था पर विशेष प्रभाव पड़ता हैं। इसे यहाँ चित्र में समझाया गया है।

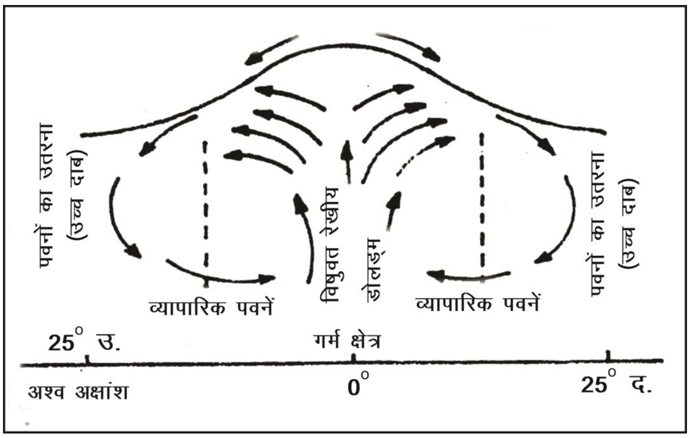

चित्र क्र. 2.2: विषुवत्‌रेखीय एवं अयनवृत्तीय वायुदाब व्यवस्था का आधार

टिप्पणी

भूमध्य रेखा से जो पवनें लगातार ऊपर उठती हैं, वे धीरे-धीरे ध्रुवों की ओर घूमने के साथ–साथ पृथ्वी की गति के प्रभाव से उपयुक्त मध्य अक्षांशों के निकट एकत्रित होने लगती है। इससे यहाँ एकत्रित पवनों को नीचें उतरने को बाध्य होना पड़ता हैं। वायु नीचे उतरने से यहाँ भी पवनें शान्त रहती हैं अतः इन्हें **अश्व अक्षांश के शान्त खण्ड** भी कहते है। पुराने समय में व्यापारी लोग जब पालदार जहाजों में व्यापारिक वस्तुए एवं घोड़े व अन्य जानवर ले जाया करते थे, तब इन अक्षांशों में इनके जहाज शान्त वायु के कारण आगे नहीं बढ़ पाते थें उनके डूबने का भी डर रहता था। अतः जहाजों का भार कम करने के लिए ये व्यापारी कुछ घोड़ों को समुद्र में फेंक दिया करते थे। तभी से इन्हें **अश्व अक्षांश** (Horse latitude) का शान्त खण्ड भी कहा जाता है। अतः यह वायुदाब पेटी **गति रचित** है।

3. उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटियाँ (Sub-polar Pressure Belts)– ये निम्न वायुदाब की पेटियाँ दोनों गोलार्द्धों में 60° से लगभग 70° अक्षांशों के मध्य फैली रहती है। इसके कारण वायुमण्डल का स्तर पतला हो जाता है अर्थात् वायुमण्डल कम मोटा पाया जाता हैं। पृथ्वी के घूमने के कारण ध्रुवीय प्रदेशों से पवनें बाहर की ओर बिखरनें लगती हैं। अतः यहाँ वायु की मात्रा एवं वायुदाब घटने लगते है। आर्कटिक व अण्टार्कटिक वृत्तों कें समीप वायुदाब बहुत कम रह जाता है। ठीक ध्रुवीय प्रदेश के बर्फीलें प्रदेश व कठोर सर्दी के कारण इसका प्रभाव उपध्रुवीय प्रदेश में उपयुक्त अक्षांश के मध्य स्पष्ट देखा जाता है। इस प्रकार यह वायुदाब पेटी भी **गति रचित** है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में यह पेटी अधिक स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जल की अधिकता के कारण वायु का भँवर पड़ता है जिससें वायु इधर–उधर सिमट जाती हैं। इस कारण वायु की हल्की परत बन जाती हैं जिससे वायुदाब कम होता हैं।

4. ध्रुवीय उच्च वायुदाब पेटियाँ (Polar High Pressure Belts)– ध्रुवीय प्रदेशो में कठोर सर्दी बर्फीले क्षेंत्रो का विस्तार निरन्तर हिमपात एवं सौर उर्जा की विशेष कमी आदि कारणों से तापमान हिमांक बिन्दु से नीचे पाये जाते है। इस कठोर सर्दी के प्रभाव से ही वहाँ निरन्तर उच्च दाब वाली सघन वायु की पेटी पाई जाती है। यही पर दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका महाद्वीप एवं उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीनलैण्ड एवं निकट के द्वीपों में बर्फ का स्थायी विस्तार भी पाया जाता है। अतः ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटी **ताप रचित** हैं।

इस प्रकार भूतल पर विषुवत्रेखीय निम्न वायुदाब की पेटी एवं दोनों ध्रुवों की उच्च वायुदाब की पेटियाँ अर्थात तीन पेटियाँ **ताप रचित** हैं। शेष चार पेटियाँ अर्थात दोनों अयनवत्तीय उच्च वायुदाब की एवं दोनों उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की पेटियाँ **गति रचित** हैं।

वायुदाब पेटियों का ऋतुवार खिसकना (Seasonal Shifting of Pressure Belts)

पृथ्वी के अपनी कीली पर 23.5° झुकी होने से वर्षभर सूर्य की किरणें एक ही अक्षांश पर लम्बवत् नहीं चमकतीं। इसी के प्रभाव से वायुदाब की पेटियों के

टिप्पणी

विस्तार में भी कुछ परिवर्तन आ जाता है। गर्मियों में जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तो ये पेटियाँ 5° के आसपास उत्तर की ओर एवं सर्दियों में जबकि सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है, ये पेटियाँ औसत स्थिति से लगभग 5° दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं, जबकि आदर्श या सामान्य स्थिति केवल 21 मार्च एवं 23 सितंबर के आसपास ही रहती हैं जब सूर्य विषुवत् रेखा पर सीधा चमकता हैं अर्थात विषुवत्रेखीय पटट्ी 5°–5° के स्थान पर 0° से 10° के मध्य ऋतु के अनुसार उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्ध में खिसक जाती हैं। इसी प्रकार उपोष्ण कटिबन्धीय पेटी भी खिसक जाती है। उपध्रुवीय पेटी भी इस प्रकार ध्रुव की ओर निम्न अक्षांशों की ओर खिसक जाती है। इसका अन्तिम प्रभाव ध्रुवीय प्रदेशों पर विशेषकर उत्तरी ध्रुवीय प्रदेशों में महाद्वीपीय विस्तार के कारण स्पष्ट दिखाई देता है क्योंकि यहाँ ग्रीष्मकाल में ध्रुवीय पट्टी बहुत सँकरी पटट्ी में सिकुड़ जाती है। सर्दियों में उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपों पर कठोर सर्दी के प्रभाव के कारण ध्रुवीय निम्न भार की पेटी का स्थान उच्च भार की पेटी ले लेती है। तब यहाँ अयनवृत्तीय एवं ध्रुवीय दोनों उच्च भार पेटियाँ आपस में मिल जाती है। अतः जहाँ उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपीय विस्तार मध्य अक्षांशों में सबसे अधिक रहने से ऋतुवार वायुदाब में उपयुक्त चित्र के अनुसार विशेष विसंगतिपूर्ण परिवर्तन हो जाते है, वही दक्षिणी गोलार्द्ध में भूखण्ड सँकरे होते जाने एवं महासागरीय विस्तार मध्य अक्षांशों में विशेष महत्वपूर्ण होने से वायुदाब की पेटियों में सामान्य या औसत वितरण स्वरूप से कम विचलन पाया जाता है, किन्तु यहाँ अण्टार्कटिका महाद्वीप के बर्फीले प्रभाव से ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटी वर्षभर प्रबल या सुविकसित बनी रहती है। इसी के प्रभाव से सर्दियों में उपध्रुवीय निम्न भार की पेटी भी विशेष सिकुड़ जाती है। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध की उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटी गर्मियों में अधिक नही फैल पाती।

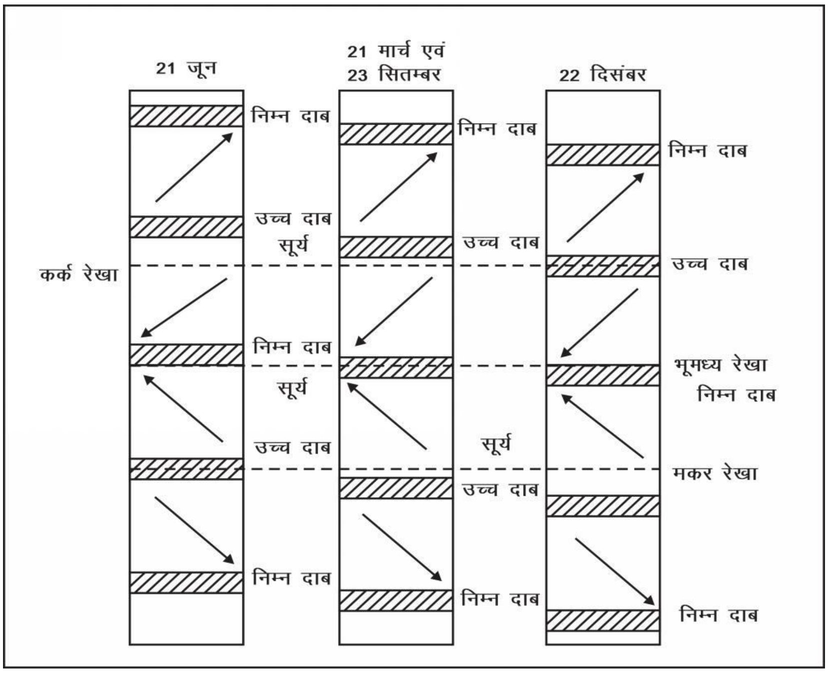

चित्र क्र. 2.3: वायुदाब एवं पेंटियों का ऋतुवार खिसकना

टिप्पणी

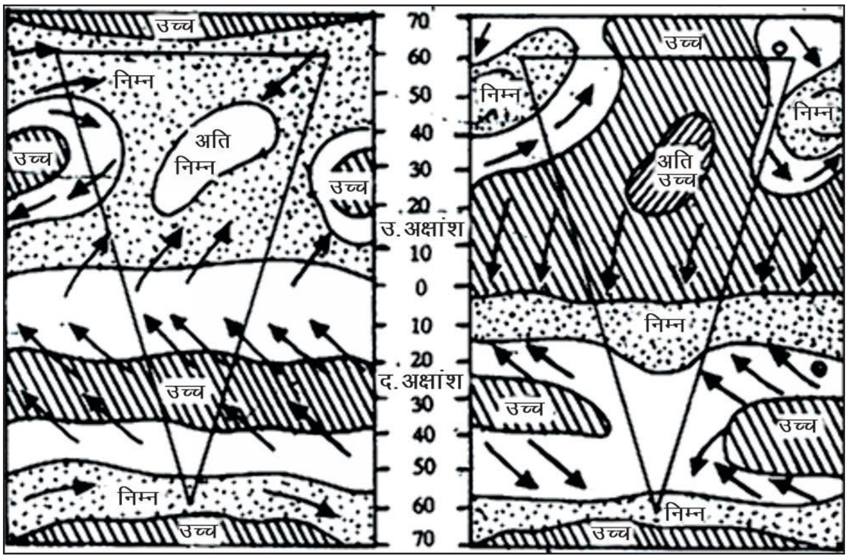

चित्र क्र. 2.4: वास्तविक जल थल के विस्तार का वायुदाब पेटियों के ऋतुवार वितरण स्वरुप पर विशेष प्रभाव

वायुदाब पेटियों का विस्थापन (Displacement of Pressure Belts)

वायुदाब पेटीयाँ सदैव स्थायी नहीं रहती। पृथ्वी के अपनी धुरी पर 23.5° झुके होने तथा वार्षिक गति परिक्रमण के कारण उसकी सूर्य से सम्बन्धित स्थिति बदलती रहती है। 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत् होता है, तब ध्रुवीय उच्चदाब को छोड़कर सभी वायुदाब पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती है।

विषुवत् रेखीय निम्न दाब पेटी का विस्तार 0° से 10° अक्षांश के मध्य तथा उपोष्ण कटिबंधीय उच्चदाब पेटी का विस्तार 30°–40° के मध्य हो जाता है। 23 सितम्बर को सूर्य विषुवत् रेखा पर लम्बवत् चमकता है, तब वायुदाब पेटियाँ पुनः अपने स्थान पर आ जाती है। 23 दिसम्बर को सूर्य मकर रेखा पर लम्बवत् होता है तब सभी वायुदाब पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक आती है तथा 21 मार्च को विषुवत् की स्थिति में सभी वायुदाब पेटियाँ औसत आदर्श स्थिति में लौट जाती है। वायुदाब व पेटियों के विस्थापन से ऋतु परिवर्तन के साथ ही स्थायी पवनों की पेटियाँ भी विस्थापित होती है। इसका परिणाम यह होता है कि विश्व के कुछ प्रदेशों में वर्ष में भिन्न-भिन्न जलवायु सूत्रपात होता है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

1. वायुदाब दर्शाया जाता है–
   (अ) समदाब रेखाओं द्वारा   (ब) समताप रेखाओं द्वारा
   (स) समलवण रेखाओं द्वारा   (द) उपयुक्त में से कोई नहीं।
2. तापमान अधिक होता है तो वायुदाब होता है–
   (अ) अधिक   (ब) कम
   (स) मध्यम   (द) अपरिवर्तनीय

2.3 वायुमण्डलीय परिसंचरण (Atmosphere Circulation)

टिप्पणी

वायुमण्डलीय परिसंचरण का सामान्य अर्थ है धरातल पर तथा उसके ऊपर वायुमण्डल में वायुदाब प्रवणता के कारण पवनों का गतिशील होना। धरातल पर तापमान की भिन्नता के कारण वायुदाब की भिन्नता पैदा होती है।

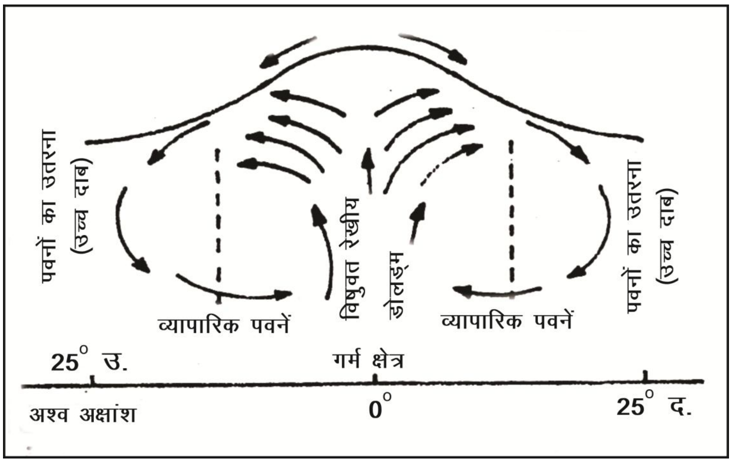

चित्र क्र. 2.5: वायुमण्डलीय परिसंचरण

इस भिन्नता को दूर करने के लिये ही वायु गतिशील होती है। यह पहले ही बताया जा चुका है की निम्न वायुमण्डल के ऊपर क्षोभमण्डल की ओर ऊष्मा का संवाहनिक स्थानान्तरण होता है। इसी प्रकार निम्न अक्षांशों से उच्च अक्षांशों की ओर ऊष्मा का क्षैतिज रुप में अथवा अभिवाहनिक स्थानान्तरण होता है। वायुमण्डल में ऊष्मा के इस लम्बवत् तथा क्षैतिज स्थानान्तरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वायुमण्डल में बड़े पैमाने पर परिसंचरण होता रहता है। जलवायविक दृष्टि से वायु का लम्बवत् स्थानान्तरण बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि इससे मेघ तथा वर्षा की उत्पत्ति होती है।

फ्रिन्च एवं **ट्रिवार्था** के अनुसार, "वायुमण्डलीय परिसंचरण प्रकृति द्वारा वायुदाब की असमानताओं को दूर करने का प्रयास है"। **हम्फ्री** के शब्दों में "वायुमण्डलीय परिसंचरण तापीय भिन्नताओं से उत्पन्न तथा सन्तुलित एक गुरुत्वाकर्षण परिघटना है"। (The atmospheric circulation is a gravitational phenomenon induced and maintained by temperature differences)

2.3.1 वायुमण्डलीय परिसंचरण को नियन्त्रित करने वाले कारक (Factors Controlling Atmosphere Circulation)

वायुमण्डलीय परिसंचरण तथा उसकी दिशा को नियंत्रित करने वाले कारक निम्नलिखित है–

टिप्पणी

1. दाब प्रवणता (Pressure gradient)– किन्हीं दो स्थानों के बीच वायुदाब के अन्तर को दाब प्रवणता (Pressure or barometric gradient)– कहते हैं। जब समदाब रेखाएँ परस्पर दूर खिंची होने पर प्रवणता कम होती है। दाब प्रवणता से ही पवन का संचार होता है दाब तथा पवन संचार में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पवन अधिक दाब से कम दाब की ओर चलती है। वायुदाब प्रवणता के सम्बन्ध में दो नियम महत्वपूर्ण है–

(i) पवनें उच्चदाब से निम्नदाब की ओर समदाब रेखाओं को लम्बवत् काटती है।

(ii) पवन की गति वायुदाब प्रवणता पर निर्भर है।

उपयुक्त दोनों नियम आदर्श रुप में तभी पाये जाते है, जबकि पवनों पर किसी अन्य शक्ति का (बल) का प्रभाव न पड़े।

2. पृथ्वी की घूर्णन शक्ति या कोरियोंलिस बल (Earth's rotational force or Coriolis force)– धरातल पर प्रवाहित हवाओं की दिशा, वायुदाब तथा पृथ्वी की घूर्णन गति द्वारा निर्धारित होती है। यदि पृथ्वी में अक्षीय गति नहीं होती तो हवायें समदाब रेखाओं के समकोण की दिशा में प्रवाहित होती, परन्तु पृथ्वी की अक्षीय गति के कारण हवाओं की दिशा में विक्षेप हो जाता है। इसे ही विक्षेप बल कहा जाता है। इस बल की खोज फ्रांसीसी गणितज्ञ जी.जी. कोरियालिस थे, इसलिए इसे कोरियालिस बल भी कहा जाता है।

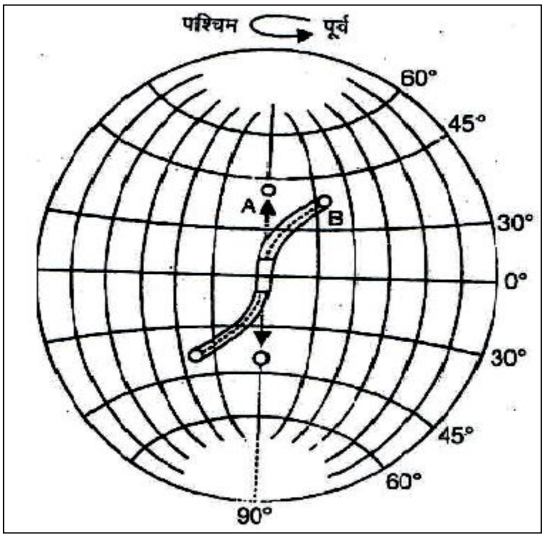

चित्र क्र. 2.6: पृथ्वी की घूर्णन शक्ति का प्रभाव

(i) फैरल का नियम– पृथ्वी का परिभ्रमण पश्चिम से पूर्व की ओर होने के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में पवनें अपनी दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर मुड़ जाती है।

टिप्पणी

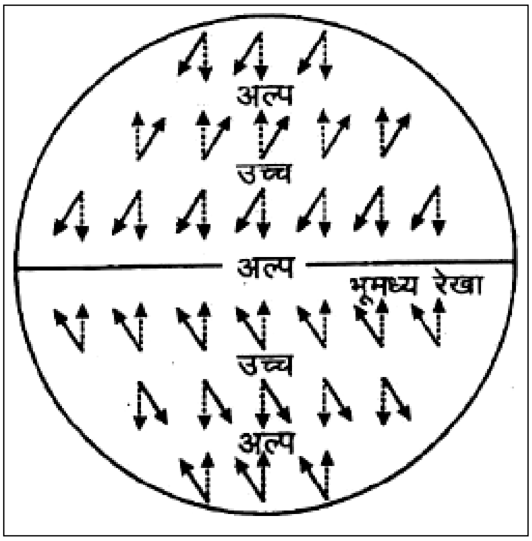

चित्र क्र. 2.7: फैरल के नियमानुसार पवनों की दिशा में विक्षेपन

(ii) बाइज बैलट का नियम– इसके अनुसार जिस ओर पवन आ रही है उस ओर मुँह करके खड़े होने पर न्यून वायुदाब उत्तरी गोलार्द्ध में बायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दायीं ओर होगा।

(iii) कोरिऑलिस का नियम– इन्होंने सन् 1844 में फैरल के नियम को गणितीय रुप से सिद्ध किया। इनके अनुसार पवन की दिशा अपकेन्द्री या केन्द्रीपसारी बल तथा अभिकेन्द्री या गुरुत्वाकर्षण बल से प्रभावित होती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय है–

- पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण कोई भी गतिशील वस्तु बाहर की ओर फेंक दी जाती है– यह विक्षेप बल या कोरिऑलिस बल कहलाता है।
- प्रत्येक स्थान पर विक्षेप बल समान नहीं होता। यह विषुवत्रेखा पर सबसे कम तथा ध्रुवों पर सर्वाधिक होता है।
- अपकेन्द्री बल वायु की गति का वर्ग होता है। वायु की गति तीव्र होने पर अपकेन्द्री बल तीव्र होता है।
- यदि वायु की दिशा पृथ्वी की धुरी की ओर (विषुवत्रेखा से ध्रुवों की ओर) है तो वायुकी गति तथा अपकेन्द्री बल में वृद्धि होती है।

(iv) हैडले का नियम– ग्लोब पर प्रत्येक अक्षांश एक वृत्त होता है। विषुवत्रेखीय वृत्त सबसे बड़ा होता है, ध्रुवों की ओर अक्षांशीय वृत्त छोटे होते जाते है। पृथ्वी 24 घण्टे में अपनी धुरी पर एक घूर्णन पूरा करती है। विषुवत्रेखीय सबसे बड़ा होता है ध्रुवों की ओर अक्षांशीय वृत्त छोटे होते जाते है। पृथ्वी 24 घण्टे में अपनी धुरी पर एक घूर्णन पूरा करती है। विषुवत्रेखा पर इसकी गति सर्वाधिक (1000 किमी प्रति घण्टा) होती है तथा ध्रुवों पर सबसे कम होती है। निम्न अक्षांशों में जब पवन सीधी रेखा में प्रवाहित होती है तो निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने से पूर्व ही वह स्थान अक्षीय गति के कारण आगे बढ़ जाता है और पवन पीछे रह जाती है। इसके

विपरीत उच्च अक्षांशों में पवन अपने निर्दिष्ट स्थान से आगे निकल जाती है। इस प्रकार पवन अपने मार्ग से विचलित होती है, इसी क्रिया को विक्षेप कहते है।

3. भूविक्षेपी पवनें— मुक्त वायुमण्डल में 500 मीटर से अधिक ऊँचाई पर पृथ्वी के धरातलीय घर्षण का प्रभाव प्रायः शून्य होता है। अतएव हवाओं का सन्तुलन दबाव शक्ति तथा घूर्णन शक्ति के मध्य होता है। इस सन्तुलन शक्ति को भूविक्षेपी शक्ति कहते हैं। दाब प्रवणता की शक्ति तथा पृथ्वी के परिभ्रमण घूर्णन की शक्ति दोनों एक दूसरे को विपरीत दिशा में प्रवाहित करती है जिससे पवनें समदाब रेखाओं के समान्तर चलने लगती है, इन्हें भूविक्षेपी पवन कहते है।

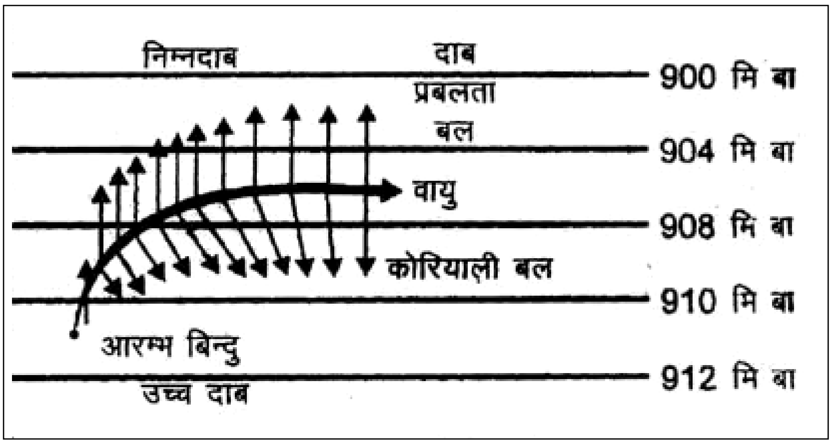

चित्र क्र. 2.8: भूविक्षेपी पवनें

इन हवाओं की गति अक्षांशों के विपरीत अनुपात में बदलती रहती है। विषुवत्रेखा को छोड़कर अन्यत्र इन हवाओं की गति मुक्त वायुमण्डल की हवाओं के समान रहती है। यह भूविक्षेपी सन्तुलन बहुत धीमे होता है।

4. अभिकेन्द्री बल (Centrifugal force)— चक्राकार में घूमते हुए पदार्थ में अभिकेन्द्री शक्ति सक्रिय होती है। इसी बल के कारण पवनें केन्द्र की ओर वक्राकार रुप से गतिशील होती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति स्थैतिक होती है, जबकि अभिकेन्द्री शक्ति गतिशील पदार्थ पर लागू होती है। अभिकेन्द्री शक्ति की मात्रा सामान्यतः बहुत कम होती है। विषुवत्रेखा के निकट (जहाँ घूर्णन शक्ति का प्रभाव न्यून होता है) उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात इस शक्ति से विशेष रुप से प्रभावित होते हैं।

5. घर्षण शक्ति (Frictional power)— यह शक्ति धरातल से 500 मीटर की ऊँचाई तक अधिक सक्रिय होती है। इससे अधिक ऊँचाई पर इस शक्ति का प्रभाव घटते जाने से पवनों का तिरछापन भी घटता जाता है। धरातल के निकट स्थल के ऊपर पवनों में 25^o से 35^o तथा जल के ऊपर 10^o से 20^o तिरछापन होता है, किन्तु 500 मीटर से 1000 मीटर की ऊँचाई पर पवनें धरातल के समान्तर हो जाती है। इसे इकमेन सर्पिल प्रभाव कहते है।

2.3.2 वायुमण्डलीय परिसंचरण के प्रकार (Types of Atmospheric Circulation)

टिप्पणी

वायुमण्डलीय परिसंचरण तीन घटकों द्वारा नियंत्रित होता है– स्थानीय घटक, कालीक घटक तथा ऊँचाई घटक इन आधारों पर वायुमण्डलीय परिसंचरण को तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है–

1. प्राथमिक या सामान्य परिसंचरण– इसके अंतर्गत ग्रहीय पवनों को सम्मिलित किया जाता है जो भूमण्डलीय वायुदाब की पेटियों से सम्बन्धित है। इस परिसंचरण में व्यापारिक, पछुआ तथा ध्रुवीय पवनें प्रमुख हैं इस सामान्य परिसंचरण में भूमण्डलीय वायुमण्डलीय परिसंचरण के परिवर्तनशील परिसंचरण एवं दक्षिण दोलन।

2. द्वितीयक परिसंचरण– इसके अंतर्गत चक्रवातीय एवं प्रतिचक्रवातीय परिसंचरण, मौसमी परिसंचरण तथा मानसून पवनों आदि को सम्मिलित करते है।

3. तृतीयक परिसंचरण– इसके अंतर्गत स्थानीय पवनों यथा चिनकू, सिरोको, हरामट्टान सान्ताआना आदि तथा दैनिक पवनों यथाः स्थल समीर एवं जल समीर पर्वत एवं घाटी समीर को सम्मिलित किया जाता है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

3. कोरिओलिस बल का उदभव किस देश मे हुआ?

(अ) फ्रांस (ब) अमेरिका

(स) जर्मनी (द) यूरोप

2.4 ग्रहीय पवनें, मौसमी पवनें, स्थानीय पवनें (Planetary Wind, Seasonal Wind, Local Wind)

2.4.1 पवनें (Winds)

जिस प्रकार तापमान एवं वायुदाब में प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं, उसी प्रकार पवन एवं वायुदाब में भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं क्योंकि किसी स्थान पर तापमान ऊँचे रहने से जब हवा गर्म होकर ऊपर उठती हैं तो हवा के स्थानान्तरित होने के कारण वहाँ का वायुदाब कम हो जाता है। भूतल पर जहाँ भी वायु कम होगी, उस ओर निकटवर्ती भागों से या अपेक्षाकृत उच्च वायुदाब वाले भागों से पवनें बहने लगेंगी। **फिन्च** एंव **ट्रिवार्था** के शब्दों में, **"पवन प्रकृति का वह रत्न हैं जिसके द्वारा वायुदाब की असमानता दूर होती है''**। (It (wind) represents nature's attempt to correct pressure inequqlities) **बायर्स** के अनुसार, ''पवन मात्र गतिशील वायु है, जिसका मापन उसके क्षैतिज घटक में किया जाता है''। (Wind is a moving air which is measured in its horizontal movement)

हम्फ्रीज के अनुसार, ''वायुमण्डलीय गतियाँ व आवर्तन, तापीय विभिन्नताओं द्वारा जनित गुरूत्वाकर्षणीय क्रिया है''।

2.4.2 पवनों का वर्गीकरण (Classification of Winds)

पृथ्वी की सतह पर पवनें निरन्तर गतिशील रहती है। जिन भागों में एक ही दिशा से एवं प्रायः समान रूप से वर्षभर पवनें चलती हैं, उन्हें **स्थायी, सनातनी या ग्रहीय पवनें** कहते है। जिन भागों में मौसम विशेष में स्थानीय वायुदाब व्यवस्था विकसित होने से मौसमवार पवनें चलती है, उन्हें **मौसमी या मानसुनी** पवनें कहते है। इसी भाँति समुद्री तट के निकट **सामायिक पवनें** दिन व रात में जल व भाग पर स्थानीय रूप से वायुदाब बदलने सें चलती है। इन्हें **जल व स्थल समीर** कहते है। इसके अतिरिक्त, विश्व के सभी भागों में स्थानीय पवनें भी चलती हैं। अतः भूतल पर बहने वाली पवनों को निम्न भागों उपविभाजित किया जा सकता है–

1. ग्रहीय, सनातनी या स्थायी पवनें (Planetary, Global or permanent Winds)
2. मौसमी या सामयिक पवनें (Seasonal or Periodic winds)–
   (i) मानसून पवनें (Monsoon winds)
   (ii) जल–स्थल समीर (Land-sea Breeze)
   (iii) पर्वत एवं घाटी समीर (Mountain and Valley Breeze)
3. स्थानीय पवनें (Local Winds)

1. ग्रहीय, सनातनी या स्थायी पवनें (Planetary, Global or Permanent Winds)– पृथ्वी की सतह पर पवनें उच्च वायुदाब से निम्न वायुदाब की ओर पृथ्वी की गति एवं फैरल के नियम के अनुसार चलती हैं। अतः जब पवनें स्थायी या सनातनी वायुदाब की पेटियों के मध्य इस प्रकार से चलती हैं, तो उन्हें **ग्रहीय, सनातनी या स्थायी पवनें** कहते हैं। भूतल पर दोंनों गोलार्द्धों के उपोष्ण प्रदेशों एवं ध्रुवीय प्रदेशों पर स्थायी उच्च भार की दशाएँ पाई जाती हैं। यहीं सें पवनें निम्न वायुदाब के प्रदेशों (विषुवत् रेखा एवं उपध्रुवीय प्रदेश) की ओर चलती हैं किन्तु पृथ्वी की दैनिक गति से (चित्र की भाँति) गोलार्द्धों में दक्षिणावर्त या वामावर्त दिशा में मुड़ जाती है। इस प्रकार भूमण्डल पर जब पवनें उपोष्ण उच्च वायुदाब के प्रदेशों से विषुवत्रेखीय निम्न वायुदाब की ओर बहती हैं तो उन्हें **व्यापारिक पवनें** कहतें है। इसी प्रकार जब उपोष्ण उच्च वायुदाब के प्रदेशों से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की ओर बहने वाली पवनों को **ध्रुवीय पवनें** कहते हैं। ऐसी ग्रहीय या सनातनी पवनें निम्नांकित है–

(i) व्यापारिक पवनें (उत्तर–पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी व्यापारिक पवनें)।

(ii) जहाँ दोनों व्यापारिक पवनें मिलती हैं, ऐसे विषुवत्रेखीय भाग में शान्तखण्ड की या डोलड्रम की विशेष पेटी पाई जाती है।

(iii) अश्व अक्षांश की शान्त पेटी।

(iv) पछुआ पवनें एवं ध्रुवीय सीमान्त।

(v) ध्रुवीय पर्वी पवनें।

(i) व्यापारिक पवनें (Trade winds)– उपोष्ण कटिबन्धींय उच्च भार के प्रदेशों से विषुवत्–रेखीय निम्न वायुदाब प्रदेशों की ओर ये पवनें चलती हैं।

टिप्पणी

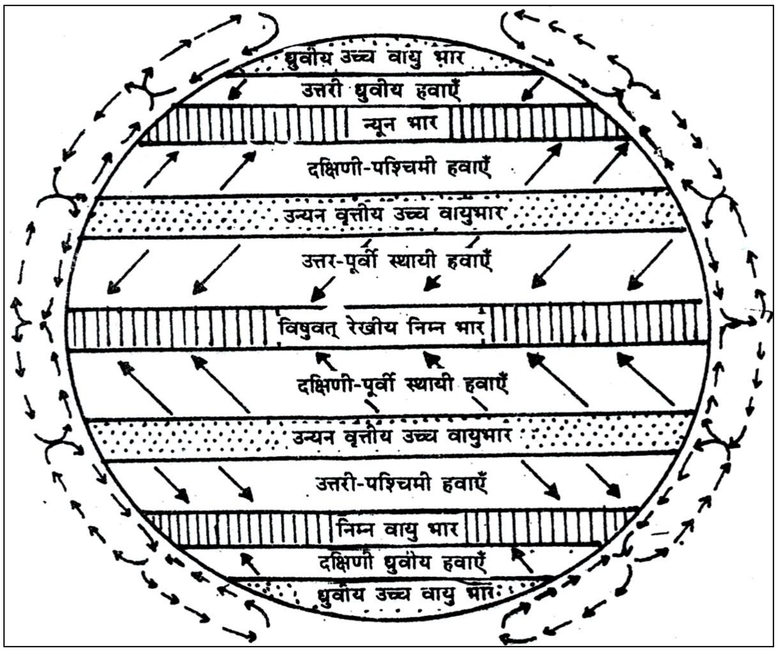

चित्र क्र. 2.9: वायुदाब पेटियाँ ग्रहीय या सनातनी पवनें

पृथ्वी की दैनिक गति के कारण ये पवनें पूरब की ओर से प्रारम्भ होती है अतः 30°–35° उत्तरी अक्षांश से विषुवत् रेखा की ओर चलने वाली पवनों को **उत्तर पूर्वी व्यापारिक पवनें** एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में 30°–35° दक्षिणी अक्षांश रेखा से विषुवत् रेखा की ओर चलने वाली पवनों को **दक्षिण पूर्वी व्यापारिक पवनें** कहते है। पवनों की दिशा का नाम जहाँ से ये प्रारम्भ होती हैं, उसी के अनुरूप रखा जाता है। अधिकांश व्यापारिक पवनों का उद्‌गम उष्णकटिबन्धीय सागरों के पूर्वी भाग से प्रारम्भ होता है।

जैसा कि वायुदाब पेटियों के अन्तर्गत समझाया गया है। विषुवत्‌रेखा के निकट संवहन धाराएँ चलनें से क्षैतिज पवनें नही चलती। अतः वहाँ पवनें शान्त रहती हैं। 5° अक्षांश तक पहुँचने के पश्चात पवनें ऊपर उठने लगती हैं। भारतीय उपमहाद्वीप इसका अपवाद हैं। इसे मानसूनी पवनों के अन्तर्गत पृथक से समझाया गया है।

(ii) विषुवत्‌रेखीय शान्त खण्ड या डोल्ड्रम की पेटी– इस पेटी का विस्तार 5° उत्तर सें 5° दक्षिण अक्षांशों के मध्य अर्थात 10° अक्षांश **चौडी पेटी में** है। इसका सामान्य झुकाव कुछ दक्षिणावर्ती बना रहता हैं। मौसम के अनुसार इसमें कुछ अक्षांशीय परिवर्तन भी होता रहता है जैसा कि यहाँ चित्र में दर्शाया गया है। यह खण्ड निम्न तीन उपभागों में विषुवत् रेखा के निकट विस्तृत हैं।

टिप्पणी

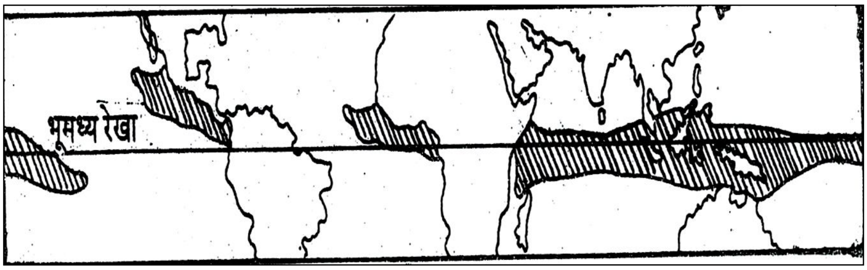

चित्र क्र. 2.10: विषुवत्रेखीय शान्त खण्ड या डोल्ड्रम की पेटी का विस्तार

- हिन्द प्रशान्त शान्त खण्ड की पूर्ववर्ती पेटी,
- गिनी की खाड़ी तट की अफ्रीकी शान्त खण्ड की पेटी एवं
- मध्यवर्ती अमेरिका की पश्चिमी तटीय शान्त खण्ड की पेटी है। इस अन्तिम पेटी का संशोधित विकसित रूप कैलिफोर्निया प्रायद्वीप के तट तक पाया जाता है।

(iii) अश्व या घोड़े के अक्षांशों की शान्त पेटी (Horse latitude peace belts)– यह पेटी 28° सें 35° अक्षांशों के मध्य पाई जाती हैं। वास्तव में यहाँ उच्च वायुदाब की स्थायी पेटी विस्तृत होने से पवनें शान्त रहती है। सागरों मे पवनें नही चलने से मध्ययुगीय पालदार जहाजों को इसे पार करनें में विशेष कठिनाई होती थी। मध्य महासागर में ऐसे समय कभी भी लुटने, डूबने या नष्ट होने का भय बना रहता था। अतः यहाँ पर जहाजों का भार घटाने के लिए व्यापारी घोड़े व अन्य कम कीमती किन्तु भारी सामान सागर में फेंक दिया करते थे। इसी सें यह **अश्व अक्षांश** (Horse Latitude) कहलाये।

यहाँ पर शान्त खण्ड का विकास मुख्यतः इसलिए हुआ कि विषुवत् रेखा से सवंहन क्रिया द्वारा जो पवनें ऊपर उठती हैं वे पृथ्वी की दैनिक गति से प्रभावित होकर ध्रुवों की ओर गतिशील होते समय मुडती जाती हैं, अतः उनका एक भाग अयन वृत्तों के बाद नीचे उतरने लगता हैं। नीचे उतरती हुई ये पवनें भारी व शुष्क होने से उच्च वायुदाब का क्षेत्र निर्मित करती हैं। शीतकाल में यह पट्टी दक्षिण की ओर खिसक जाने से यहाँ के उत्तरी भाग में पछुआ पवनें बहने लगती है। इसी प्रकार ग्रीष्म काल में कहीं–कहीं स्थानीय या मानसूनी पवनें भी बहती हैं।

व्यापरिक पवनें एवं उष्णकटिबन्धीय मरूस्थल (Trade winds and Tropical Desert)

व्यापरिक पवनें महासागरों से महाद्वीपों के पूर्वी तटों की ओर बहती हैं। इनके प्रभाव से इन अक्षांशों में पूर्वी तट पर वर्षभर वर्षा होती रहती हैं किन्तु पश्चिमी तट पर 18°–20° अक्षांशों के मध्य मानसूनी वर्षा या अन्य कारणों से वर्षा हो जाती हैं जबकि 15°–20° से 35° अक्षांशों के मध्य पवनें पूरब से पश्चिम की ओर अर्थात पश्चिमी तट स्थल से सागर की ओर बहती हैं। अतः ऐसी पवनें वर्षा नही करती, उल्टे ये तटीय या प्रभावित प्रदेशों की नमी ही सोख लेती हैं। इसके साथ–साथ महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में निरन्तर शुष्कता बनी रहने से मरूस्थलीय दशाएँ पाई

टिप्पणी

जाती हैं। विश्व की सबसे चौड़ी विशाल अफ्रेशियाई (अफ्रीका + एशिया) की उष्ण मरूस्थलीय पट्टा भारत के थार मरूस्थल से पश्चिमी सहारा तक 18° पश्चिम से 17° पूर्वी देशान्तरों के मध्य विस्तृत हैं। इसका मुख्य कारण दोनों महाद्वीपों की सीमा रेखा निश्चित करती हैं। अन्य सभी अयनवृत्तीय स्थल खण्डों या महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में भी मरूस्थल पाये जाते हैं।

(iv) पछुआ पवनें एवं ध्रुवीय सीमान्त (Westerlies and Polar Winds)– उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च भार की पेटी या अश्व अक्षांशों से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की पेटी की ओर चलने वाली पवनें पश्चिम से पूरब की ओर प्रवाहित होती हैं। अतः इन्हें **पछुआ पवनें** (Westerlies) कहते हैं। यें पवनें 35° सें 65° अक्षांशों के मध्य चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल खण्डों के विशेष विस्तार के प्रभाव से भी यह पवनें शीतऋतु में अधिक दक्षिणवर्ती मार्ग अपनाकर 28°–30° अक्षांश तक चलती हैं। इनकी गति उत्तरी गोलार्द्ध मे सामान्य से धीमी रहती है, किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध की पछुआ पवनें अधिक तेज गति से चलती हैं क्योंकि 45° से 65° अक्षांशों के मध्य के खुले महासागरों मे समभार रेखाएँ बहुत पास–पास आ जाती हैं। 40° अक्षांश पर अधिक वेग से बहने के कारण इन्हे **गरजती चालीसा** (Roaring Forties) **या वीर पछुआ पवनें** (Brave westerlies) 50° अक्षांश पर **भंयकर पचासा** (Furious Fifties) तथा 60° अक्षांशों पर **चीखता साठा** (Shrieking Sixties) कहा जाता है।

पछुआ पवनें जिस क्षेत्र में ध्रुवीय पवनों से 55° से 70° उत्तरी अक्षांशों के मध्य मिलती हैं, वहाँ दोनों पवनों में स्पष्टतः विपरीत गुण होने से वहाँ पर **वाताग्र** (Fronts) बनते हैं। ऐसे वाताग्रों या सीमान्तो की सीमा को ही **ध्रुवीय सीमान्त** कहते हैं। ऐसे सीमान्त के जिस भाग में शीतल या ठण्डी ध्रुवीय हवा का प्रभाव रहता है, उसे **शीत सीमान्त** (Cold Front) एवं जिस क्षेत्र में गर्म हवा प्रवेश कर अपना प्रभाव बढ़ाती है उसको **उष्ण सीमान्त** (Warm Front) कहतें है। चूँकि पछुआ पवनें गर्म सागरों से तर होकर महाद्विपों के पश्चिमी तटों की ओर उपयुक्त उष्ण सीमान्त बनाकर प्रवेश करती हैं, अतः इनके प्रभाव से वहाँ **शीतोष्ण चक्रवातों** का विकास होता है। यहाँ दो चक्रवातों के मध्य प्रतिचक्रवातीय दशायें भी पाई जाती है। इस प्रकार जिस क्षेत्र में ठण्डी ध्रुवीय एवं पछुआ पवनें आमने–सामनें चलती है, वह क्षेत्र लहरदार या अनियमित आकार का होता हैं। अतः इसे **अनियमितता का क्षेत्र** (Zone of Discontinuity) भी कहते हैं। इन पवनों के प्रभाव से मध्यवर्ती अक्षांशों के पश्चिमी भागों में दूर–दूर तक वर्षभर वर्षा होती रहती है एवं बीच–बीच में बदलता हुआ सुहावना मौसम बना रहता है। वायुदाब की पेटियाँ खिसकने के कारण ही इनका प्रभाव शीतऋतु में अश्व अक्षांशों की ओर बढ़ जाता है और इन्हीं अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में रसदार फल एवं मेवों की फार्मिंग का विख्यात भूमध्यसागरीय प्रदेश पाया जाता है।

(v) ध्रुवीय पवनें (Polar winds)– ध्रुवीय या ठण्डे प्रदेशों से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब के प्रदेशों की ओर लगभग 68°–70° अक्षांशों तक बहने वाली पूर्वी पवनों को ही **ध्रुवीय पवनें** कहते है। ये अधिक ठण्डी, भारी एवं प्रायः शुष्क होती हैं। इनका प्रवाह क्षेत्र शीतकाल में कुछ अधिक दक्षिण तक हो जाता हैं क्योकि तब

ध्रुवीय उच्च भार की पेटी मौसमी परिवर्तन के प्रभाव में कुछ अधिक निचले अक्षांशों तक (65° के आस–पास) प्रवाहित होने लगती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल खण्डों पर उच्च वायुदाब का विशेष विस्तार होने से यहाँ ये पवनें थोड़े समय के लिए (नवम्बर से फरवरी तक) विशेष उग्र या महाद्विपों पर तीव्र या बर्फीले तूफानों (Brizards) की भाँति चलती हैं। समुद्री क्षेत्रों में ध्रुवीय पूर्वी एवं आर्द्र पछुआ पवनों के मिलने से वाताग्र एवं चक्रवातों का विकास एक निरन्तर घटना है। भारी ध्रुवीय पवनें सामान्यतः धीमी गति से बहती हैं।

पृथ्वी अपनी कीली पर लम्बवत् अक्ष से 23.5° झुकी होने से उसका परिक्रमा मार्ग अण्डाकर बना रहता है। इसके साथ सूर्य की स्थिति भी कर्क एवं मकर रेखाओं के मध्य गतिशील बनी रहती हैं 21 जून को जब सुर्य की लम्बवत् किरणें कर्क रेखा पर चमकती हैं तो उसे उत्तरायण की चरम स्थिति कहते है। इसी प्रकार जब सूर्य की किरणें मकर रेखा पर (22 दिसम्बर) सीधी या लम्बवत चमकती हैं तो उसे दक्षिणायण की चरम स्थिति कहते है। इसी के प्रभाव से गोलार्द्धों (उत्तरी व दक्षिणी) का मौसम बदलता रहता है एवं वायुदाब तथा पवनों की पेटियाँ खिसकती रहती हैं। वायुदाब की स्थिति विकसित होने एवं वायुदाब व पवनों की पेटियाँ खिसकनें में एक से डेढ़ माह का अन्तर सामान्यतः आ जाता है।

21 जून को जब सूर्य कर्क रेखा लम्बवत् या शीर्ष पर चमकता है, तब सभी वायुदाब एवं पवनों की पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती है। इसके प्रभाव से पछुआ पवनें अधिक उत्तर में बहने लगती है। उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब 30° से 37° उत्तर की ओर एंव भूमध्यरेखीय निम्न दाब पेटी 0°–5° उत्तर से हटकर 0° से 10° उत्तर के मध्य फैल जाती है। अतः व्यापारिक पवनों का पेटी भी उसी के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर खिसक जाती है 23 सितम्बर एवं 21 मार्च को सूर्य की किरणें जब विषुवत् रेखा पर सीधी चमकती है तब भूतल पर वायुदाब एवं पवन की पेटियाँ अपनी औसत या सामान्य स्थिति में आ जाती है। 22 दिसम्बर को जब सूर्य की किरणें मकर रेखा पर लम्बवत् चमकती है, तब सभी वायुदाब एवं पवन पेटियाँ दक्षिण की ओर 5° से 7° अक्षांश तक खिसक जाती हैं। इसके प्रभाव से उत्तर ध्रुवीय उच्च भार की पेटी अधिक नीचे आ जाती है एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका बर्फीले महाद्वीप के प्रभाव के कारण उपध्रुवीय निम्न भार की पेटी कुछ सिकुड़ सी जाती हैं। इस प्रकार वायुदाब एवं पवनों की पेटियों का यह खिसकना एक निरन्तर क्रिया के रूप में जारी रहता है।

उपयुक्त हवाओं की पेटियों के खिसकनें की सामान्य प्रक्रिया में उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीपों के अधिक विस्तार के कारण स्थानीय वायुदाब की विसंगतियों की भाँति ही स्थानीय रूप से पेटियों में भी विसंगतियाँ पाई जाती हैं। इनका युरेशिया महाद्वीप एवं उत्तरी अमेरिका की पवनों की पेटियों एवं स्थानीय पवनों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। भारतीय उपमहाद्वीप एवं चीन में प्रभावी मानसूनी व्यवस्था एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की संशोधित मानसूनी व्यवस्था ऐसी ही विसंगतियों का परिणाम हैं।

टिप्पणी

2. मौसमी या सामयिक पवनें (Seasonal or Periodic Winds)– मौसमी पवनें वें हैं जो मौसम या समय के अनुसार चलती हैं। इन्हें निम्नलिखित **मानसूनी** तथा **सामयिक पवनों** के रूप में समझा जा सकता हैं–

(i) मौसमी या मानसून पवनें (Seaseonal or Monsoon Winds)– 'मानसून' शब्द मौसम से बना है। इसका अर्थ **उन हवाओं से है जो कि वर्ष में एक बार अपनी दिशा मौसम के अनुसार पूरी तरह बदल देती हैं।** मानसून को परिभाषित करते हुए **कोनराइड** ने लिखा हैं'' वास्तविक तापीय मानसून हवाओं से पूर्ण उत्क्रमण की आवश्यकता को बताता है। यह दो विपरीत विशेषता रखने वाले मौसमों में चलने वाली हवाओं के बीच 180° का कोण बनाती है। (A true thermal monsoon demands a complete reversal of winds, that is an angle of 180° between the dominant winds at extreme season) **कोपेन हान** तथा **एनगाट** के अनुसार,'' "मानसून पवन जल एवं स्थल समीरों का वृहद रूप है, और मानसूनों की वार्षिक अवधि की तुलना दैनिक अवधि में की जा सकती है।'' (Monsoon represents simply a land and sae breeze on a large scale and that annual period of the monsoon corresponds to the diurnal period of the breeze) **यू.के. बोस** के अनुसार, मानसून हवाएँ बड़े पैमाने पर जलीय तथा थलीय समीर है। (The monsoon is a land and sea breeze on a large scale) विश्व के उपोष्ण कटिबन्ध के कुछ महाद्वीपीय भाग ऐसे है जहाँ कि वायुदाब व्यवस्था मौसम के अनुसार अर्थात गर्मी व सर्दियों में पूरी तरह बदल जाती हैं। अतः वायु दिशा की व्यवस्था भी उसी आधार पर संशोधित हो जाती है या बदल जाती है। ऐसी आदर्श दशा दक्षिण एवं पूर्वी एशिया में विशेषतः पाई जाती है। अतः दक्षिण एशिया या भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित इस व्यवस्था को **उष्ण कटिबन्धीय मानसून** (Tropical Monsoon) एवं चीन व निकटवर्ती भागों के ऊँचे अक्षांशों में विकसित इस व्यवस्था को **शीतोष्ण कटिबन्धीय मानसून** (Temperate Monsoon) भी कहते हैं। वैसे संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण पूर्वी भागों में संषोधित या कम विकसित ऐसी मानसूनी दषा भी पाई जाती है। वहाँ पर ग्रीष्म काल में बीच–बीच में शीतल महाद्वीपीय वायु राशियों के प्रवाह से भी यह व्यवस्था पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका में पूरी तरह विकसित नही हो पाती। भारत में मानसून हवाएँ प्रायः छः माह के लिए दक्षिण–पश्चिम दिशा से एवं शेष काल में सर्दियों में उत्तर–पूरब दिशा से चलती हैं, जबकि चीन में ग्रीष्मकाल में पूरब से एवं शीतकाल में पश्चिम से पवनें चलती है। अतः जब भी पवनें समुद्र की ओर से (प्रायः ग्रीष्मकाल के उत्तरार्ध में) चलती हैं, तब सम्पूर्ण प्रभावित प्रदेश में धरातल के अनुसार वर्षा हो जाती है। इसलिए **मानसूनी वर्षा को पार्वत्य या धरातलीय वर्षा** भी कहते हैं।

मानसून पवनों का विकास (Development of Monsoon Winds)

मानसून पवनों के चलने का विकास या उत्पत्ति का आधार वायुदाब व्यवस्था में परिवर्तन एवं विक्षोभ–मण्डल की ऊपरी सीमा पर चलने वाली जेट स्ट्रीम पवनों को माना जाता हैं। उसकी उत्पत्ति के बारे में द्वितीय विश्व–युद्ध से पूर्व तक **तापीय** सिद्धान्त को ही मुख्य माना जाता था। अब इस बारे में नवीनतम शोध की जा

टिप्पणी

चुकी है। हिन्द महासागर में चलाये गये मोनेक्स (Monex) अभियान द्वारा एवं मौसमी व अन्य भू–उपग्रहों से तथा विक्षोभमण्डल से की गई नवीनतम खोजों से कई नये तथ्य स्पष्ट हो चुके है।

परम्परागत **तापीय सिद्धान्त** के अनुसार मानसून को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) ग्रीष्मकालीन मानसून (Summer monsoon)

(ii) शीतकालीन मानसून (Winter monsoon)

(i) ग्रीष्मकालीन मानसून (Summer monsoon)– ग्रीष्मकाल में मध्य व दक्षिण एशियाई महाद्वीप अधिक तेजी से गर्म हो जाते है। इसके प्रभाव से वहाँ कई महीने तक हिमालय से दक्षिण में थार मरूस्थल में एवं चीन के पश्चिमी शुष्क बेसिनों में विशेष गर्मी के कारण निम्न वायुदाब, (995 मिलीबार से भी कम) विकसित हो जाता हैं।

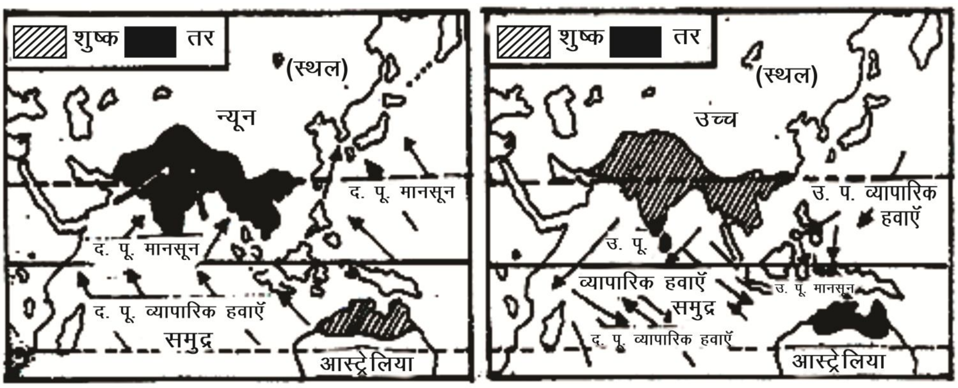

चित्र क्र. 2.11: ग्रीष्मकालीन दक्षिणी पश्चिमी मानसून एवं शीतकालीन उत्तरी पूर्वी मानसून

यह विषुवत् रेखा से भी कम होता हैं। यही नही भारतीय उपमहाद्वीप से लेकर उपध्रुवीय मध्य साइबेरिया तक इसका विस्तार रहता है। निम्न वायुदाब का एक क्षेत्र उत्तरी चीन में पींकिग (बीजिंग) के समीप तथा द्वितीय पाकिस्तान के उत्तरी–पश्चिमी भाग में विकसित हो जाता है। निम्न वायुदाब के क्षेत्र सागरीय भागों पर स्थित उच्च वायुदाब केंन्द्रों से चलने वाली पवनों कों अपनी ओर आकर्षित करते है। इसी के प्रभाव से दक्षिण में हिन्द महासागर की ओर से दक्षिण–पश्चिमी मानसून एवं पूरब में प्रशान्त महासागर की ओर से दक्षिणी हिन्द महासागर से उठनेवाली मानसूनी पवनें जो दक्षिणी पश्चिमी होती है, प्रायद्वीपीय भारत से टकराकर दो शाखाओं में बँट जाती हैं जिन्हें क्रमशः **अरब सागर का मानसून एवं बंगाल की खाड़ी का मानसून कहते है**। ये मानसून आर्द्र होता हैं क्योंकि ये जलीय भाग से स्थलीय भाग की ओर चलता है। अतः स्थलीय भागों पर वर्षा होती है। इस मानसून द्वारा भारत एवं चीन पर दूर–दूर तक मध्यम एवं भारी वर्षा होती है।

टिप्पणी

(ii) शीतकालीन मानसून (Winter monsoon)– शीतकाल में सूर्य की स्थिती दक्षिणायण होती हैं अतः सूर्य मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता हैं। इस समय एशिया महाद्वीप के स्थलीय भागों में तापमान बहुत नीचे पाए जाते हैं, जबकि जलीय भागों पर तापमान उच्च पाया जाता हैं अतः स्थानीय भागों पर उच्च वायुदाब एवं जलीय भागों पर निम्न वायुदाब विकसित होता है। अतः पवनें स्थल से जल की ओर चलने लगती है। इन्हे शीतकालीन मानसून के नाम से जाना जाता है। इन पवनों के द्वारा कोई वर्षा नहीं होती किन्तु जब जलीय भागों में प्रवेश करके आगे बढ़ती हैं और कोई स्थलीय भाग मिलता है तो अवश्य वर्षा करती है, जैसे तमिलनाडु तट शीतकाल में वर्षा प्राप्त करता है।

आधुनिक मत (Modern Views)

सन् 1960 के पश्चात किये गये निरन्तर ऊपरी वायुमण्डल व जेट स्ट्रीम प्रवाह के अध्ययन, मोनेक्स अभियान, विभिन्न भारतीय मौसमवेत्ताओं का अध्ययन एवं शोध, आदि के आधार पर मानसून उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक नये निष्कर्ष निकाले जा चुके हैं। अब तक इस सम्बन्ध में महान मौसमवेत्ता फ्लोन, रमण, कोटेश्वरम आदि की खोज विशेष महत्वपूर्ण मानी जाती रही हैं। अब पुणे एवं दिल्ली के मौसम विभाग में स्थापित उच्च क्षमता एवं विशेष संवेदनशील कम्प्यूटर के परिणाम भी उपग्रह की सहायता से सन् 1992 से ही प्राप्त होने लगें है। इससे भी सम्पूर्ण मानसूनी प्रक्रिया को समझने में विशेष सहायता मिली हैं एवं मानसून अगाध की भविष्यवाणी अधिक सत्य होने लगी हैं। अब ऊपरी जेट स्ट्रीम की गतिशीलता उसका प्रभाव, मानसून अगाध (Trough) का समय–समय पर क्षेत्रीय विकास एवं तिब्बत की ओर की जेट स्ट्रीम का विशेष अध्ययन व उनका प्रभाव जैसे कारणों को भी महत्वपूर्ण मानकर समझा जाता है। इस दृष्टि से उष्णकटिबन्धीय पूर्वी (TEJ) जेट एवं अर्द्धोष्ण कटिबन्धीय पश्चिमी जेट (STWJ) का अध्ययन भी विश्वसनीय बनता जा रहा हैं। साथ ही मानसून के विकास से ठीक पूर्व विश्व के अन्य उपोष्ण कटिबन्धों की जलवायु सम्बन्धी दशाओं, उत्तरी–पश्चिमी हिमालय में हिम की मात्रा पूर्वी प्रशान्त व मध्यवर्ती पूर्वी अफ्रीका तथा मैडागास्कर की जनवरी से अप्रैल तक की जलवायु दशाएँ एवं अन्य कारणों का भी अध्ययन इसमें साथ–साथ ही किया जाता है। वर्तमान में भारतीय मानसून के विकास के लिए 27 कारण या कारक उत्तरदायी माने गये है। इनकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलता पर ही मानसून के सफल या विफल होने की सम्भावना बतायी जाती है एवं आने वाले मानसून के बारे में अधिक विश्वसनीय भविष्यवाणी कर पाना सम्भव होता जा रहा है। डॉ. चर्तुभुज मामोरिया एवं एम.एस. सिसोदिया ''भौतिक भूगोल'' (पृष्ठ 53) साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा 2009।

मानसून का वितरण (Distribution of Monsoon)

विश्व के मानचित्र पर मानसूनी पवनें भूमध्य रेखा के 40° उत्तर–दक्षिण में मध्य न्युनाधिक रूप में पायी जाती हैं। जहाँ–जहाँ मानसूनी हवाएँ चलती हैं, वे भाग मानसूनी जलवायु वाले प्रदेश कहे जाते हैं। इनका क्षेत्र दक्षिण एशिया, चीन तथा जापान देशों में विशेष रूप से पाया जाता है। इसी प्रकार गायना की खाड़ी वाला

भाग (प. अफ्रीका), अयनवृत्तीय पूर्वी तथा दक्षिण–पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका और पूरब में अयनवृत्तीय उत्तरी ऑस्ट्रेलिया का भाग भी मानसूनी जलवायु वाले प्रदेश कहलाते हैं। एशियाई प्रदेशों में तो मानसूनी हवाएँ अपने पूर्ण मौलिक स्वभाव में पायी जाती है लेकिन अन्य भागों में यह संशोधित रूप लिये होती है। अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी में चलनेवाली हवाओं को **मानसून** अटलाण्टिक महासागर में चलने वाली हवाओं को **हरीकेन** तथा **टोर्नेडो**, पूर्वी प्रशान्त महासागर में चलनेवाली हवाओं को **टाइफून** तथा पूर्वी ऑस्ट्रेलिया में **विली विलीज** के नाम से पुकारते हैं।

सामयिक स्थानीय पवनें (Periodical Local Winds)

समुद्रतटीय प्रदेशों में क्रमशः दिन में स्थल गर्म होने एवं रात्रि में जल के शीघ्र ठण्डा न होकर गर्म बने रहने से दिन व रात्रि कों पवनें वहाँ नियमित रूप से चलती रहती है। अतः इन्हें **'सामायिक पवनें'** भी कह सकते है। ये पवनें 8 से 10 किलोमीटर तक की तटीय पट्टी तक ही प्रभावी रहती है। अतः इनका प्रभाव पट्टी में ही बना रहता है। इसी कारण यह **सामयिक स्थानीय पवनें** कही जाती हैं–

1. स्थलीय एवं जलीय समीर (Land and Sea Breeze)–

(i) स्थलीय समीर (Land Breeze)– स्थलीय भाग को दिन में सूर्य की किरणें जल्दी गर्म कर देती है तथा रात में यह भूमि शीघ्र ठण्डी हो जाती है। इसी कारण स्थल भाग की हवाएँ रात में जल्द ही ठण्डी भी हो जाती है। इसी समय सागर जल अपेक्षाकृत गर्म रहता हैं अर्थात सागर पर निम्न वायुदाब एवं स्थल पर उच्च वायुदाब विकसित हो जाता हैं अतः रात्रि को स्थल से जल की ओर पवनें चलती हैं। इन पवनों को ही **स्थलीय समीर** कहते है।

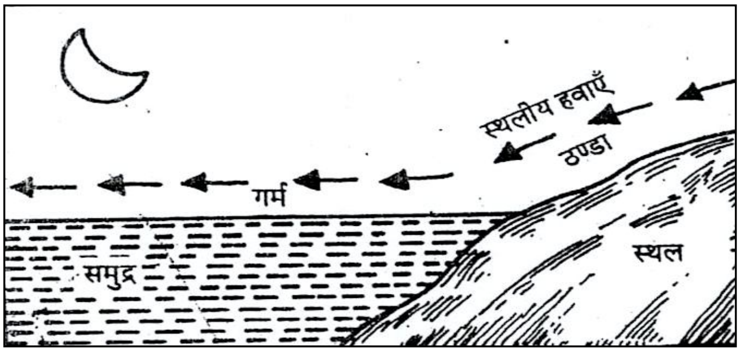

चित्र क्र. 2.12: स्थलीय समीर

ये पवनें ज्यो–ज्यो तट से दूर जाती हैं, उतना ही इनका प्रभाव कम होता जाता हैं। वायुमण्डल में इनकी अधिक ऊँचाई 100 मीटर तक मानी गयी हैं। ये पवनें शुष्क होने से किसी प्रकार की वर्षा नही करती है। जैसे– भारत में कोलकाता, चैन्नई, मुम्बई, आदि तटीय नगरों में सदैव सम जलवायु इन्हीं पवनों के प्रभाव से पायी जाती है। ये पवनें अपने प्रभाव क्षेत्र में इतनी सीमित होती है कि फैरल के नियम का इन पर कोई प्रभाव नही पड़ता है।

टिप्पणी

(ii) सागरीय समीर (Sea Breeze)– सागर की ओर से स्थल भाग की ओर दिन में चलनेवाली पवन को **सागरीय समीर** कहते है। दिन में जल की अपेक्षा स्थल जल्दी गर्म हो जाता हैं। अतः दिन में स्थलीय भाग पर निम्न वायुदाब तथा जलीय भाग पर उच्च वायुदाब रहता है। इसी से सागर की ओर से पवनें चलती है। सागरीय समीर भी वायुमण्डल में अधिक ऊँचाई तक नहीं चलती हैं। परीक्षण के उपरान्त ज्ञात हुआ है कि सागरीय समीर बड़ी–बड़ी झीलों के पास 200–500 मीटर की ऊँचाई तक तथा सागरों के निकट भागों पर इनकी ऊँचाई 1,000–2,000 मीटर तक आँकी गयी हैं। इनकी चाल विभिन्न कटिबन्धों में 10 से 30 किलोमीटर प्रति घण्टा रहती हैं। इन हवाओं से कभी–कभी तापमान 6^o से 10^o सेन्टीग्रेड तक गिर सकता है। सागरीय समीर कभी–कभी तटीय भागों पर घना कोहरा अथवा हल्की वर्षा भी कर देती है।

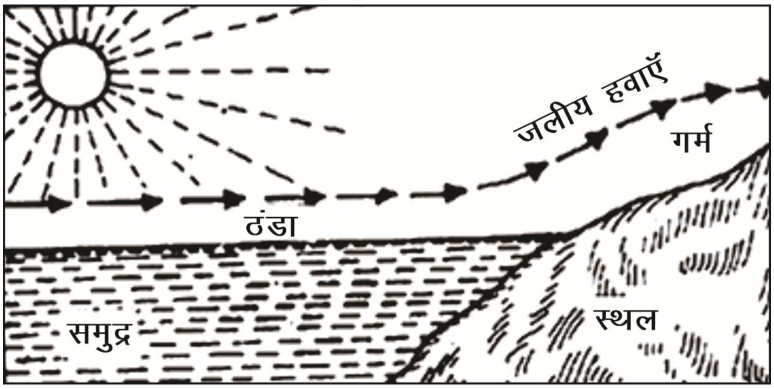

चित्र क्र. 2.13: सागरीय समीर

(iii) घाटी तथा पर्वत समीर (Valley And Mountain Breeze)– पर्वत तथा घाटी समीर भी जलीय तथा स्थलीय हवाओं की भाँति सामायिक एवं लघु क्षेत्रीय पवनें होती हैं। ये भी दैनिक वायुभार में स्थानीय परिवर्तन के कारण चला करती हैं। दिन में सूर्य की किरणों से गर्म होकर पर्वत की चोटियों तक पहुँचती है, इन्हे **घाटी समीर** कहते है।

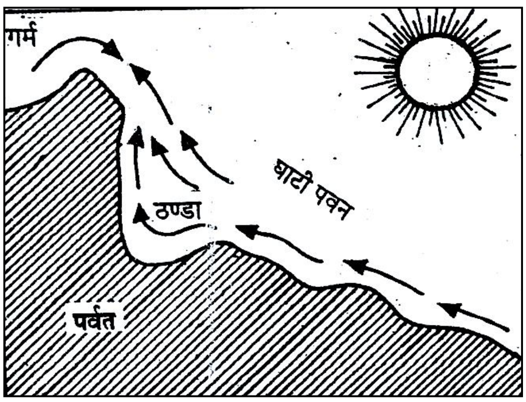

चित्र क्र. 2.14: घाटी समीर

यही हवाएँ रात्रि के समय ताप के विकिरण से ठण्डी व भारी हो जाती हैं रात्रि को धीरे–धीरे पर्वतों के ढालों के सहारे नीचे घाटियों में एकत्रित हो जाती है। इन्हे **पर्वत समीर** (Mountain Breeze) कहते है। ऐसी हवाओं के प्रभाव से ही ताप विलोमता (Inversion of Temperature) भी विकसित होती है। रात्रि में जहाँ घाटी की तली में पाले की स्थिति रहती हैं, वही ऊपरी भाग में तापमान ऊँचा रहता हैं। इस प्रकार की हवाओं का उदाहरण आल्पस पर्वत की घाटियों में एवं उष्ण–शीतोष्ण प्रदेशों में 35° से 50° अक्षांशों के मध्य अधिक मिलता हैं।

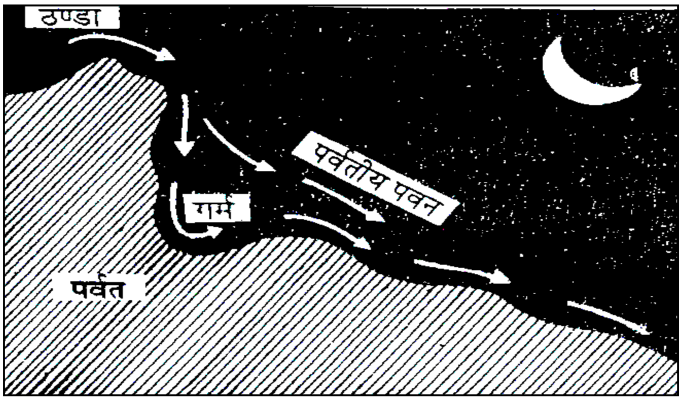

चित्र क्र. 2.15: पर्वत समीर

अतः पाले होने वाली हानि से बचने के लिए यहाँ के बागाती खेती घाटियों के निचलें शगों में न करके पर्वतीय ढालों पर करते हैं।

2. **स्थानीय पवनें (Local Winds)**– किसी स्थान विशेष से चलनेवाली पवनें ही स्थानीय पवनें कहलाती है। ऐसी पवनें उस स्थान की धरातलीय व जलवायु की विशेषता से अधिक सम्बन्धित होती हैं। ये ठण्डी तथा गर्म दोनों प्रकार की हो सकती हैं। ऐसी पवनें प्रभावित प्रदेश के मानव जीवन पर गहरा प्रभाव डालती है। स्थानीय पवनों में मुख्य पवनें निम्न हैं–

(i) चिनूक (Chinook)– चिनूक पवनों का प्रभाव प्रेयरी मैदान (दक्षिणी कनाडा) में विशेष रहता हैं। रॉकी पर्वत श्रेणियों को जब आर्द्र पछुआ पवनें पार करती है, तब पश्चिमी ढालों पर भारी वर्षा करती हैं। वर्षा करने के उपरान्त यही पवनें जब पर्वतों के पूर्वी ढालों में उतरती हैं, तो उतरते समय ये शीघ्र शुष्क एवं गरम हो जाती हैं इस प्रकार दक्षिण–पश्चिमी कनाडा तथा निकट के संयुक्त राज्य अमेरिका की पर्वत श्रेणियों के पूर्वी ढाल देती हैं। इनमे 24 घण्टे में 5° से 10° सेण्टीग्रेड तापमान बढ़ सकते है। इसी कारण शीतकाल के अन्तिम दिनों में कनाडा तथा संयुक्त राज्य प्रेरीज के मैदान की बर्फ पिघल जाती है। अतः बर्फ के पिघलने से पर्याप्त नमी बनी रहती है। इन्ही के प्रभाव से वहाँ 15–20 दिन पुर्व ही गेहूँ की बुवाई सम्भव हो पाती हैं एवं वातावरण में भी नमी बनी रहती हैं। इन्ही सब कारणों से चिनूक पवनों का यहाँ अर्थतन्त्र में विशेष महत्व है।

टिप्पणी

(ii) फोहन (Fohn)– चिनुक पवनों के समान गुणों वाली फोहन पवनें आल्प्स पर्वत के उत्तर की ओर से घाटियों के ढालों के सहारे–सहारे उतरती हैं। जब कभी यूरोप में शक्तिशाली चक्रवात प्रवेश करता है तो इससें आल्पस पर्वत के दक्षिणी–पश्चिमी ढालों पर वर्षा करने के उपरान्त यही पवनें उत्तर की ओर उतरते समय शुष्क तथा गरम हो जाती हैं क्योंकि पर्वत श्रेंणियों के उत्तरी ढालों पर उतरने से दाब बढ जाता है। उत्तर में इनसे उत्तरी मैदानों की ओर तापमान 8–10^{o} सेण्टीग्रेड बढ़ जाता हैं। इससे उत्तरी भाग के मैदानो की बर्फ पिघल जाती है जिससे मैदानो में घास उग आती है और पशुओं के लिए चरागाह तैयार हो जाते हैं।

(iii) हरमट्टन (Harmattan)– सहारा मरूस्थल से उत्तरी पूर्वी तथा पूर्वी दिशा से चलनेवाली पवनें हरमट्टन कहलाती है। ये हवाएँ रेगिस्तान से गुजरती हैं, अतः गर्म एवं धूलयुक्त होती हैं। हरमट्टन अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित गिनी तट पर पहुँच कर वहाँ के वातावरण को बहुत ही सुहावना बना देती हैं क्योंकि ये हवाएँ शुष्क हैं, अतः वायुमण्डल की आर्द्रता को सोख लेती है। इसलिए इन्हें डॉक्टर की संज्ञा दी जाती हैं। ये पवनें तीव्र गति से चलती हैं अतः वृक्षों के तने फट जाते हैं, वनस्पतियाँ झुलस जाती है। ये हवाएँ उत्तरी पूर्वी व्यापारिक पवनों का ही रूप हैं। ये सहारा के गर्म मरुस्थल से गुजरने के कारण गर्म हो जाती हैं। ऑस्ट्रेलिया में पश्चिमी मरूस्थल से चलने वाली पवनों को **ब्रिकफील्डर** कहा जाता है। ये हवाएँ गर्म हैं। तथा इनकी दिशा उत्तरी है।

(iv) खमसिन (Khamsin)– सहारा मरूस्थल से पूरब की ओर चलनेवाली पवनें संयुक्त अरब गणराज्य में खमसिन कहलाती हैं। यह हवा अप्रैल से जून तक के किन्ही 50 दिनों में दक्षिणी अफ्रीकी से मिश्र की ओर चलती है। हवा उष्ण एवं शुष्क है।

(v) सिरोक्के (Sirocco)– ये मुख्यतः अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान की वायु होने से गर्म, शुष्क तथा रेतीली होती है। जब कभी सहारा में सघन उच्च वायुदाब पैदा हो जाता हैं ओर भूमध्य सागर पर निम्न दाब की स्थिती रहती है, तब ये हवाएँ सहारा के मैदान से भूमध्य सागर की ओर बहुत तेजी से चलती हैं भूमध्य सागर से ये नमी सोख लेती है ओर आर्द्र होकर आगे सिसली द्वीप इटली तथा स्पेन में प्रवेश करती हैं जहाँ ये धूलयुक्त वर्षा प्रदान करती है। जहाँ–जहाँ ये पवनें जाती हैं वहाँ–वहाँ इनको अलग–अलग नामों से पुकारा जाता है। इटली में ये **सिरोक्कों**, **सहारा** में **सिमूम**, लिबिया में **गिबली**, टयुनीशिया में **चिली** आदि नामों से पुकारी जाती हैं। सिरोक्कों पवनों का बसन्त ऋतु में अधिक जोर रहता हैं क्योंकि तब भूमध्य सागर में भी चक्रवात अधिक चलते हैं।

(vi) मिस्ट्रल (Mistral)– मिस्ट्रल पवनें मुख्य रूप से फ्रांस तथा स्पेन में चलती हैं। उत्तर पश्चिम दिशा से फ्रांस तथा स्पेन में प्रवेश करती हैं ओर भूमध्य सागर के उत्तर–पश्चिमी तटों तक पहुचँती हैं। ध्रुवीय पवन होने व शीतकाल में ही चलने से ये अधिक शुष्क तथा ठण्डी होती हैं। जब ये

टिप्पणी

फ्रांस की तंग घाटी से होकर गुजरती हैं तो इनकी गति प्रचण्ड हो जाती हैं। यहाँ इनकी चाल साधारणतः 50 से 65 किलोमीटर प्रति घण्टा एवं कभी–कभी 120 किलोमीटर प्रति घण्टा तक हो जाती हैं। इन पवनों का तापमान 0^o सेण्टीग्रेड से नीचे ही रहता हैं। इनके तेज प्रवाह से बचने के लिए यहाँ के लोग कतारों में पेड़ तथा झााड़ियाँ लगाते हैं जिससें इनकी गति में बाधा के कारण कमी आ जाती हैं।

(vii) **बोरा (Bora)**– यह मिस्ट्रल की भाँति शीतल एवं शुष्क पवन हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र एड्रियाटिक सागर का समीपवर्ती क्षेत्र है। यह एड्रियांटिक सागर के पूर्वी किनारे से होती हुई उत्तर पूर्व से पश्चिम की ओर इटली के पूर्वी तथा उत्तरी भाग तक जाती है।

यह बहुत प्रचण्ड वायु है जो एड्रियाटिक सागर से गुजरते समय नमी ग्रहण कर लेती हैं। इसका स्थायित्व भू–मध्य सागरीय चक्रवातों की सक्रियता पर निर्भर करता हैं। चक्रवातीय दशाओं के कारण अनेक बार लम्बे समय तक स्थायी बनी रहती है अतः यह बहुत हानि पहुँचाती हैं।

(viii) **ब्लिजार्ड (Blizard)**– ब्लिाजार्ड का दूसरा नाम हिम झझांवात या बर्फ की आँधी भी हैं। ये पवनें मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा साइबेरिया के मैदान में चला करती है। इनकी गति 80 से 90 किलोमीटर प्रति घण्टा तक होती हैं। इनके साथ नुकीले बर्फ के टुकड़े उड़ते है। अतः ये बहुत ही ठण्डी पवनें होती हैं। उत्तर ध्रुवीय प्रदेशों में यह कई दिन तक चलती रहती हैं। इनके चलने से घरों के आस–पास कई–कई फीट तक बर्फ जम जाती है। कभी–कभी मध्य एशियाई प्रदेंशों तक इसका प्रकोप रहता हैं। कनाडा तथा सयुंक्त राज्य अमेरिका में इनकों **नॉर्दन** (Northern) और साइबेरिया के मैदान में **बुरान** (Buran) कहकर पुकारते है।

(ix) **लू (Loo)**– ग्रीष्मकाल में चलनेवाली उष्ण तथा शुष्क पवनों को भारत में लू कहते है। ये अधिकांशतः उत्तरी भारत में उत्तर–पश्चिम तथा पश्चिम से पूर्व की ओर चलती हैं। ये हवाएँ अत्याधिक गर्म होती है। इनका तापमान 45^o से 50^o के मध्य सेण्डीग्रेड हो सकता हैं। जब ये उत्तरी भारत में आती हैं तो इनके आगमन को 'ताप लहर' कहकर पुकारते हैं। जब ये पूरे वेग से चलना प्रारम्भ कर देती हैं तब उन स्थानों के वातावरण को मानव निवास के लिए विशेष कष्टदायक बना देती हैं। यहाँ के लोग अपनें घरों के दरवाजे तथा खिडकियों पर खस–खस की पट्टी लगवाकर इनसे बचने का उपाय करते है।

(x) **सिमूम (Simoom)**– यह सहारा मरूस्थल से प्रारम्भ होती हैं। इसके प्रभाव क्षेत्र में सहारा एवं अरब मरूस्थल सम्मिलित है। यह गर्म, शुष्क एवं धूलयुक्त पवन हैं जो चलने पर बहुत प्रचण्ड हो जाती हैं तथा एक बवण्डर का रूप ले लेती हैं।

(xi) **हबूब (Haboob)**– उत्तरी एवं उत्तरी पूर्वी सूडान में खारतूम के निकट तेज अंधड को हबूब कहते हैं, ये हवाएँ मई से सितम्बर माह में दोपहर के बाद

सायंकाल तक अधिक चलती हैं। इनमें धूल के कारण दृश्यता कम हो जाती हैं कभी–कभी तड़ित झंझा के साथ भारी वर्षा भी होती हैं।

टिप्पणी

(xii) **लीस्टे (Leste)**– मेडिरा और कनारी द्वीपों के निकटवर्ती क्षेत्र में चलने वाली गर्म, शुष्क पवन, जो ग्रीष्मकाल को छोड़कर सभी ऋतुओं में पूर्व से प्रवाहित होती हैं। इसका उद्‌भव सहारा में होता हैं और इसके परिणामस्वरूप पवनें निम्न वायुदाब केंन्द्र से पूर्व की ओर चलती हैं।

(xiii) **लेवेन्टे (Lavante)**– पश्चिमी भूमध्य सागर, फ्रांस तथा स्पेन के दक्षिणी तटीय भागों में चलनेंवाली तीव्र पवनें लेंवेन्टे कहलाती हैं। ये पवनें नम आर्द्र और वर्षा प्रदान करनेवाली हैं, जो सामान्यतया बसन्त ऋतु में चलती हैं।

(xiv) **काराबुरन (Karaburan)**– मध्य एशिया के तारिम बेसिन में चलने वाली तीव्र उष्ण उत्तर–पूर्वी हवाओं को काराबुरन कहते है। ये हवाएँ सामान्य तथा तेज होती हैं और धूल भरे तूफानों को जन्मदेती हैं धूल से आकाश काला पड़ जाता हैं। मध्य एशिया के लोयस का मैदान इन्हीं हवाओं द्वारा निक्षेपित धूल से बना हैं।

(xv) **नार्दर (Norther)**– संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में टैक्सास व खाड़ी तटीय क्षेत्रों में ठण्डी शुष्क तथा प्रचण्ड वेग से चलने वाली पवनें जो 65 से 95 किमी प्रति घण्टा की गति से चलती है। इन पवनों से 24 घण्टों में तापमान लगभग 20^o सेण्टीग्रेड तक गिर जाता हैं। इनसे उत्पन्न तड़ित झंझा के फलस्वरूप ओले भी गिरते हैं। ये एक प्रकार की ध्रुवीय पवनें हैं। जो एक ठण्डी वायु संहति के रूप में उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप पर होकर बगैर किसी पर्वतीय अवरोध के दक्षिण तक चली आती है।

(xvi) **नॉर वेस्टर पवनें (Nor Wester Winds)**– न्यूजीलैण्ड के दक्षिणी द्वीप में पर्वतों से चलनेंवाली शुष्क एवं गर्म फोहन सदृश पवनें है तथा उत्तरी भारत के मैदानी भागों में ग्रीष्मकाल में (अप्रैल से जून तक) चलनेवाली चक्रवात हैं जो कभी–कभी तीव्र तड़ित झंझा के रूप में भारी वर्षा करते है और ओले गिराते हैं। इस ऋतु में बंगाल, असम तथा म्यांमार में होनेवाली वर्षा अधिकांशतः इन्हीं पवनों से होती है। असम के चाय बागानों को इन पर्वतों से विशेष लाभ हैं।

(xvii) **पैम्पेरो (Pampero)**– अर्जेन्टाइना व उरूग्वें के पैम्पास क्षेत्र में चलनेंवाली ठण्डी तीव्र ध्रुवीय पवनें जो सामान्यतया अबदाब (Depression) क्षेत्र से दक्षिण–पश्चिम या दक्षिण दिशा से प्रवाहित होती हैं। ये पवनें रेखीय चण्डवात का रूप धारण कर लेती हैं। कभी–कभी गर्जन के साथ वर्षा और तड़ित झंझा लाती है जिससें पैम्पास क्षेत्र में धूल उड़ जाती हैं, अतः इन्हें पैम्परो पवनें कहते हैं।

(xviii) **पोनन्टे (Ponente)**– भूमध्य सागरीय क्षेत्र में (विशेषकर कार्सिका तट पर तथा भूमध्य सागरीय फ्रांस में) प्रवाहित होने वाली पश्चिमी पवनें जो सामान्यतः ठण्डी होती हैं और जिनसे मौसम शुष्क हो जाता हैं।

(xix) सीस्टन (Sestan)– पूर्वी ईरान के सीस्टन प्रान्त में ग्रीष्मकाल में प्रवाहीत होने वाली तीव्र उत्तरी पवन जो कभी–कभी 110 किलोमीटर प्रति घण्टा की चाल से चलती हैं, को सीस्टन कहते हैं। इसे 120 दिन की पवन भी कहा जाता है।

(xx) शामल (Shamal)– इराक, ईरान और अरब के मरूस्थलीय क्षेत्र गर्म, शुष्क और रेतीली पवनें जो उत्तर व उत्तर–पश्चिम से चलती है। ये पवनें जून और जुलाई में निरन्तर चलती है। इनकी गति 50 किमी प्रति घण्टा होती हैं। इनके द्वारा जुलाई में रेतीले तूफान आते हैं। बगदाद में हर वर्ष 5 या इससे अधिक रेतीलें तूफान इन्ही पवनों के द्वारा आ जाते है।

(xxi) टॉरनेडो (Tornado)– ग्रीष्मकाल को आरम्भ में मिसीसिपी नदी नेसिन में आने विनाशकारी तूफान को टॉरनेडो कहते हैं। इसमें हवाएँ 320 किमी. प्रति घण्टा की रफ्तार से चलती है इस समय गहरे रंग के मेघ आकाश में आ जाते है जिनसे गरज के साथ वर्षा होती है। इसके साथ निम्न दाब की द्रोणी का निर्माण होता है जिसमे उत्तर से शीत और दक्षिण से उष्ण हवाएं आपस में मिलती हैं। इस तूफान को मैक्सिकों में हरीकेन, चीन, जापान, फिलीपाइन्स में टाइफून एवं ऑस्ट्रेलिया के उत्तर पश्चिम में विली–विली कहते हैं।

(xxii) टाइफून (Typhoon)– पश्चिमी प्रशान्त महासागर के तटीय क्षेत्र तथा चीन सागर क्षेत्र में आने वाले तूफान को टाइफून कहते हैं।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

4. व्यापारिक हवाएँ किन अक्षांशों से किन अक्षांशों की ओर बहती है?

   (अ) विषुवत रेखा से उष्ण कटिबन्ध की ओर

   (ब) उष्ण कटिबन्ध से ध्रुवीय क्षेत्रों की ओर

   (स) अश्व अक्षांशो से विषुवत रेखा की ओर

   (द) उपयुक्त सभी

5. चिनुक हवाएँ कहाँ पाई जाती है।

   (अ) फ्रांस में   (ब) चीन में

   (स) उत्तरी अमेरिका में   (द) अफ्रीका में

6. उन पवनों मे नाम बताइए जों मौसम के अनुसार अपनी प्रवाह दिशा बदल देती हैं।

   (अ) चिनुक   (ब) लू

   (स) मानसून   (द) मिस्ट्रल

2.5 वायुमण्डलीय आर्द्रता (Atmospheric Humidity)

टिप्पणी

जलवायु के सभी तत्वों में वायुमण्डल में पाई जाने वाली **आर्द्रता** उसका संघनन एवं उसके विभिन्न रुपों का भूतलवासियों एवं धरातलीय क्रिया के लिए सबसे अधिक महत्व रहा है। वायुमण्डल में उपस्थित आर्द्रता का अर्थ उस जलवाष्प एवं उसके रुपों से है जो कि वायुमण्डल की निचली परतों विक्षोभमण्डल में झूलती या तैरती अवस्था में पाई जाती है। स्वयं जलवाष्प वायु में अदृश्य रुप में रहती है। किन्तु संघनन की क्रिया के माध्यम से यह ओस, पाला, कोहरा, बादल, जलकण, हिमकण, ओला आदि रुपों में दिखाई देती है। अतः ठोस एवं तरल दोनों ही रुपों में तापमान के अनुसार बदल सकती है। इसकी उपस्थिती से ही वायुमण्डल की निचली परतों में अनेक प्रकार की आकस्मिक घटनाएँ तड़ित गर्जन भारी वर्षा या हिमताप एवं अन्य ऊपर वर्णित परिवर्तन होते रहते है। वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा को आर्द्रता कहते है। The amount of water Vapour present in the atmosphere is known as humidity.

2.5.1 जल वाष्प एवं वाष्पीकरण (Water Vapour and Evaporation)

यह रंगहीन गन्धहीन तथा स्वादहीन पदार्थ है। जलवाष्प का अर्थ है वायु में पाई जाने वाली गैस जैसी ही अदृश्य नमी। यह अदृश्य नमी या जलवाष्प सभी प्रकार के जल संस्थानों से एवं गीली धरती से निरन्तर होने वाले वाष्पीकरण से वायुमण्डल में प्राप्त होती रहती है। जलवाष्प की निरन्तरता का कारण तापमान से प्राप्त उष्णता या गर्मी है। भूतल व वायु में तापमान का आधार सूर्याताप या सौर ऊर्जा है। इसके सम्बन्ध में **ट्रिवार्था** का विचार है कि हवा में जल वाष्प वाष्पीकरण की प्रक्रिया द्वारा जल से तरल एवं ठोस रुप में प्राप्त किया जाता है। The water vapour in the air is derived from water in liquid or solid form through the process of evaporation वायु के तापमान बढ़ने के साथ–साथ उसकी वाष्प ग्रहण करने की क्षमता भी बढ़ती जाती है। अतः **जलवाष्प का आधार वाष्पीकरण है**। इसी कारण जल को **वाष्प में बदलने की क्रिया ही वाष्पीकरण है**। भूतल के 71 प्रतिशत भाग पर जल है। यहीं से सम्पूर्ण पृथ्वी तल पर आर्द्रता की प्राप्ती एवं उसका वितरण होता रहता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पेड़ पौधों से भी वाष्पीकरण होता रहता है जो वायुमण्डल में एकत्रित होता रहता है।

वायु की **जल वाष्प ग्रहण करने की क्षमता** उसमे पहले से उपस्थित **जल वाष्प की मात्रा एवं उसके तापमान** पर निर्भर करती है। वायु का तापमान ज्यों–ज्यों बढता जायेगा त्यों–त्यों उसकी वाष्प ग्रहण करने की क्षमता उससे भी अधिक तेज गति से बढ़ेगी। इसी प्रकार गतिशील वायु स्थिर वायु से अधिक मात्रा में जल वाष्प ग्रहण कर सकती है। इसी कारण सबसे अधिक वाष्पीकरण की क्रिया उष्णकटिबन्धीय महासागरीय तल पर प्रवाहित पवनों द्वारा होता है। इसी के प्रभाव से उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में वर्षा मोटी बूँदों के रुप में व भारी मात्रा में होती है।

वाष्पीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें जल सूर्य की विकिरण शक्ति द्वारा जलवाष्प में परावर्तित होता है। Evaporation is the process by which water is converted into water vapour by the radlant energy from the sun.

टिप्पणी

ऑस्टिन मिलर के अनुसार विश्व में वाष्पीकरण अक्षांशीय औसत वितरण निम्न प्रकार है।

सारणी क्र. 2.1: वाष्पीकरण

अक्षांश	0°–10°	10°–20°	20°–30°	30°–40°	40°–50°	50°–60°
			उत्तरी	गोलार्द्ध		
औसत दर	40.6	42.9	35.8	28.0	20.1	15.9
			दक्षिण	गोलार्द्ध		
औसत दर	45.7	44.5	39.0	33.5	22.8	8.7

उपयुक्त सारणी से स्पष्ट है कि उष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में दोनों गोलार्द्धों में वाष्पीकरण सबसे अधिक होता रहता है। अयन वृत्तीय क्षेत्रों में शुष्क धरातलीय प्रभाव से वहाँ वाष्पीकरण की क्षमता बढ़ जाती है। इसी कारण उत्तरी गोलार्द्ध में सर्वाधिक वाष्पीकरण 10° से 20° अक्षांशों के मध्य होता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में अयन वृत्त के निकट जल भाग कुछ अधिक है। अतः सर्वाधिक वाष्पीकरण विषुवत्रेखीय क्षेत्रों में 4.6 प्रतिशत होता है। ध्रुवों की ओर निरन्तर तापमान नीचे रहने एवं दक्षिणी ध्रुव के बर्फीले प्रभाव से सागर के तापमान कुछ नीचे रहन से सबसे कम वाष्पीकरण 50° से 60° अक्षांशों के मध्य दक्षिणी गोलार्द्ध में मात्र 8.7 प्रतिशत ही है।

जलवाष्प एवं गुप्त उष्मा (Water Vapour and Latent Heat)

जब जल वाष्प में बदलता है तो उसके लिए गर्मी या ऊष्मा आवश्यक होती है। साधारणतः एक भाग जल के तापमान में एक डिग्री की वृद्धी के लिए जितने ताप की आवश्यकता होती है, उसे एक **कैलोरी** माप के बराबर माना जाता है। इसी प्रकार ठण्डे जल 4 सेण्टीग्रेड की एक मात्रा को पूरी तरह वाष्प में बदलने के लिए कुल 600 कैलोरी ताप की आवश्यकता होती है। यही ताप वाष्प में अदृश्य रुप में बना रहता है। इसे ही जल वाष्प की **गुप्त उष्मा** (Latent Heat) कहते है। इस प्रकार गुप्त उष्मा ताप या गर्मी का ही दूसरा रुप है। जब जल वाष्प की संघनन क्रिया होने लगती है। तो जल वाष्प ठण्डी होते समय अपनी उष्मा वायु को लौटा देती है। इसी कारण जिस वायु में नमी अधिक होती है। उसका तापमान शुष्क हवा की तुलना में अधिक धीमी गति से कम होता है। उष्ण व आर्द्र प्रदेशों में ऐसी क्रिया होते रहने से वायुमण्डल में पर्याप्त उष्णता एवं उष्ण प्रभाव की घटना होती रहती है। इससे भी स्थानीय रुप से मौसम परिवर्तनशील बना रहता है।

टिप्पणी

2.6 निरपेक्ष सापेक्ष एवं विशिष्ट आर्द्रता (Absolute Relative Specific Humidity)

2.6.1 वायुमण्डलीय आर्द्रता के प्रकार (Types of Atmospheric Humidity)

वायुमण्डल में पायी जाने वाली जल वाष्प ही उसकी आर्द्रता या नमी कहलाती है। यह वायु गति तापमान जल वाष्प ग्रहण करने की क्षमता सौर ऊर्जा आदि तथ्यों से विशेष प्रभावित होती है इसी प्रकार वायुमण्डल में जो दैनिक मौसम सम्बन्धी परिवर्तन होता रहता है उसका आधार भी वायु में उपस्थित आर्द्रता ही है। आर्द्रता की कमी या अधिकता उससे वायु के तापमान में कमी या वृद्धि संघनन के परिणामस्वरुप ऊपर वर्णित उसके विविध रुपों का विकास आदि सभी मौसम के दैनिक परिवर्तनकारी घटक हैं। सामान्यतः जब भी वायु का तापमान बढ़ता जाता है। उसकी आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता भी उतनी ही बढ़ती जाती है। यह निम्नांकित सारणी से स्पष्ट है।

सारणी क्र. 2.2

तापमान ^{o}(F)	तापमान ^{o}(C)	एक घनफुट वायु की अधिकतम जल वाष्प रखने की क्षमता (ग्रेन में)
32^{o}	0^{o}	1.9
40^{o}	4.5^{o}	2.9
50^{o}	10.0^{o}	4.1
60^{o}	15.0^{o}	5.7
70^{o}	21.1^{o}	8.0
80^{o}	26.7^{o}	10.9
90^{o}	32.2^{o}	14.8
100^{o}	37.8^{o}	19.8
110^{o}	43.3^{o}	26.5

इसी सारणी के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि तापमान बढ़ने के साथ साथ वायु की नमी या आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता में सापेक्षतया अधिक वृद्धि होती जाती है। उदाहरण के लिए जहाँ 40^{o}F से 50^{o}F तापमान बढ़ने पर 1.2 ग्रेन जल वाष्प ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती है जबकि तापमान 90^{o}F से 100^{o}F बढ़ने पर वायु की जल वाष्प ग्रहण करने की क्षमता इसमें कहीं अधिक 5 ग्रेन प्रति घन फुट बढ़ जाती है। किसी वायु के विशेष भाग में कितनी आर्द्रता है एवं उसकी अतिरिक्त आर्द्रता ग्रहण करने की कितनी क्षमता है इसको ज्ञात करना ही आर्द्रता

माप कहलाता है। वायु की आर्द्रता व उसकी क्षमता ज्ञात करने की दो विधियाँ है अर्थात आर्द्रता को निम्न दो रुपों में मापा जा सकता है–

1. निरपेक्ष या वास्तविक आर्द्रता (Absolute or Real Humidity)– वायु के निश्चित आयतन पर जितनी जल वाष्प की मात्रा पाई जाती है वही उसकी वास्तविक या **निरपेक्ष आर्द्रता** कहलाती है। **एम.सी. बंसल** के अनुसार किसी स्थान पर किसी समय वायु में जल वाष्प की जितनी मात्रा उपस्थित रहती है, उसे वायु की निरपेक्ष आर्द्रता या **वास्तविक आर्द्रता** कहते है। इसे ^oF तापमान पर प्रति घन फुट ग्रेन में अथवा ^oC तापमान पर प्रति वर्ग मीटर ग्राम में दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी वायु के एक घनफुट भाग में 80^oF पर 7 ग्रेन जलवाष्प है तो वायु की वास्तविक आर्द्रता 7 ग्रेन प्रति घनफुट होगी। यदि अतिरिक्त नमी प्राप्त होने से यह मात्रा 8 ग्रेन हो जाती है तो वास्तविक आर्द्रता भी उसी के अनुसार 8 ग्रेन प्रति घन फुट हो जायेगी। वायु में अनेक कारणों से जल वाष्प की मात्राएँ स्थिर नहीं रहती अतः वास्तविक या निरपेक्ष आर्द्रता का उल्लेख करते समय उसका समय भी अंकित कर दिया जाता है।

2. सापेक्षिक आर्द्रता (Relative Humidity)– यह अनुपात या प्रतिशत में व्यक्त की गई आर्द्रता होती है। ऐसा अनुपात पूर्व निश्चित तापमान एवं आयतन की वायु में उपस्थित वास्तविक नमी एवं उसी तापमान पर उसी वायु की अधिक नमी ग्रहण करने की क्षमता के मध्य होता है। जैसे 90^oF पर एक घन फुट वायु में 7.4 ग्रेन जल वाष्प उपस्थित है जबकि उसी तापमान में उस वायु की क्षमता 14.8 ग्रेन है अतः उसकी

$$\text{सापेक्षिक आर्द्रता} = \frac{\text{निरपेक्ष आर्द्रता}}{\text{अधिकतम आर्द्रता संतप्त वायु}} \times 100$$

$$= \frac{7.4}{14.8} \times 100 = 50\%$$

उत्तर – सापेक्षिक आर्द्रता 90^oF तापमान पर = 50%

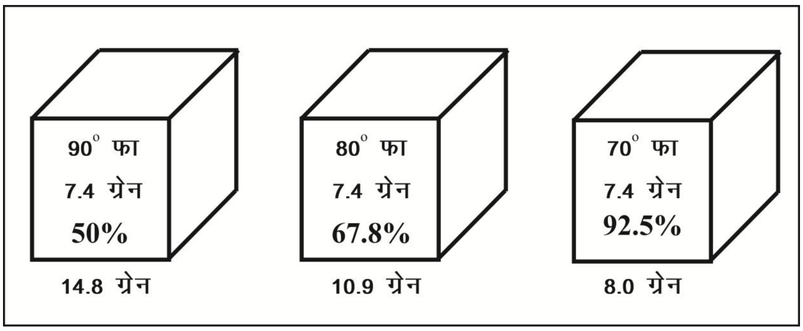

चित्र क्र. 2.16: तापमान निरपेक्ष आर्द्रता सापेक्षिक आर्द्रता क्षमता

इस प्रकार उपयुक्त चित्र से स्पष्ट होता है कि तापमान बदलने पर उसी निरपेक्ष आर्द्रता की सापेक्षिक आर्द्रता निरन्तर बदलती जाती है अर्थात तापमान बढ़ने पर उसी वायु की जल ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाने से सापेक्षिक आर्द्रता

का प्रतिशत घटता जाता है एवं तापमान घटने पर विपरीत स्थिती होने से यह बढ़ता जाता है।

टिप्पणी

यहाँ दी गई सारणी में निरपेक्ष एवं सापेक्षिक आर्द्रता की तुलना एवं आपसी गणना को तथा बदलते प्रतिक्रात स्वरुप को समझाया गया है (तापमान के बदलने का प्रभाव अवश्य समझा जाना चाहिए)।

सारणी क्र. 2.3

तापमान °F	संतृप्त वायु क्षमता (ग्रेन में)	निरपेक्ष आर्द्रता	सापेक्षिक आर्द्रता (प्रतिशत में)
40°	2.9	2.9	100.0 (संतृप्त वायु)
50°	4.1	2.9	70.7
60°	5.7	2.9	50.8
70°	8.0	2.9	36.2
80°	10.9	2.9	26.6
90°	14.8	2.9	19.5
100°	19.7	2.9	14.7

3. विशिष्ट आर्द्रता (Specific Humidity)– विशिष्ट आर्द्रता एक निश्चित वजन की वायु में उपस्थित जलवाष्प का भार है। **फ्रिन्च एवं ट्रिवार्थ** ने विशिष्ट आर्द्रता में जलवाष्प का वजन वायु की प्रति इकाई भार से प्रदर्शित किया है। अर्थात विशिष्ट आद्रता वायु के भार एवं जलवाष्प के भार का अनुपात है। **वान राइपर** के अनुसार जल वाष्प परिणाम की माप जो वायु में निहित है जो भार के अनुपात में व्यक्त किया जाता है।

सापेक्षिक आर्द्रता का महत्व (Importance of Relative Humidity)

बदलते हुए मौसम का अनुमान लगाने में तापमान परिवर्तन के साथ सापेक्षिक आर्द्रता के बदलते स्वरुप का ज्ञान विशेष सहायक रहता है। इससे वायु की वाष्पीकरण की क्षमता का भी ज्ञान होता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण तथ्य मानव की कार्यक्षमता का है। उष्ण एवं अर्द्धोष्ण प्रदेशों में निरन्तर ऊँची सापेक्षिक आर्द्रता या अधिक नमी व्यक्ति की कार्यक्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है। इसी प्रकार शीतोष्ण प्रदेशों में भी विशेष ऊँची सापेक्षिक आर्द्रता उसके लम्बे समय तक कार्य करने की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है।

नमीयुक्त वायु के ऊपर उठने से अथवा अन्य कारणों से जब वायु के तापमान गिरने लगते हैं तो वायु में उपस्थित नमी अपनी गुप्त उष्मा पुनः वायु को लौटा देती है। ऐसा करने पर वह वाष्प धीरे धीरे अनेक रुपों में संघनित होकर पुनः दिखाई देती है। तब वायुमण्डल की जल वाष्प, कोहरा, बादल, ओस, ओला, हिम, वर्षा आदि रुपों में दिखाई देती है। ऐसा संघनन की क्रिया से ही सम्भव है।

टिप्पणी

2.7 संघनन एवं उसके रुप (Forms of Condensation)

संघनन (Condensation)

जलवाष्प के धनीभवन होकर जल में बदलने की प्रक्रिया संघनन (Condensation) कहलाती है। वाष्पीकरण में जल से वाष्प बनाती है जबकि संघनन में वाष्प से जल रुप में परावर्तित होता है। संघनन वायुमण्डल में उपस्थित सापेक्षिक आर्द्रता की मात्रा पर निर्भर करता है। जलवाष्प रुप में तब तक बना रहता है जब तक वायु का तापमान उच्च रहता है। जलवाष्प दो स्थितियों के घनीभूत होती है जब वायु का तापमान गिरता है जब संतृप्त वायु राशि में आर्द्रता की मात्रा बढ़ती है। वायु में सापेक्षिक आर्द्रता की क्रातप्रतिठात मात्रा को **संतृप्त वायु** कहा जाता है।

2.7.1 संघनन के रुप (Forms of Condensation)

जल वाष्प के संघनित होने से वायुमण्डल की निचली परतों का आर्द्रता निम्न रुपों में पुनः दिखाई देती है–

1. ओस (Dew)– रात्रि में ठण्डी हुई भूमि से जब आर्द्र वायु सम्पर्क में आती है तो स्वयं भी क्रीतल होने लगती है। इससे आर्द्र वायु में भूमि के निकट संलग्न की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। सर्दियों में जब रातें लम्बी होती है। तथा तापमान तेजी से नीचे गिरते हैं तो वायु में उपस्थित जल वाष्प धुआँ या धूल के कणों (नाभिक) के चारों ओर जल कण के रुप में एकत्रित होते जाते हैं। ये जल कण पेड़ पौधों के पत्तों व घास पर ठहरने लगते है। ऐसा तभी होता है जब तापमान और नीचे गिरते जाते है। यह **ओस** कहलाती है। **वेल्स** 1818 के अनुसार रात्रि में ठण्डे धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु की आर्द्रता के कण धरातल पेड पौधों व अन्य वस्तुओं पर जल बिन्दुओ के रुप में बैठ जाते है। जो ओस कहलाते है। ओस के लिए निम्न परिस्थितीयाँ आवक्रयक है। स्वच्छ आकाश, शान्त व ठहरी हुई वायु, वायुमण्डल में आर्द्रता की अधिकता, और लम्बी रातें। जिस तापमान पर ओस का जमना प्रारम्भ होता है, उसे ओसांक (Dew point) कहते है।

2. पाला या हिम कण (Frost)– जब संघनन क्रिया के समय भूमि के निकट की वायु के तापमान हिमांक बिन्दु 0^o सेण्टीग्रेड तक नीचे गिर जाते है। तो पौंधो के तनो एवं भूमि में उपस्थित जल जमने लगता है। यही पाला कहलाता है। जल जमने पर उसका आयतन 1/16 बढ़ जाता है अतः पौधो की नसे फटने लगती है, इसे ही पौधों पर पाला गिरना कहते है। इससे पौधे नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार यदि यही क्रिया वायुमण्डल में हो तो कपासी मेघों में संघनन व संवहन की क्रिया से ओला या बर्फ जम जाती है अन्यथा वायुमण्डल के तापमान जब हिमांक बिन्दु से नीचे पहुँच जाते हैं तो बादलों में हिमकण एकत्रित हो जाते है।

3. कोहरा (Fog)– संक्षेप में या सरल भाषा में धरातल पर बादल निर्माण की क्रिया को कोहरा कह सकते है। **टेलर** के शब्दों में कोहरा पृथ्वी पर एक बादल से अधिक कुछ भी नहीं है। Fog is nothing more than a cloud on the ground धरातल के निकट नमीयुक्त वायु जब तेजी से ठण्डी होने लगती है तो कोहरा बनने लगता है। अर्द्धोष्ण व उष्ण शीतोष्ण प्रदेशों में सर्दियों में एवं शीत

टिप्पणी

शीतोष्ण प्रदेशों में ठण्डे धरातल पर उष्ण आर्द्र वायु के प्रवेश से वायु की नमी शीघ्र शीतल होने लगती है। और कोहरा दिखाई देने लगता है। कोहरे मे वाष्प कण जल कण में बदलकर वायुमण्डल को धुँधला या अदृश्य सा बना देते है। सर्दियों की रातों मे पिछले प्रहर में जब आर्द्र पवनों के तापमान अधिक नीचे गिरते है तो कोहरा बनता है। यदि नमी अधिक होती हैं तो कोहरा घना भी हो सकता है उत्तर पश्चिमी भारत के महानगरों में सर्दियों में ऊषाकाल एवं प्रातःकाल मे नमी वाले दिनों मे ऐसा कोहरा प्रायः छा जाता है। क्योंकि वायुमण्डल में धुआँ धूल एवं अन्य कण जल कणों को स्थिर रखने के लिए उपस्थित रहते है। इससे साइकिल या मोटर साइकिल चालक के कपड़े नम हो जाते हैं। इसी कारण पश्चिम यूरोप के अधिकांश नगरों में रात्रि के पिछले प्रहर से प्रातः 10–11 बजे तक घना कोहरा छाया रहता है। यह कोहरा सामान्यतः सड़क यातायत एवं वायु यातायात में विशेष बाधा या अड़चनें पैदा करता है। कोहरे के विकास के लिए निम्नलिखीत दभाएँ अपेक्षित है–

(i) शीत ऋतु की लम्बी व शान्त रातें।

(ii) वायु में ऊँची आर्द्रता या अधिक नमी।

(iii) रात्रि में स्वच्छ आकाश एवं अधिक भौमिक विकिरण।

(iv) पिछली रात मे भूमि से शीत लहरों के विकिरण से ताप विलोमता की दशा का विकास।

सभी प्रकार के कोहरे में दृयता तेजी से घटती है। यदि 1–2 किलोमीटर तक का दृश्य दिखाई दे तो उसे **छिछला कोहरा या कुहासा (Mist)** एवं जब आधे से 1 किलोमीटर तक दिखाई दे तो उसे **साधारण कोहरा** एवं जब 250–300 मीटर तक एक डेढ फर्लांग ही दिखाई दे तो उसे **घना कोहरा** कहते है। ऐसी दशा में वायु यातायात सम्भव नहीं है। इससे अधिक दृश्यता घटने पर सड़क यातायात भी कठिन हो जाता है। निर्माण प्रक्रिया के अनुसार कोहरा निम्नलिखित चार प्रकार का होता है–

(अ) विकिरण कोहरा (Radiation Fog)– जब भूमि से शीतल लहरों का विकिरण होता है तो अत्याधिक ठण्डी भूमि के कारण आर्द्र वायु की पतली परत संघनन द्वारा कोहरे में बदल जाती है। सूर्यातप द्वारा उष्मा प्राप्त करने के बाद जब पृथ्वी विकिरण द्वारा ठण्डी होने लगती है तो धरातलीय वायुमण्डल की वायु में संघनन होने लगता है जिससे कोहरा बनता है। विकिरण के कारण इसकी उत्पत्ती होती है। अतः इसे **विकिरण कोहरा** कहा जाता है। इसमें कोहरे की परत की मोटाई 15 से 50 मीटर तक ही होती है।

(ब) सम्पर्कीय या अभिवाहनिक कोहरा (Advection Fog)– अभिवाहनिक कोहरे की उत्पत्ति धरातल पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर वायु की धाराओं के ठण्डी होने से होती है। जब आर्द्र एवं अपेक्षतया उष्ण वायु राशी समुद्र से भूमि की और बहती है तो शीतकाल में या शीतोष्ण प्रदेशों में रात्रि को मन्द–मन्द हवा के कारण तापमान तेजी से भूमि की ठण्डी के सम्पर्क में

आने से गिरने लगते है। इससे सद्यन एवं अधिक ऊँचाई वाला कोहरा उत्पन्न होता है। इसका क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होता है। इनकी मोटाई कई बार आधा किलोमीटर से भी अधिक रहती है।

(क) **वाताग्री या सीमाग्री कोहरा (Fog or Frontal Zones)**– वाताग्र का अर्ध वायु का अगला भाग होता है। ठण्डी व शुष्क एवं गर्म व आर्द्र वायु राशि के गुण धर्म अलग–अलग होते हैं। ठण्डी हवा भारी एवं भूमि के साथ बहती है। गर्म हवा हलकी होती है। अतः जब कभी गर्म हवा ठण्डी हवा की ओर बढ़ती है, तो वह तेजी से ऊपर उठ जाती है जिससे ठण्डी व गर्म हवा के मिलने के स्थल पर वाताग्र बनतें है। ऐसे भागों में भूमि पर कोहरे की दशा तथा कुछ ऊँचाई पर मेघ दिखाई देने लगते है। अतः इस प्रकार का कोहरा **वाताग्री कोहरा** कहलाता है। गर्म गल्फस्ट्रीम के ऊपर की हवा जब ठण्डी लेबोडोर की ठण्डी हवा से मिलती है तो विशेष सघन कोहरा बनता है एवं दृश्यता भी शून्य हो जाती है।

(ड) **पहाडी कोहरा (Mountain Fog)**– जब गर्म व आर्द्र हवाएँ मार्ग में पड़ने वाले पहाड़ की ओर ऊपर उठती है तो ऊपरी ढलानों की शीतल वायु के सम्पर्क में आने से वहाँ शीघ्र संघनन होने से कोहरा छा जाता है। इससें पहाड़ी ढालों पर पाला नहीं गिरता। पहाड़ी ढालों पर उत्पन्न होने के कारण इसे **पहाड़ी कोहरा** कहते है।

4. धुन्ध (Mist)– यह कोहरे का ही एक रुप है। जब जल वाष्प एवं धुएँ के बादलों का आकार इतना बढ़ जाये कि सूर्य की किरणों को पृथ्वी तक पहुँचने में बाधा पड़ने लगती है एवं 1.2 किलोमीटर दूर की वस्तुएँ भी दिखाई नहीं देती है तो उसे **धुन्ध** कहा जाता है।

स्टीयर्स के अनुसार संघनन क्रिया के कारण जल वाष्प के छोटे कण जल के रुप में वायु में अधिक लम्बे समय तक लटके रहते है। जिसे **धुन्ध** कहा जाता है।

स्टीयर्स के अनुसार संघनन क्रिया कें कारण जल वाष्प के छोटे कण जल के रुप में अधिक लम्बे समय तक लटके रहते हैं जिसे धुन्ध कहते है।

5. मेघ या बादल (Clouds)– मेघ या बादल धरातल से पर्याप्त ऊँचाई पर घने कोहरे की भाँति किन्तु अलग अलग आकृतियों में फैले व विविध स्वरुप वाले होते है। जब जल भरी या विशेष आर्द्र पवनें किसी भी कारण से ऊपर उठने लगती है तो उनमें संघनन की किया प्रारम्भ हो जाती है और भिन्न–भिन्न उँचाइयों पर भिन्न–भिन्न प्रदेशों में विविध प्रकार के बादल बनने लगते है। उष्ण कटिबन्ध में बादलों की ऊँचाई 3 से 7.5 हजार मीटर एवं शीत शीताष्णे कटिबन्ध में 2.5 से 5 हजार मीटर के मध्य रहती है।

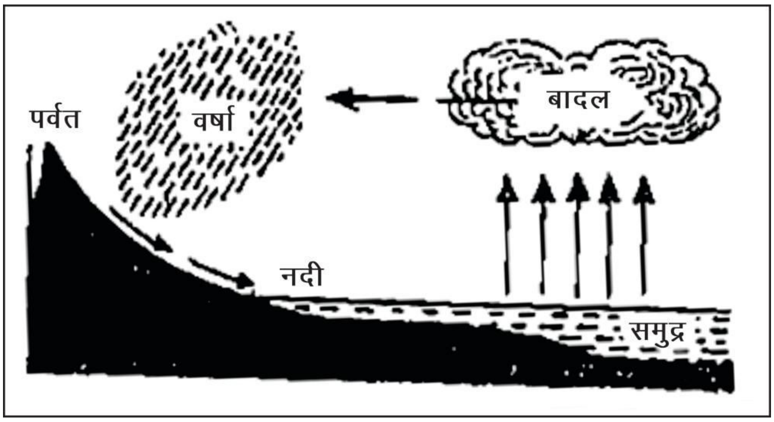

चित्र क्र. 2.17: बादलों का विकास

सविन्द्र सिंह के अनुसार, "बादल जल सीकरों अथवा हिम सीकरों का ही बडे पैमाने पर समूह होता है जो कोहरे की अपेक्षा अधिक ऊँचाई पर पाया जाता है।"

केण्ड्र के अनुसार, "मेघ का निर्माण धरातल से कुछ ऊँचाई पर वायु के वाष्प के ओसांक बिन्दु से नीचे ठण्डी हो जाने से होता है।" (Cloud is formed when the air at some height above the surface is cooled sufficiently below its dew point to condense its vapour)

मेघ या बादलों का वर्गीकरण (Classification of Clouds)

बादलों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है–

1. ऊँचाई के आधार पर– ऊँचाई के आधार पर बादलों के प्रकार निम्न है–

(i) **निम्न बादल (Low Clouds)**– इन्हें स्तरीकृत अथवा परतदार बादल कहते है। ये धरातल के समीप 1,830 मीटर की ऊँचाई तक पाये जाते है।

(ii) **मध्यम बादल (Medium Clouds)**– ये 1,830 मीटर से 6,100 मीटर तक की उँचाई तक पाए जाते हैं इनका निर्माण गर्म वायु के उपर आकार घनीभवन होने से होता है।

(iii) **उच्च बादल (High Clouds)**– ये बादल 6,100 मीटर से अधिक ऊँचाई पर पाए जाते है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण (International Classification)– सन 1932 में अन्तर्राष्ट्रीय मौसम विज्ञान ने बादलों को 4 मुख्य एवं उसके 10 उपभागों में विभाजित किया। बादलों के मुख्य प्रकार निम्न है–

(i) पक्षाभ मेघ

(ii) कपासी मेघ

(iii) स्तरी मेघ

(iv) जलद या वर्षी मेघ

अधिकांश दशा में उपयुक्त चारों प्रकार के बादलों में से प्रायः दो प्रकार के बादल आपस में मिलकर आकाश में फैले रहते है अतः इन्हें 10 उपभागों में निम्न प्रकार से बाँटा गया है–

(i) उच्च पक्षाभ मेघ (Cirrus Clouds)– ये अधिक ऊँचाई पर एवं सफेद रुई की हल्की परत के समान छितराये हुए आकाश में फैले होते है। इन्हें सूर्य की किरणें पार कर जाती है। कभी–कभी ये संघन होकर नमी की मात्रा के अनुसार कम या अधिक वर्षा भी कर देते है। इनकी ऊँचाई 7,500 मीटर से 10,500 मीटर तक पायी जाती है।

(ii) पक्षाभ स्तरी मेघ (Cirro Stratus Clouds)– ये आकाश में महीन व सफेद चादर की भाँति फैल जाते है। इनसें सूर्य व चन्द्रमा के चारों ओर आभामण्डल Halo बन जाता है। ये चक्रवात एवं वर्षा आने के पहले फैले होने से वर्षा का संकेत भी देते है। इनकी ऊँचाई 7,5000 मीटर तक होती है।

(iii) पक्षाभ कपासी मेघ (Cirro Cumulus Clouds)– ये बादल सफेद गुदड़ीदार मोटे तथा गोलाकार आकृति में होते है। कभी कभी ये लहरदार रुप में भी होते हैं। इनकी ऊँचाई 7,500 मीटर तक होती है।

(iv) उच्च स्तरी मेघ (Alto Stratus Clouds)– इस प्रकार के बादल अधिक ऊँचाई पर नीले व भूरे रंग की मिश्रित पट्यिों के रुप में फैले रहते है। इन बादलों से कभी–कभी बूँदा बाँदी भी हो सकती है। अधिकांशतः ये वर्षा के बाद आसमान के निचले या उच्च भागों में फैले होते है।

(v) उच्च कपासी मेघ (Alto Cumulus Clouds)– ये मध्यवर्ती ऊँचाई वाले एवं रुई के ढ़ेर की भाँति दिखने वाले मध्यम ऊँचाई के बादल होते है। ये सफेद भूरे तथा हल्के बैंगनी रंग के घने रुप में व कभी–कभी लहरदार फैले होते है। इनसे मोटी बूँदों में तेजी से झड़ी के रुप में अच्छी वर्षा हो सकती है। सामान्यतः इनकी ऊँचाई 3000 मीटर से 7,500 मीटर के मध्य रहती है।

(vi) स्तरी कपास मेघ (Strato Cumulus Clouds)– यह निम्न ऊँचाई वाले मेघ होते है। यह बडे-बडे छत्तों की भाँति बिखरे एवं भूरे रंग के होते है। कभी कभी यह काले रंग के भी आपस में मिलकर बन जाते हैं शीतकाल में यह अधिक विकसित होते है। इनसे कभी कभी सामान्य वर्षा भी हो सकती है। इनकी ऊँचाई सामान्यतः 3000 मीटर तक पायी जाती है।

(vii) निम्न स्तरी मेघ (Low Strato Clouds)– इस प्रकार के बादल सर्दी के मौसम में शीतोष्ण चक्रवातों के प्रदेशों में वाताग्र के पश्चात् विस्तृत होते है। ये कोहरे जैसे एवं निम्न ऊँचाई वाले बादल होते है इससे वायुमण्डल में तेजी से नमी बढ़ने लगती है।

(viii) विशाल कपासी मेघ (Cumulus Clouds)– ये मेघ भी रुई के ढेर की भाँति अधिक ऊँचाई वाले उर्ध्वाधर होते है इनका रंग सफेद से भूरे रंग का होता है। ये वर्षा काल के पश्चात अधिक फैलते है। इनकी ऊपरी ऊँचाई

5000 से 5,500 मीटर तक हो सकती हैं। इसने गर्जन तर्जन के साथ वर्षा होती रहती है। इनसे सामान्यतः कभी–कभी वर्षा होती है।

(ix) वर्षी स्तरी मेघ (Stratus Rain Clouds)– यह रंग रुप में काले तथा सघन होते हैं। कभी–कभी इनके घनी काली घटा के रुप में सारे आकाश में चादर की भाँति फैलने से धरती पर घनी छाया फैल जाती हैं। इनके द्वारा भारी वर्षा हो सकती है। यह प्रायः 1,500 से 2,500 मीटर के मध्य ऊँचे फैले होते है।

(x) कपासी वर्षी मेघ (Cumulus Rain Clouds)– इस प्रकार मेघ ऊँचाई वाले उर्ध्वाधर गहरे काले रंग के एवं घने होते है। यह विषाल रुई के ढेर की भाँति 1,500 मीटर तक आधार से ऊँचाई में खड़े नजर आते है। इनसे भारी वर्षा गर्जन तड़ित ओलावृष्टि हो सकती है। मौसम तूफानी बन सकता है। यह मेघ भारी वर्षा करते है।

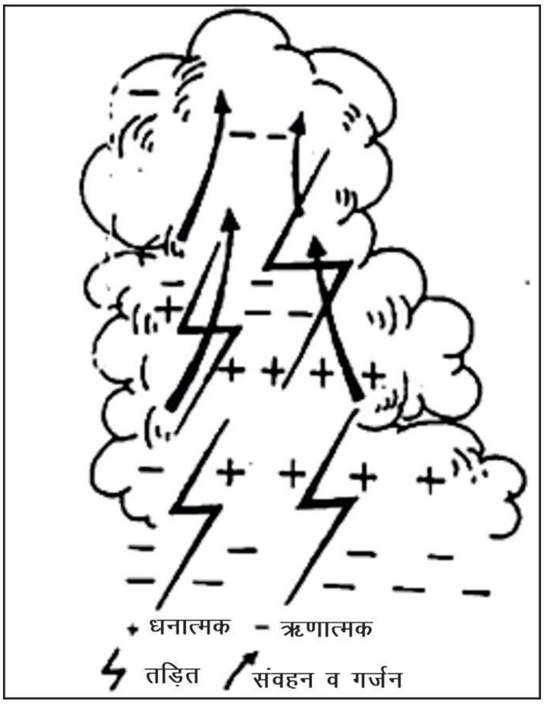

चित्र क्र. 2.18ः लम्बवत् या कपासी मेघ

2.8 वाष्पीकरण वृष्टि (Evaporation Rainfall)

2.8.1 वाष्पीकरण (Evaporation)

जिस प्रक्रिया द्वारा जल जलवाष्प में बदल जाता हैं उसे **वाष्पीकरण** कहते है। वाष्पीकरण की मात्रा तथा तीव्रता वायु की गति तापक्रम तथा शुष्कता पर निर्भर होती है। जितने ही उच्च तापक्रम पर वायु शुष्क होती है तथा गति तीव्र होती है। वाष्पीकरण उतना ही अधिक तथा तीव्र होता है क्योंकि हवा को संतृप्त होने में

टिप्पणी

समय लगता है। स्थिर हवा में नमी का स्थान्तरण न हो सकने के कारण वायु शीघ्र संतृप्त हो जाती हैं। स्थल की अपेक्षा सागरों पर वाष्पीकरण अधिक होता है। 10° उत्तर से 10° कारण दक्षिण अक्षांशों के मध्य सर्वाधिक वाष्पीकरण महाद्वीपों पर होता है जहाँ पर वर्षा द्वारा प्राप्त जल तथा वनस्पतियों द्वारा निकाले गये जल वाष्पीकरण के लिये सुलभ हो जाते है। विषुवत्रेखा की अपेक्षा विषुवत्रेखा से 10° से 20° उत्तर तथा दक्षिण में सर्वाधिक वाष्पीकरण होता है क्योंकि वहाँ पवनों का वेग स्थायी और अधिक होता है। विषुवत्रेखा पर तो पवन का वेग बहुत कम होता है। फलतः वाष्पीकरण की गति बहुत घट जाती है।

गुप्त ऊष्मा (Latent Heat)

जल को वाष्प या गैस के रुप में परावर्तित करने के लिए ऊष्मा (Heat) के रुप में ऊर्जा (Energy) की आवश्यकता होती है उष्मा की इकाई कैलोरी (Calorie) होती है। बर्फ को जल के रुप में परावर्तीत करने के लिए 607 कैलोरी उष्मा की आवश्यकता होती है। वाष्प उष्मा की यह छिपी मात्रा **गुप्त ऊष्मा या गुप्त उर्जा** कही जाती है। जिस तरह वाष्पीकरण द्वारा वाष्प पवन के समय ऊष्मा खर्च होती है, ठीक उसी तरह संघनन द्वारा वाष्प के जल में परावर्तित होने से ऊष्मा मुक्त होती है। इस मुक्त उष्मा को **संघनन की गुप्त उष्मा** कहते हैं।

2.9 वर्षा – प्रकार एवं वितरण (Rainfall – Types and Distribution)

2.9.1 वर्षा (Rainfall)

जब वायुमण्डल में उपस्थित जल भरी हवाएँ ऊपर उठने पर ठण्डी होने लगती है तो संघनन की क्रिया से मेघों का निर्माण होता है एवं वाष्प कण जल कण में और जल कण जल की बूदों मे बदलकर भूमि पर गिरने लगते है। इसी से **वर्षा** होती है। इस प्रकार वर्षा के लिए सम्पूर्ण संघनन प्रक्रिया का होना एवं वर्षा वाले या जलद मेघों का होना आवश्यक है क्योंकि सभी मेघ वर्षा वाले नहीं होते। जब भी संघनन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो वाष्प कण जल कणों में एवं जल कण जल की बूँदों मे बदल जाते है। यदि बादलों का तापमान 0° सेण्टीग्रेड से भी नीचा होता है जो वाष्प कण अन्ततः हिम कणों या षट्कोणीय हिम के रुप में बदल जाते है। ऐसे संघनन की क्रिया के लिए जल कण से जल की बूँदो को बनने या जल कण एकत्रित होने के लिए आर्द्रताग्राही कण **(नाभिक) (Nuclei)** की आवश्यकता होती है। नाभिक महीन धूल या राख के कण धुएँ या ठोस रसायन या प्रदूषको के कण भी हो सकते है। इनके चारों ओर जल कण एकत्रित होकर बूँदों के रुप में बदल जाते है। इससे बादल भारी होने लगते है। एवं ये बूँदे वर्षा के रुप में भूमि पर गिरने लगती है। कपासी मेघों में हजारों मीटर की ऊँचाई तक संवहन की क्रिया में जल कण भी ऊपर नीचे आते जाते है। अतः वह ठण्डे होकर ठोस बर्फ के रुप में बदल जाते है। इसी कारण स्थानीय रुप से भारत में मई जून में या सर्दियों में ओलावृष्टि हो जाती है। जब उच्च बादलों के तापमान 400° सेण्टीग्रेड

टिप्पणी

तक गिर जाते हैं तो सारे बादल की नमी बिना नाभिक कणों के भी तेजी से हिम खण्ड में बदल जाती है। इससे भारी ओला वृष्टि या हिमपात हो सकता है।

वृष्टि भी अनेक रुपों में होती है। शीतोष्ण एवं अधिक ठण्डे प्रदेशों मे जब तापमान सामान्यतः 0^o सेण्टीग्रेड या कम रहता है तो वाष्प कण जल के स्थान पर **हिम कणों** में बदलने लगते हैं। ये षटकोणीय होते है। इनसे **हिमपात** होता है। ये रुई के टुकड़ों के भाँति हल्के एवं बिखरे हुए होते है। दूसरी ओर अर्द्धोष्ण व शीतोष्ण प्रदेश के अधिक ऊँचाई वाले वर्षा के मेघों का तापमान तेजी से हिमांक बिन्दु से भी नीचे गिरने लगता है इससे जल की बूँदे या बादल का जल तेजी से बर्फ में बदलने लगता है। कपासी मेघों में आन्तरिक संवाहनिक धाराएँ चलने से भी जल के कण ऊँचाई पर जाकर बर्फ के रुप में जमा होने लगते है। इसी से ओलावृष्टी होती है। कभी–कभी भारी ओलावृष्टी भी हो सकती है।

2.9.2 वृष्टि के प्रकार (Types of Rainfall)

विश्व के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न–भिन्न कारणों से मुख्यतः निम्न तीन प्रकार से वर्षा वृष्टि होती है–

1. पर्वतीय वर्षा
2. संवाहनिक वर्षा एवं
3. चक्रवातीय या वाताग्र वर्षा

1. पर्वतीय वर्षा (Mountaneous Rainfall)– उष्ण एवं आर्द्र हवायें जब पर्वतीय भागों से अवरूध्द होती है तो उनके ढाल के सहारे ऊपर उठने लगती है, जिस कारण शुष्क एडियाबेटिक ताप पतंदर द्वारा ठंडी होने लगती है इस कारण वायु की सापेक्षिक आद्रता बढ़ने लगती है तथा एक निक्रिचत ऊँचाई पर पहुँचने पर हवा संतृप्त हो जाती है और सघंनन प्रारंभ हो जाता है। पर्वत के ढाल पर हवा टकराती है, उसे **''पवनमुखी'' (Windward)** ढाल कहते है। इससे वहाँ भारी एवं व्यापक वर्षा होती है। जब पर्वतों को पार कर बादल दूसरे ढाल की ओर उतरते हैं, तो पवनों के तापमान बढ़ने लगते है इससे संघनन क्रिया समाप्त होने लगती है एवं वर्षा भी तेजी से घटने लगती है। पर्वतों के इन पिछले ढालों को **वृष्टिछाया प्रदेश (Rain shadow Area)** कहते है। भारत में जहाँ पश्चिमी घाट पर व तटीय कर्नाटक एवं केरल में 300 से 400 सेमी. वर्षा होती है, वहीं इन घाटो को पार करते ही पूरब में वर्षा घटकर 40–50 सेमी. के आस पास ही रह जाती है।

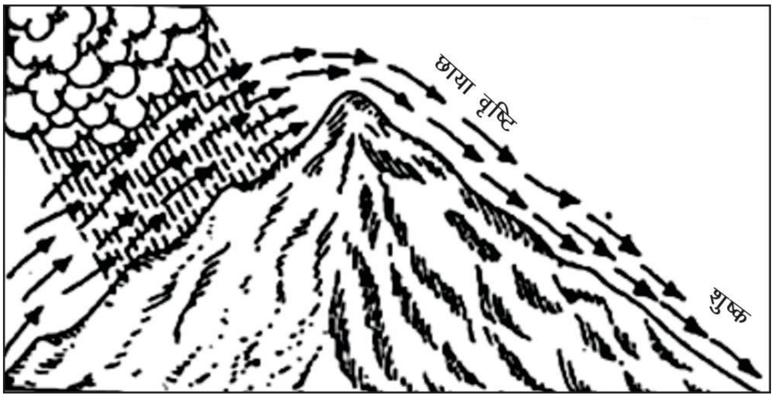

चित्र क्र. 2.19: पर्वतीय वर्षा

पर्वतीय वर्षा पर्वतों के विस्तार उनकी ऊँचाई दिशा जलभरी वायु के टकराने का कोण सागर तट से दूरी एवं वायु में नमी की मात्रा जैसे महत्वपूर्ण कारकों से विशेष प्रभावित होती है। भारत में हिमालय की विशेष स्थिती के कारण ही जहाँ सम्पूर्ण देश में पर्याप्त वर्षा हो जाती है वहीं उत्तरी ढालों की ओर तिब्बत की ओर मौसम शुष्क बना रहता है।

2. संवहनीय वर्षा— इस प्रकार की वर्षा सामान्यतः विषुवत्रेखीय प्रदेशों मे होती है। वर्षा निरन्तर ऊँचे तापमान रहने से प्रतिदिन दोपहर तक वाष्पीकरण द्वारा जल भरी पवने ऊपर उठती है। दोपहर बाद पर्याप्त उठने के कारण इनमें संघनन की क्रिया होने लगती है। निरन्तर आर्द्रता मिलते रहने से बादल संझान गहरे रंग के ओर प्रायः ऊर्ध्वाधर कपासी व वर्षा मेघों का मिश्रित रुप आकाश मे फैलने लगता हैं। यहाँ पर प्रति दिन सायं 4 बजे के आस—पास बड़ी बूँदों में गर्जन—तर्जन व विद्युत के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। अतः इसे **4 बजे वाली वर्षा** भी कहते हैं यह क्रिया प्रतिदिन निरन्तर होती रहती है।

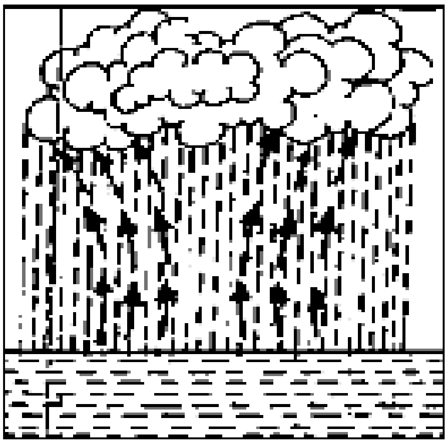

चित्र क्र. 2.20: संवहनीय वर्षा

3. चक्रवातीय या वाताग्र वर्षा— चक्रवातीय वर्षा शीतोष्ण कटिबन्ध में पछुआ हवाओं की पेटी में होती है। यहाँ पर उष्ण एवं जलभरी पछुआ हवाएँ

टिप्पणी

ठण्डी एवं महाद्वीपीय ध्रुवीय पवनों से जब मिलती हैं तो **सीमाग्रों या वाताग्रों (Fronts)** का निर्माण होता है। इसमें ठण्डी हवा भारी होने से भूमि पर ही रहती है। जबकि गर्म हवा तेजी से ठण्डी हवा पर न्यून कोण बनाते हुए ऊपर उठ जाती है। यही **उष्ण वाताग्र (Warm Fronts)** कहलाता है। ठण्डी हवा के सम्पर्क में आने एवं ऊपर उठने के कारण उष्ण व जल भरी हवाएँ ठण्डी होने लगती हैं तथा **शीतोष्ण चक्रवातों** के निर्माण की प्रक्रिया शुरु हो जाती है। ऐसे चक्रवातों के केन्द्र में गर्म हवाओं के विशेष प्रभाव से निम्न भार का अन्तर धीमा रहने से समभार रेखाएँ दूर–दूर होती हैं अतः इनमें हवाएँ भी मन्द गति से चलती हैं ऐसे प्रदेशों में सामान्य से अच्छी वर्षा हो जाती है। सागर से भूमि की ओर बढ़ने के साथ–साथ नमी की मात्रा घटने से पश्चिमी तट से पूरब की ओर वर्षा की मात्रा में कमी आती रहती है। शीतोष्ण चक्रवात का व्यास 600 से 2,000 किमी. तक होता है एवं कुछ बड़े चक्रवात प्रभावहीन होने तक विश्व का चक्कर भी पूरा कर लेते हैं।

चित्र क्र. 2.21: चक्रवातीय वर्षा

शीतोष्ण चक्रवात के आने पर आकाश में पक्षाभ मेघ फैल जाते है। इसके पश्चात् आकाश में मेघ घने होते जाते हैं और वर्षा होती है, चक्रवात के पृष्ठ भाग में तेजी हवाओं का चलना भी सम्भव है। चक्रवात के गुजरने के साथ ही मौसम शीतल एवं सुहावना होने लगता है एवं प्रतिचक्रवातीय दशाएँ विकसित होने लगती है।

उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में हरीकेन, टाइफून एवं अन्य वापयु विक्षोभ वाले चक्रवात की उत्पत्ति उष्ण महासागरों में व्यापारिक हवाओं की पेटियों में कुछ अन्य कारणों से होती है। ऐसे चक्रवात ऊँचे तापमान वाले शान्त समुद्री प्रदेशों में विकसित होने के पश्चात् महासागरों में ही उग्र या भयंकर रुप धारण कर लेते है। क्योंकि महासागरों पर संवाहन द्वारा निरन्तर अधिक जल वाष्प मिलती रहती है। ऊँचे तापमान एवं ऊँची आर्द्रता के प्रभाव से इनका वायुदाब भी तेजी से घटता चला जाता है। इन उष्ण चक्रवातों की भयंकरता ज्यों–ज्यों बढ़ती जाती हैं।

टिप्पणी

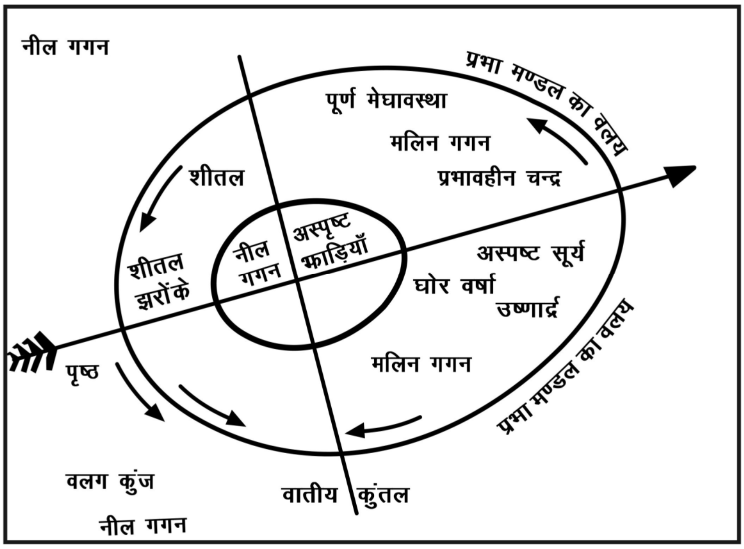

चित्र क्र. 2.22: शीतोष्ण चक्रवात में खण्डवार मौसम

शीतोष्ण प्रदेशों की अधिकतम वर्षा की पेटी– इसे महाद्वीपीय अधिकतम वर्षा की पेटी भी कह सकते है। यहाँ महाद्वीपों के पक्रिचमी भाग में अधिकतम वृष्टि होती है। यहाँ भी वर्षा शीतकाल में अधिक होती है। यहाँ ध्रुवों की ओर से आने वाली ठण्डी पवनों एवं पछुआ पवनों के आपस में मिलने से अभिसरण **(Convergence)** प्रक्रिया होती है। इसी से शीतोष्ण चक्रवात बनते है। व उनसे भारी वर्षा होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 80 से 150 सेमी. तक होता है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में जलमण्डल के कारण वर्षा अधिक होती है। इस प्रकार की वर्षा का अक्षांशीय विस्तार 40^o से 65^o अक्षांश उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में रहता हैं।

ध्रुव प्रदेशीय न्यूनतम वर्षा की पेटी– यहाँ भयंकर ठण्ड के कारण वर्षा हिमवर्षा के रुप में होती है यहाँ पर वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेमी. से भी कम रहता है तथा ध्रुवों की ओर कम जाता है। इस प्रकार की वर्षा का अक्षांशीय विस्तार 40^o से 65^o अक्षांश से ध्रुवों तक दोनों गोलार्द्ध में पाया जाता है।

प्रसिद्ध मौसम विज्ञानवेत्ता **पीटरसन** महोदय ने वर्षा वितरण को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण पृथ्वी को 15 **वर्षा की पेटियों** मे विभाजित किया है। इन 15 पेटियों में से प्रथम एक भूमध्यरेखीय पेटी मुख्य मानी जाती है तथा शेष 7–7 पेटियाँ उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में मानी जाती है। इस विभाजन में वर्षा की प्रकृति तथा मौसमी स्वभाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। वर्तमान में इस विभाजन को बहुत महत्व दिया जाता है। **पीटरसन** महोदय का यह विभाजन निम्नलिखित है–

1. **सालभर अधिकतम वर्षा की पेटी**– इस पेटी का अक्षांशीय विस्तार 0^o उत्तरी अक्षांश तथा 70^o दक्षिणी अक्षांश तक है।
2. **शीतकाल शुष्क तथा ग्रीष्मकालीन वर्षा की पेटी**– अक्षांशीय विस्तार 18^o से 26^o तक मानसूनी प्रदेशों सहित।

टिप्पणी

3. **साधारण शीतकालीन पश्चिमी तटीय वर्षा की पेटी**– अक्षांशीय विस्तार 22^o से 35^o तक।
4. **न्यूनतम वर्षा की पेटी अर्थात सभी मौसम शुष्क**– अक्षांशीय विस्तार 20^o से 35^o तक।
5. **साधारण शीतकालीन पश्चिमी तटीय वर्षा की पेटी**– अक्षांशीय विस्तार 22^o से 35^o तक।
6. **ग्रीष्म ऋतु शुष्क परन्तु शीत ऋतु में पर्याप्त वर्षा**– अक्षांशीय विस्तार 35^o से 45^o तक।
7. **प्रत्येक मौसम में वर्षा लेकिन शीतकाल में सबसे अधिक वर्षा**– अक्षांशीय विस्तार 45^o से 70^o तक।
8. **प्रत्येक मौसम में विरल वर्षा अधिकतम हिम कणों के रुप में**– अक्षांशीय विस्तार 70^o से 90^o तक।

2.10 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. (अ)
2. (स)
3. (अ)
4. (अ)
5. (स)
6. (स)

2.11 सारांश (Summary)

भूतल के किसी क्षेत्रीय इकाई (जैसे– वर्ग सेमी., वर्ग इंच आदि) पर पड़ने वाला वायुम्णडलीय दबाव (वायुदाब) जिसकी माप किसी वायुदाबमापी से की जाती है। सामान्यतः इसे **वायुदाब** कहते हैं। वायुदाब को सेमी., इंच अथवा मिलीबार में व्यक्त किया जाता है।

सागरतल पर औसत वायुदाब 29.92 इंच या 76 सेमी. या 1013.25 मिलीबार होता है। भूतल से ऊपर की ओर वायुदाब घटता जाता है। सागर तल से लगभग 540 मीटर की ऊँचाई पर वायुदाब की मात्रा सागर तल की तुलना में आधी पायी जाती है। भूतल पर वायुदाब के वितरण में अधिक असमानता मिलती है। इसके वितरण पर ऊँचाई, तापमान, पवन संचार, पृथ्वी के घूर्णन, जलवाष्प की उपस्थिति आदि का प्रभाव पड़ता है। मानचित्र पर वायुदाब को समदाब रेखाओं (isobars) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। दो स्थानों के वायुदाब में असमानता के

कारण ही हवाएं चलती हैं। हवाएं सदैव उच्च वायुदाब क्षेत्र से निम्न वायुदाब क्षेत्र की ओर चलती हैं और दाबप्रवणता जितनी ही अधिक होती है, हवाओं की गति उतनी ही अधिक पायी जाती है। सागर तल पर निम्नतम वायुदाब (890 मिलीबार) चक्रवात में और उच्चतम वायुदाब (1060 मिलीबार) प्रतिचक्रवात में पाया जाता है।

किसी स्थान का वह दाब, जो उस स्थान के ऊपर पाए जाने वाले वायु–स्तंभ के भार के कारण होता है। भू–पृष्ठ का समुद्र तल पर औसत दाब 1013.25 मिलीबार अंकित किया जाता है।

2.12 मुख्य शब्दावली (Key Terminology)

- **चक्रवातः** (साइक्लोन) घूमती हुई वायुराशि का नाम है।
- **परिसंचरणः** गैस से द्रव बनने की परिघटना को **संघनन** कहते हैं। यह वाष्पन के विपरीत है। प्रायः जल–चक्र के सन्दर्भ में ही इसका प्रयोग होता है। वर्षा भी एक प्रकार का संघनन ही है।

2.13 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास (Self Assessment Questions and Exercises)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1 पृथ्वी तल पर वायुदाब पेटियों के वितरण का विवरण दिजिए।

2. पृथ्वी की वायुदाब पेटियों तथा उनसें सम्बाधित ग्रहीय (स्थायी) हवाओं या पवनों का वर्णन किजिए।

3. मानसून किसे कहते हैं? मानचित्र की सहायता से शीतकालीन व ग्रीष्मकालीन मानसून की दिशा व विशेषताओं को स्पष्ट किजिए।

4. पवन का वायुदाब से क्या सम्बन्ध है? पवन दिशा पर पृथ्वी के वर्णन का क्या प्रभाव पड़ता हैं।

5. वायुदाब क्या हैं? विश्व की वायुदाब पेटियों का संक्षेप में वर्णन किजिए।

6. पृथ्वी के धरातल की प्रमुख वायुदाब मे खलाओं और ग्रहीय पवनों से योगदान का विवरण दीजिए।

7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए–

   (i) पर्वतीय एवं घाटी समीर

   (ii) वायुदाब पेटियों का वितरण

   (iii) स्थायी हवाओं के विभिन्न प्रकार

   (iv) वायुदाब तथा वायु में खलाएँ

टिप्पणी

(v) ग्रहीय पवनें

(vi) व्यापारिक पवनें

(vii) जलीय एवं स्थलीय समीर

(viii) वायुदाब एवं पवन पेटियों खिसकना

(ix) ग्रीष्म एवं शीतकालीन मानसून पवनें

(x) चिनुक हवाएँ

(xi) मानसून हवाएँ

(xii) पछुआ हवाएँ

(xiii) स्थानीय पवने

8. स्थानीय पवनें क्या है? विश्व की प्रमुख स्थानीय पवनों का वर्णन कीजिए।
9. स्थायी हवाएँ क्या हैं। इनके प्रकारों का वर्णन कीजिए।
10. पृथ्वी पर स्थायी हवाओं की व्यवस्था का वर्णन कीजिए तथा उन पर वायुभार पेटियों का प्रभाव दर्शाइए।
11. पृथ्वी की सनातनी हवाओं का वर्णन कीजिए तथा वायुभार पेटियों पर उनके प्रभाव का उल्लेख किजिए।
12. स्थायी पवनों की व्याख्या कीजिए तथा बताइए कि ये पवनें वायुभार के द्वारा किस प्रकार प्रभावित होती हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. वायुमण्डल में आर्द्रता किस प्रकार उत्पन्न होती है? इसके विभिन्न रुप क्या है। एवं किस प्रकार उत्पन्न होते है?
2. वर्षा के विश्व वितरण का वर्णन कीजिए।
3. भूपटल पर वृष्टि के मौसमी वितरण की विवेचना किजिए।
4. संघनन के विभिन्न रुपों को संक्षेप में व्याख्या किजिए।
5. वर्षा के प्रकारों को समझाते हुए उनके धरातलीय वितरण की व्याख्या किजिए।
6. विभिन्न प्रकार की वर्षा के कारणों को बताइए।
7. टिप्पणियाँ लिखिए—

(i) तापमान एवं वायुदाब में सम्बन्ध

(ii) सापेक्षिक आर्द्रता

(iii) सापेक्षिक आर्द्रता एवं वास्तविक या निरपेक्ष आर्द्रता

(iv) वायुमण्डल की आर्द्रता के प्रकार

(v) वर्षभर वर्षा वाले प्रदेश

(vi) वर्षा के प्रकार

(vii) तड़ित झंझा

(viii) कोहरा

(ix) पाला

2.14 सहायक पाठ्य सामग्री (Suggested Readings)

1. डॉ. रविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल प्रवर्तलिका पब्लिकेशन इलाहाबाद।
2. डॉ. एच.एन. गुप्ता एवं डॉ. शिवानंद गौतम भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल) एवं प्रसाद एण्ड सन्स पब्लिकेशन भोपाल।
3. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया भौतिक भूगोल साहित्य भवन, आगरा।
4. डॉ. मामोरिया एवं सिसोदिया यूनीफाइड भूगोल साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स आगरा (उ. प्र.)।

इकाई 3 वायुराशियाँ, वाताग्र (Air Masses, Fronts)

टिप्पणी

संरचना (Structure)

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 वायुराशियाँ, वाताग्र उत्पत्ति एवं वर्गीकरण
    3.2.1 वायु राशियाँ
    3.2.2 वायु राशियों के उत्पत्ति के क्षेत्र
    3.2.3 वाताग्र
3.3 उष्ण कटिबंधीय एवं शीतोष्ण कटिबंधी चक्रवात एवं संबन्धित मौसमी दशायें
    3.3.1 चक्रवात
    3.3.2 चक्रवातों के प्रकार
3.4 विश्व की जलवायु का वर्गीकरण— कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट
    3.4.1 मौसम और जलवायु
    3.4.2 विश्व जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक
    3.4.3 कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट
    3.4.4 थॉर्नथ्वेट का विश्व जलवायु वर्गीकरण
3.5 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय (Introduction)

इस इकाई में वायुराशियाँ, वाताग्र तथा जलवायु के विषय में अध्ययन सामग्री को विभिन्न प्रकरणों मे विभक्त कर विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत किया गया है।

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

- वायुराशियाँ, वाताग्र उत्पत्ति एवं वर्गीकरण
- उष्ण कटिबंधीय एवं शीतोष्ण कटिबंधी चक्रवात एवं संबन्धित मौसमी दशायें
- विश्व की जलवायु का वर्गीकरण— कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट

आदि विषयों का अध्ययन प्राप्त कर सकते हैं।

3.2 वायुराशियाँ वाताग्र उत्पत्ति एवं वर्गीकरण (Air Masses Frontogenesis and Classification)

टिप्पणी

3.2.1 वायु राशियाँ (Air Masses)

परिचय एवं महत्व (Introduction and Importance)

स्थानीय रूप से अनेक स्थानों पर विशेष अनुकूल वातावरण के कारण पृथ्वी का कोई क्षेत्र अत्याधिक गर्म या अधिक ठण्डा हो जाता है, जैसे– ध्रुवीय या बर्फीले देश सर्दियों में अत्याधिक ठण्डे एवं उष्ण मरुस्थलीय प्रदेश गर्मियों में बहुत अधिक गर्म हो जाते हैं। ऐसे प्रदेशों में संलग्न वायु भी यदि कुछ दिन (लगभग दो–तीन सप्ताह) तक वहाँ स्थिर व शान्त रहे तो ऐसी वायु संलग्न प्रदेश के गुण धारण कर लेती है। ऐसे गुण निचली परतों में सुविकसित हो जाते हैं। इस प्रकार से विकसित विशेष गुणों वाले वायु समुह को ही **वायु राशियाँ** कहते हैं। ऐसी वायु राशी उष्ण या ठण्डे प्रदेशों पर, समुद्र या महाद्वीप पर कहीं भी कभी भी या कहीं–कहीं पर बार–बार विकसित हो सकती है।

वायु राशियों का अध्ययन प्रथम विश्व–युद्ध से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था इसका विशेष अध्ययन **ओसलो** वेधशाला एवं पश्चिम यूरोप की ARES ख्याति की अन्य वेधशालाओं में प्रथम विश्व–युद्ध के बाद निरन्तर होता चला गया। वर्तमान में मौसम विज्ञान में भी इनके अध्ययन का विशेष महत्व है क्योंकि मौसम में जैसे आने वाले अनेक प्रकार के आकस्मिक या सम्भावित परिवर्तन एवं उनका विशेष प्रभाव आने वाली वायु राशि के गुणों को समझकर सरलता से जाना जा सकता है। अतः मौसम सम्बन्धी कुछ दिनों एवं कुछ सप्ताह की भविष्यवाणियों में इनका अध्ययन क्षेत्र विशेष में सबसे मुख्य बनता जा रहा है। प्रत्येक वायु राशि के विभिन्न ऊँचाइयों पर गुण, उनकी प्रवाह दिशा, गति, संशोधन का स्वरूप, उनसे क्षेत्र–विशेष के मौसम पर होने वाले प्रभाव, आदि का अध्ययन विश्वव्यापी मौसम प्रेक्षण केन्द्रों के आपसी तालमेल द्वारा सरलता से किया जा सकता है। इससे मौसम की भविष्यवाणियाँ भी कम्प्यूटर व नयी तकनीक की सहायता से विश्वसनीय बनती जा रही हैं।

परिभाषाएँ (Definitions)

"**वायु राशि** वायु के उस विशिष्ट एवं विशाल पुंज को कहते हैं जिसमें तापमान एवें आर्द्रता का वितरण क्षैतिज पट्टियों में समरूप पाया जाता है।" **फ्रिच एवं ट्रिवार्था**

(An air mass is an extensive position of the atmosphere whose temperature and humidity characteristics are relatively uniform in horizontal direction)

वायु राशियाँ विशाल क्षेत्र में अपने तापमान, आर्द्रता एवं विशिष्ट भौतिक गुणों में समरूप होती हैं"। **पीटरसन**

(An air mass is a huge body of air whose physical properties notably temperature and humidity are more or less uniform horizontally)

"वायु का वह विशाल पुंज जिसमें क्षैतिज तल पर भौतिक लक्षणों की प्रायः सर्वत्र समरूपता पाई जाये, उसे वायु राशि कहते हैं–।" **वॉर्न राइपर** (An extensive body of air with more or less homogeneous characteristic in a horizontal plane)

स्ट्रेलर के अनुसार एक वायुपुंज जिसका क्षैतिज विस्तार महाद्विप के अधिकांश भाग पर अथवा महासागर जिसकी विशेषता निश्चित उॅचाई पर समान तापमान और आर्द्रता पायी जाती है, वायुराशी कहलाती है। (A Single or individual air mass simply a large body of air that may have the horizontal extent of some large fraction of a continent or ocean and is characterized by a sameness of temperature and humidity at a given altitude level)

3.2.2 वायु राशियों के उत्पत्ति के क्षेत्र (Origin Areas of Air Masses)

वायु राशि के समुचित विकास के लिए विशेष वायुमण्डलीय एवं भूतल सम्बन्धी दशाएँ या सागरीय सतह की दशाएँ आवश्यक हैं। जिस प्रदेश में वायु राशियों विकसित हो सकती हैं, उनमें निम्नांकित विशेषताएँ होनी चाहिए–

(i) लम्बे समय तक एक वायु शान्त या स्थिर रहकर भूतल या सागर तल के अनेक व विशेष गुण ग्रहण करने की क्षमता रखती हो।

(ii) ऐसा भूतल लहरदार संरचना वाला या समतलप्रायः होना चाहिए। सागर तल पर भी तूफान या किसी लहर का प्रभाव न्यूनतम रहना चाहिए।

(iii) सामान्यतः एक प्रकार के मौसम में ही (गर्म अथवा ठण्डी) वायु राशि अपने विशिष्ट गुण ग्रहण कर पाती है। अतः मौसम परिवर्तन काल, दो विविध प्रकार की वायु के मिलने से या वाताग्रों के क्षेत्र में वायु राशियाँ विकसित नहीं हो पातीं।

सामान्यतः विश्व के जिन भागों में उच्च वायुदाब के क्षेत्र अथवा प्रतिचक्रवातीय दशाएँ पाई जाती हैं, यहीं पर वायु राशियों के विकास के लिए आदर्श दशाएँ भी पाई जाती हैं। पृथ्वी की सतह पर वायु राशियों के निम्न प्रमुख उत्पत्ति क्षेत्र उल्लेखनीय हैं।

(i) भूमध्यरेखीय क्षेत्र– यह भूतल के शान्त खण्डों में से एक है। यहाँ पर ऊँचे ताप एवं ऊची तथा क्षैतिज हवाओं के अभाव अथवा धीमी गति से कहीं–कहीं व्यापारिक हवाओं के प्रभाव से उष्ण या. विषुवत्रेखीय सामुद्रिक वायु राशि का अधिक विकास होता है।

(ii) उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र– इसमें महाद्वीपीय अर्द्ध–शुष्क व शुष्क एवं उष्ण प्रदेश सम्मिलित हैं, अतः सर्दियों में इसका क्षेत्र सिकुड़कर उत्तरी अफ्रीका तक ही रह जाता है अन्यथा इसमें अधिकांश एशिया व

अफ्रीका महाद्वीप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का मध्य व पश्चिमी भाग सम्मिलित हैं। यहाँ की वायु राशि महाद्वीपीय उष्णकटिबन्धीय (cT) कहलाती है।

(iii) **उष्णकटिबन्धीय महासागरीय क्षेत्र–** उपोष्ण एवं उष्णकटिबन्धीय उच्च भाग के स्थायी क्षेत्र कर्क व मकर रेखा के सागर क्षेत्रों में पाये जाते हैं। यहाँ पर उच्च वायुदाब के कारण शान्त या अश्व अक्षांश क्षेत्र पाये जाते हैं। अतः यहाँ से उष्ण व आर्द्र सागरीय वायु राशि विकसित होती है। इसे mT कहते हैं।

(iv) **मानसूनी वायु राशियों के क्षेत्र–** ऐसी वायु राशियाँ विशेषतः हिन्द महासागर व निकटवर्ती भू–भाग पर तथा पूर्वी चीन एवं निकटवर्ती चीन–सागर पर मौसम के अनुसार विकसित होती हैं। ग्रीष्मकाल में यहाँ सागरीय वायुराशियों का एवं शीतकाल में महाद्वीपीय वायु का विशेष प्रभाव बना रहता है।

(v) **उपध्रुवीय महाद्वीपीय वायु राशियों के क्षेत्र–** एशिया एवं उत्तरी अमेरिका के उपध्रुवीय एवं आन्तरिक क्षेत्र शीतकाल में विशेष ठण्डे एवं बर्फीले हो जाते हैं। तब यहाँ उपचक्रवातीय एवं उच्च 'वायुदाब की दशाएँ पाई जाती हैं। इसी समय यहाँ से ठण्डी व शुष्क महाद्वीपीय वायु राशि (ध्रुवीय प्रदेशों की) विकसित होती है। इसी प्रकार अण्टार्कटिका महाद्वीप पर भी कुछ ऐसा ही विकास होता है।

3.2.3 वाताग्र (Fronts)

वायु राशियों का लघु रुप **वाताग्र** कहलाता है। **ट्रिवार्था** के अनुसार, "वे ढलुआ सीमा पृष्ठ जो विपरीत स्वभाव वाली वायु राशियों को अलग करते हैं, असातन्य पृष्ठ अथवा वाताग्र कहलाते हैं"। **पीटरसन** के अनुसार, "वाताग्र सतह अथवा धरातलीय सतह का प्रतिच्छेदन करने वाली रेखा को वाताग्र कहा जाता है"। "वाताग्र या सीमान्त वह लहरदार एवं विशेष ढाल वाला तल होता है जहाँ कि आमने-सामने से दो भिन्न-भिन्न लक्षणों वाली अर्थात जिन वायु राशियों के ताप एवं नमी भिन्न हों आकर आपस में मिलती है"। अतः सीमान्तों की उत्पत्ति की सम्पूर्ण क्रिया को Frontogenesis अर्थात सीमान्त उत्पत्ति प्रक्रिया भी कहते है। सीमान्त की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित दो बातों का होना आवश्यक है–

1. विपरीत भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियाँ या सनातनी पवनें।
2. एक ही तल पर विपरीत दिशा से इन वायु राशियों का आमने–सामने मिलना या अभिसरण (Convergence)।

वाताग्रों की उत्पत्ति (Frontogenesis)

पीटरसन के अनुसार, वाताग्री तल तथा धरातलीय तल को अलग करने वाली रेखा को "वाताग्र' कहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण क्षेत्र को **वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र** कहते हैं। **ट्रिवार्था'** के अनुसार जब कभी आमने–सामने दो विविध भौतिक लक्षणों वाली वायु

राशियों का अभिसरण (Convergence) होता है तो ऐसे क्षेत्र को **वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र** कहते हैं।

टिप्पणी

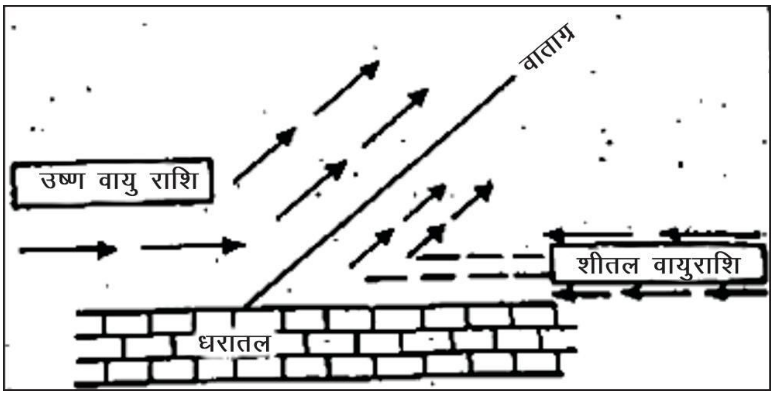

चित्र क्र. 3.1: वाताग्र की उत्पत्ति

वास्तव में, वाताग्र तट रेखा की भाँति रेखावत न होकर 5 से 50 किलोमीटर की चौड़ी विविध आकार की पट्टी होती है। इस सम्पूर्ण तंत्र की व्यवस्थित व्याख्या सर्वप्रथम **जर्कनीज बन्चुओं** ने की और **ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त** (Polar Front Theory) प्रतिपादित किया। बाद में इसमें अधिक **मान्य तरंग सिद्धान्त** (Wave Theory) को **वीयर केनस** नामक मौसमवेत्ता ने प्रस्तुत किया। उसने बताया कि वास्तव में शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति ऐसे वाताग्रों से होती है। जो कि लहरदार या तरंग जैसे होते हैं। ये कभी रेखावृत्त नहीं रह पाते। वाताग्र भूतल से 500 मीटर से 3,000 मीटर के मध्य ही विकसित पाये जाते है। अपवादस्वरुप ही यह इससे भी ऊँचे विकसित हो पाते हैं।

वाताग्र उत्पत्ति सम्बन्धी दशाएँ (Conditions Related to Frontogenesis)

वाताग्र की उत्पत्ति कुछ विशेष दशाओं में होती है। (इनकी उत्पत्ति की प्रमुख आदर्श दशाएँ निम्नांकित हैं–

1. तापमान में भिन्नता (Difference in Temperature)– वाताग्र की उत्पत्ति के लिए तापमान की भिन्नता आवश्यक है। इसमें एक वायुराशि ठण्डी भारी तथा शुष्क तथा दूसरी अत्यन्त हल्की गर्म एवं आर्द्र होनी चाहिए। इस प्रकार इन दोनों वायुराशियों के आपस में मिलने से ठण्डी वायुराशि उष्ण एवं गर्म वायुराशि को ऊपर उठा देती है। यदि दो विपरीत दिशाओं से समान तापमान वाली वायुराशियाँ आपस में मिलती है तो भी वाताग्र उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उनके तापमान में भिन्नता नहीं है। विषुवत्‌रेखीय क्षेत्रों में प्रायः इसीलिए वाताग्र उत्पन्न होते है।

2. वायुराशियों की विपरीत दिशा (Opposite Directions of Air Masses)– वाताग्रों की उत्पत्ति के लिए दो विपरीत स्वभाव वाली वायुराशियों के विपरीत दिशाओं से आना आवश्यक होता है। जब विपरीत तापमान वाली वायुराशियाँ एक–दूसरे के विपरीत दिशा से आती हैं तो एक दूसरे के क्षेत्र में घुसने का प्रयास करती है। जिससे लहरनुमा वाताग्र की उत्पत्ति होती है। जब वायु

राशियाँ विपरीत दिशा से अर्थात आमने-सामने न चलकर विपरीत दिशाओं की और चलने लगती हैं तो वाताग्र की उत्पत्ति नहीं होती है। पवन की प्रवाह दिशा को **पीटरसन** ने निम्नांकित चार प्रकार से समझाया है–

(i) स्थानान्तरणी प्रवाह (Translator Circulation)– इस पवन प्रवाह में हवाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान को एक ही दिशा में क्षैतिज रुप में चलती हैं। एक ही दिशा में चलने के कारण इसमें तापमान की विपरीत दशा नहीं पायी जाती है। इसमें समताप रेखाओं का समानान्तर व एक–दूसरे से दूर होना पाया जाता है।

(ii) घूर्णन प्रवाह (Rotation)– घूर्णन प्रवाह में पवनें चक्रवातीय या प्रति चक्रवातीय रूप में घूर्णन करती हैं। एक अवस्था में विपरीत तापमान वाली वायुरशियों के होने के बावजूद भी वाताग्र की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि इसमें वायुराशियाँ विपरीत दिशाओं से आकर नहीं मिलती हैं।

(iii) अभिसरण तथा अपसरण (Convergence and Divergence)– अभिसरण में पवनें चारों ओर से एक ही बिन्दु पर मिलती हैं जबकि अपसरण में वे विभिन्न दिशाओं में फैलती हैं। हवाओं की अभिसरण की स्थिति में भिन्न तापमान की वायुराशियों के होने पर भी वाताग्र की उत्पत्ति नहीं हो पाती क्योंकि इसमें विपरीत तापमान एक बिन्दु पर एकत्रित होता है जबकि वाताग्र उत्पत्ति के लिए विपरीत तापमान का एक रेखा के सहारे होना आवश्यक होता है।.

3. **विरूपणी प्रवाह (Deformation Circulation)**– इस प्रवाह में दो विपरीत तापमान वाली पवनें एक रेखा के सहारे क्षैतिज रूप में मिलती हैं। विरूपणी प्रवाह वाताग्र निर्माण के लिए आदर्श दशा मानी जाती है फिर भी वाताग्र की उत्पत्ति कई अन्य बातों पर निर्भर करती है।'

वाताग्रों के प्रमुख लक्षण (Chief Features of Fronts)

वाताग्र के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. **वाताग्र की गति**– वाताग्रों में गति होती है किन्तु मौसम मानचित्रों में ये स्थिर दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी गति 50 से 80 किलोमीटर प्रति घण्टा होती है।
2. **वाताग्र की ऊर्ध्व गति**– वाताग्रों में वायु सदैव नीचे से ऊपर उठती रहती है। वाताग्रों से गर्म वायुराशियाँ ठण्डी वायु राशियों पर चढ़ जाती हैं क्योंकि उष्ण वायुराशियाँ हल्की होती हैं। इससे मेघ बनते हैं तथा वर्षा होती है।
3. **वाताग्र की गहराई**– जो वायुराशियाँ वाताग्रों की उत्पत्ति करती हैं वे ऊपरी तलों की अपेक्षा निम्न तलों पर गति अधिक करती है। स्पष्ट है कि वाताग्र धरातल के समीप अधिक बनते हैं तथा 3,000 मीटर की ऊँचाई पर इनकी उत्पत्ति नहीं होती है।
4. **वाताग्रों की चौड़ाई**– वाताग्र विभिन्न चौड़ाइयों में पाए जाते हैं। ये सामान्यतः 5 से 80 किलोमीटर चौड़े होते हैं।

टिप्पणी

5. **वाताग्रों का भंग होना**– वायुराशियों के गुणों का विस्तार अधिक क्षेत्र में होने पर वे वाताग्र भंग हो जाता है। वाताग्रों के गुणों, तापमान, वायुदाब, पवन दिशा तथा प्रवणता के समाप्त होने का अर्थ वाताग्र का भंग होना है।

वाताग्रों का वर्गीकरण (Classification of Fronts)

ताप और आर्द्रता की भिन्नता के आधार पर वाताग्रों को चार वर्गों में बॉटा जा सकता है–

1. उष्ण वाताग्र (Warm Front)
2. शीत वाताग्र (Cold Front)
3. संरोधित वाताग्र (Occluded Front) एवं
4. स्थिर वाताग्र (Stationary Front)

1. **उष्ण वाताग्र (Warm Front)**– इस वाताग्र में उष्ण और हल्की वायु राशि' अधिक आक्रमक होती है। यह शीघ्र धरातल को छोड़कर शीतल वायु राशि पर तीव्रता से चढ़ती जाती है। उष्ण वाताग्र का झुकाव न्यूनकोण पर होता है इसमें शीतल हवा पीछे की ओर दबती जाती है।

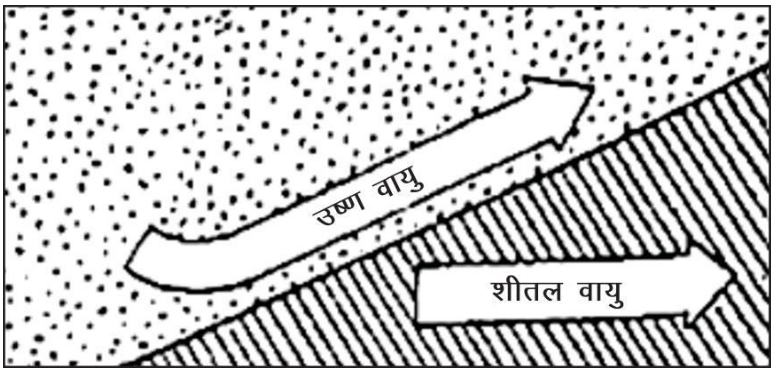

चित्र क्र. 3.2: उष्ण वाताग्र

2. **शीत–वाताग्र (Cold Front)**– प्रायः चक्रवात के पृष्ठ भाग में ठण्डी और भारी वायु राशि आक्रमक होती है। यह गर्म एवं हल्की वायू राशि को ऊपर धकेल देती है। ऐसे में ठण्डी वायु राशि उन्नतोदर आकृति बनाकर गर्म राशि को ऊपर उठने को मजबूर कर देती है। अतः इसमें शीतल वायु राशि उष्ण वायु राशि को गति स्थापित कर देती है, इससे वायुमण्डल में विक्षोभ (Disturbance) उत्पन्न होता है। गर्म वायु के तेजी से 1 से 2 किलोमीटर तक ऊपर उठने एवं ठण्डी वायु राशि के प्रभाव से हिमपात या ओला वृष्टि चक्रवात के ऐसे पृष्ठ भाग में हो जाती है।

टिप्पणी

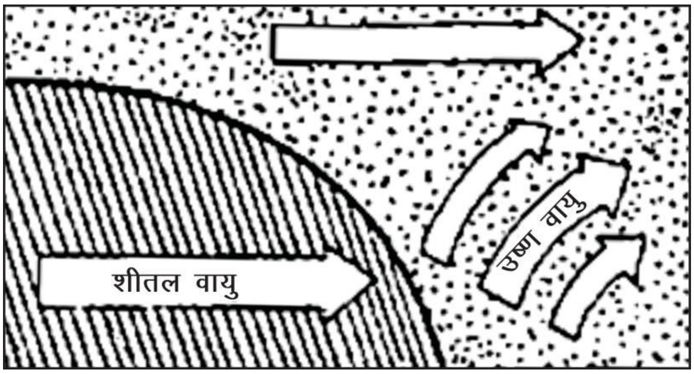

चित्र क्र. 3.3: शीत वाताग्र

3. **संरोधित वाताग्र (Occluded Front)**– जब उष्ण वाताग्र जो निरन्तर हल्की व आर्द्र पवनों के प्रभाव से ऊपर उठता जाता है, तभी पीछे से निरन्तर आगे बढ़ती हुई ठण्डी वायु राशि अपनी तीव्र गति से गर्म वायु राशि को भूमि से पूरी तरह ऊपर उठा देती है इसमे भूमि पर तो ठण्डी वायु राशि फैल जाती है किन्तु मध्य के भागों में भूमि से 50–100 मीटर की ऊँचाई पर गर्म पवनें प्रभावशील रहती हैं। इसे ही **संरोधित वाताग्र** कहते हैं। यह शीतोष्ण चक्रवातों की अन्तिम स्थिति है।

4. **स्थिर वाताग्र (Stationary Front)**– जब आमने–सामने बहने वाली वायु राशियाँ एक–दूसरे से प्रायः समानान्तर बहती हैं, तब उनके बीच का वाताग्र स्थिर स्थिति में आ जाता है। ऐसा यद्यपि कुछ समय के लिए ही होता है। इसी दशा को **स्थिर वाताग्र** कहते हैं। शीघ्र ही यहाँ लहरदार वाताग्र बनने लगता है क्योंकि गर्म व नम पछुआ पवनें ध्रुवीय भारी पवनों पर आक्रामक बनकर प्रहार करती है। अतः उष्ण वाताग्र बनने लगता है। भूतल पर शीत व शीतोष्ण कटिबन्धों में निम्न प्रधान वाताग्र प्रदेश पाये जाते हैं–

   (i) **ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश (Polar Front Zone)**– उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्ध के 50° से 70° अक्षांश के मध्य के उच्च अक्षांशों में विशेषकर शीतकाल में धुव्रीय एवं उपोषण वायु राशियों का अभिसरण अधिक प्रभावी व गतिशिल बना रहता है। इससे यहाँ पर लहरदार धुव्रीय वाताग्र प्रदेश का विकास होता है। यह विकास दो प्रदेशों में होता है–

   (अ) **अन्ध महासागरीय वाताग्र का विकास**– उत्तरी अन्ध महासागर में होता है।

   (ब) **प्रशान्त महासागरीय वाताग्र**– का विकास उत्तरी एवं उत्तरी पूर्वी प्रशान्त महासागर में उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट से झील प्रदेश तक फैला है। धुव्रीय वाताग्र प्रदेश की क्रियाशीलता ग्रीष्म काल में शिथिल पड जाती है क्योंकि तब पछुआ एवं धुव्रीय पवन के भौतिक गुणों में अंन्तर कम होता जाता है।

टिप्पणी

(ii) आर्कटिक वाताग्र प्रदेश (Arctic Frontal Zone)– इस वाताग्र की उत्पत्ति अपेक्षाकृत सँकरे क्षेत्र में उत्तरी ध्रुव्र प्रदेश में होती है। यहाँ पर आर्कटिक महाद्वीपीय एवं आर्कटिक महासागरीय गतिशील वायु राशियों के मिलने से ऐसा वाताग्र थोड़े समय के सीमित आर्कटिक तटीय क्षेत्रों के निकट विकसित होकर गतिशील रहता है।

(iii) भूमध्यसागरीय वाताग्र प्रदेश (Mediterranean Forontal Zone)– पछुआ वायु राशि की पेटी के शीतकाल में विषुवत् रेखा की ओर खिसकने से भूमध्य सागर क्षेत्र में इस विशेष वाताग्र प्रदेश का विकास होता है। इसमें यूरोप व मध्य एशियाई कठोर ठण्डी व शुष्क वायु राशि उत्तरी अफ्रीका की पछुआ वायु मिश्रित वायु राशि से भूमध्यसागरीय पट्टी की उत्तरी सीमा पर आमने–सामने मिलती है। इन दिनों वायु राशियों के भौतिक लक्षणों में उच्चस्तरीय भिन्नता होने से इनका प्रभाव दक्षिणी पूर्वी यूरोप एवं समस्त मध्य पूर्वी से उत्तरी भारत तक के मौसम पर शीत ऋतु में स्पष्ट दिखाई देता है।

अपनी प्रगती जाँचिए (Check Your Progress)

1. सीटी वायु राशियाँ है।

   (अ) उष्णकटिबन्धीय महाद्वीपीय (ब) उष्णकटिबन्धीय महासागरीय

   (स) ध्रुवीय महाद्वीपीय (द) ध्रुवीय महासागरीय

3.3 उष्ण कटिबंधीय एवं शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात एवं संबन्धित मौसमी दशायें (Tropical Temperate Cyclones and Related Climatic Conditions)

3.3.1 चक्रवात (Cyclones)

पृथ्वी की सतह से जुड़े वायुमण्डल में ग्रहीय वायुदाब पेटियों के प्रभाव से सनातनी या ग्रहीय पवनें चलती हैं। विशेष महाद्वीपीय वायुदाब विचलन के प्रभाव से मौसमी एवं सामयिक पवनें चलती हैं। स्थानीय कारणों से सनातनी पवनों के मार्ग में वायु राशियों के प्रभाव से द्वितीयक वायुमण्डलीय विक्षोभ Secondary Atmospheric Disturbances का विकास, वाताग्रों के विकास खण्डों के साथ–साथ होता जाता है। इनके कारण प्रभावों एवं जलवायु खण्डों के अनुसार अनेक रुपों में ऐसे वायु विक्षोभ पाये जाते हैं। इनको **गर्तचक्र** Depression of Lows **शीतोष्ण चक्रवात, उष्ण चक्रवात, हरीकेन, टोरनेडो, टाइफून** एवं अन्य स्थानी नामों से पुकारते हैं। संक्षेप में, स्थानीय रूप में वायुमण्डलीय गतियों या परिसंचरण से इनका विकास होता हैं। अतः इनके विकास में भूमण्डलीय स्थिति के अतिरिक्त अन्य

प्रमुख आधारभूत कारक **वायुदाब, तापमान एवं आर्द्रता हैं टिवार्था** के अनुसार एक द्वितीयक वायुमण्डलीय विक्षोभ एक प्रकार से विस्तृत क्षेत्र में **विकसित वायु के भँवर** की भाँति है। इसका विकास सामान्य या सनातनी पवन पट्टी में ही होता है।

परिभाषाएँ (Definitions)

पी. लेक के अनुसार, "चक्रवात प्रायः अण्डाकार आकृति की समभार रेखाओं से घिरी वह व्यवस्था है जिसके लगभग मध्य में निम्न वायु भार का क्षेत्र पाया जाता है"।

ट्रिवार्था के अनुसार, "चक्रवात अपेक्षतः निम्न वायुदाब के वे क्षेत्र हें जो संकेन्द्रीय (Concentric) समदाब रेखाओं से घिरे होते है''।

स्ट्रेलर के अनुसार, "चक्रवात निम्न वायुदाब का एक **केन्द्र** है। उत्तरी गोलार्द्ध में इसमें बाहर से भीतर या केन्द्र की ओर पवनें वामावर्त Anticlockwise दिशा में चलती है''।

वन राइपर के अनुसार, "एक अपेक्षाकृत निम्न वायुमण्डलीय दाब जिसमें अपसरण ऊपर की ओर चढ़ती हुई और घूमती हुई वायु होती है वायु का यह घूमना उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुई की विपरीत दिशा में तथा दक्षिणी गोलार्द्ध की सुई की दिशा में होता है"।

चक्रवात आकृति में वृत्ताकार या अण्डाकार होते हैं इनके केन्द्र में सबसे न्यून वायुदाब रहता है इनमें जितनी निकट समदाब रेखाएँ होंगी, वायु की गति एवं मौसम उतना ही अधिक विनाशकारी होगा। प्रायः मध्य. अक्षांशीय चक्रवातों में समभाग रेखाएँ दूर–दूर रहती हैं जबकि उष्ण कटिबन्धीय या निम्न अक्षांशीय चक्रवातों में समभार रेखाएँ विशेष रूप से निकट रहती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवातों में पवनें वामावर्त (Anticlockwise) दिशा में एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में पवनें दक्षिणावर्त Clockwise दिशा में चलती हैं।

3.3.2 चक्रवातों के प्रकार (Types of Cyclones)

भूतल के विभिन क्षेत्रों में प्रभावी चक्रवातों को निम्न दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. शीतोष्ण कटिबन्धीय या मध्य अक्षांशीय चक्रवात अथवा गर्तचक्र (Temperate Midlatitude Cyclones or Lows or Depression) एवं
2. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात या हरीकेन (Tropical Cyclones or Hurricane)

1. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Temperate Cyclones)

स्थिति (Location)– शीतोष्ण या मध्य अक्षांशीय चक्रवात का प्रभाव क्षेत्र सामान्यतः 35^o से 65^o उत्तरी व दक्षिणी अक्षांशों के मध्य रहता है। शीत ऋतु में वायुदाब पेटियों के विषुवत् रेखा की और खिसकने पर इनका प्रभाव क्षेत्र 30^o उत्तरी व दक्षिणी अक्षांश तक बढ़ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में विशेषकर

टिप्पणी

पश्चिमी यूरोप के उत्तरी भागों में ये चक्रवात 70^o उत्तरी अक्षांश तक प्रभावी रहते हैं। इनका दिशा मार्ग प्रायः पछुआ हवाओं की पेटी के सहारे पश्चिम से पूरब की ओर रहता है।

आकृति एवं विस्तार (Shape and Extent)– शीतोष्ण चक्रवातों की आकृति दीर्घवृत्ताकार अथवा अण्डाकार होती है। यदि कोई वृत्ताकार उष्णकटिबन्धीय चक्रवात अपने सीमान्त प्रदेश से मध्य अक्षांशीय प्रदेश में प्रवेश कर भी जाता है तो वह भी वृत्ताकार से अण्डाकार आकृति धारण कर लेगा। सामान्यतः चक्रवात अपनी पूरब पश्चिम अक्ष मार्ग पर विशेष लम्बे एवं उत्तर दक्षिण अक्ष पर सँकरे होते है। अतः इनकी लम्बाई पूरब पश्चिम दिशा में प्रायः 600 से 1,600 किलोमीटर के मध्य रहती हे किन्तु कभी-कभी इनका विस्तार आदर्श दशाओं में 3,200 किलोमीटर तक भी प्रभावी बने रह सकते है। अतः कभी-कभी इनका क्षेत्रफल दस लाख वर्ग किलोमीटर तक होता है।

दिशा (Direction)– शीतोष्ण चक्रवात निरन्तर गतिशील रहते है। चक्रवात पछुआ हवाओं के सहारे पश्चिम से पूरब की ओर चलते हैं। इनकी गति 30 से 45 किलोमीटर प्रति घण्टा रहती है जबकि इनके भीतर बहने वाली पवनों की गति इससे भी कम होती है। अतः ये चक्रवात उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की भाँति न तो घातक होते हैं ओर न ही नुकसान देने वाले।

वायुदाब व्यवस्था एवं पवने (Air Pressure Arrangement and Winds)– शीतोष्ण चकवात के मध्यवर्ती भाग से कुछ पीछे के भाग में उसका वास्तविक केन्द्र या निम्न वायुदाब का क्षेत्र होता है। एक मध्यम आकार के शीतोष्ण चकवात को दो समदाब रेखाएँ एवं बडे चकवातों को चार से छः समदाब रेखाएँ चार मिलीबार के अन्तर पर घेरे रह सकती है। सुविकसित शीतोष्ण चक्रवात उत्तरी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका एवं उत्तरी सागर से पश्चिम यूरोप के तटीय प्रदेश के आस-पास फैले होते है। ऐसे ही चक्रवात को चित्र में आगे प्रस्तुत किया गया है। शीतोष्ण चक्रवात में निम्न वायुदाब 980 से 1002 मिलीबार के मध्य कुछ भी हो सकता है। इनमें उत्तरी गोलार्द्ध में पवनों की दिशा वामावर्त Anti clockwise रहती है। इन पवनों का वेग 15 से 40 किलोमीटर के मध्य समभार रेखाओं के ढाल या प्रणवता के अनुसार रहता है। सामान्यतः पवनें समभार रेखाओं को 20^o से 35^o के कोण पर काटती है। कई बार गतिशील वाताग्र के दिशा मार्ग के अनुसार भी इनकी दिशा एवं गति पर प्रभाव पड़ सकता है जैसा कि चित्र में समझाया गया है। चक्रवात के दक्षिण-पूर्वी खण्ड में पवनें पश्चिम दिशा में उत्तरी खण्ड में पूर्वी दिशा में उत्तर-पश्चिमी खण्ड में उत्तर-पूर्वी दिशा में दक्षिण-पश्चिमी खण्ड में उत्तर-पश्चिम दिशा में चलती है।

चक्रवात का आगमन मेघ एवं वर्षा (Coming of Cyclone Clouds and Rain)– शीतोष्ण चक्रवात के आगमन के साथ–साथ तापमान धीमी गति से बढ़ने लगते हैं तथा मन्द समीर चलती है। आकाश में हल्के पक्षाभ एवं स्तरी पक्षाभ मेघ अधिक ऊँचाई पर हल्की आभा के रुप में फैले होते हैं। इससे सूर्य या रात्रि में चन्द्रमा के चारों ओर आभामण्डल या कुण्डली सी बन सकती है। वायुदाब घटने एवं नमी व ताप बढ़ने से वायु की सहनशिलता मानव के लिए घटने

टिप्पणी

लगती हैं। कुछ घन्टों बाद या बारह घण्टे बाद आकाश में पक्षाभ बादल गहरे एवं काले कपासी व वर्षी मेघ भी छाने लगते है। यही चक्रवात का उष्ण खण्ड कहलाता है। आकाश में घने बादलों से सूर्य छिप जाता है एवं धीरे-धीरे वर्षा होने लगती है।

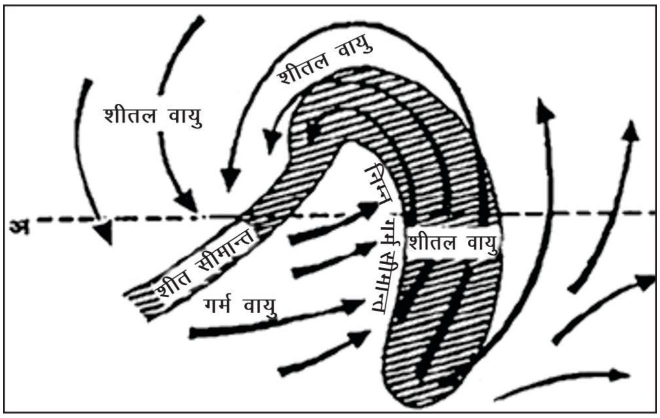

चित्र क्र. 3.4: विकसित शीतोष्ण चक्रवात में सीमान्त वाताग्र एवं वायुप्रवाह

वायु में अस्थिरता की दशा होने एवं वायुदाब प्रवणता अधिक रहने पर वर्षा अधिक तेज या भारी हो सकती है। इस भाग में उष्ण वाताग्र एवं उष्ण व आर्द्र पवनों का पूर्ण प्रभाव बना रहता है। यहाँ आगे के दोनों चित्रों में बादलों के प्रकार, समभार रेखाओं, वर्षा एवं पवनों को समझाने का प्रयास किया गया है। उष्ण खण्ड के पश्चात शीत वाताग्र का क्षेत्र आता है एवं इसके पश्चात् **शीत खण्ड (Cold Sector)** या चक्रवात का पृष्ठ भाग आ जाता है। पृष्ठ भाग के इस शीत खण्ड में अथवा दक्षिण–पश्चिम चतुर्थांश भाग में ठण्डी वायु राशि का प्रभाव सबसे अधिक प्रभावी रहता है। अतः यहाँ **शीत वाताग्र (Cold Front)** बनता है जैसा कि ऊपर चित्र में बताया गया है। इसका ढाल उन्नतोदार होता है। अतः यहाँ गर्म हवाएँ तेजी से ऊपर उठती है। इसी से यहाँ गहरे कपासी व कपासी वर्षी मेघ बनते हैं। तेजी से ठण्डी हवा के सम्पर्क में आने के कारण यहाँ हिमताप एवं ओलावृष्टि भी सम्भव है। तापमान में तेजी से गिरावट आने से पहले का हल्का गर्म मौसम कुछ ही घण्टो में ठण्ड में बदल सकता है। ऐसे परिवर्तन के कारण कई बार तूफानी दशाएँ बन सकती है तेज स्थानीय हवाएँ चल सकती है। अतः चक्रवात में मौसम निरन्तर बदलता रहता है।

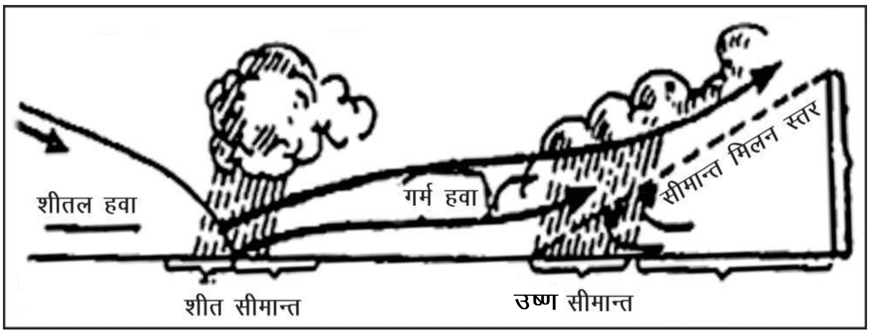

चित्र क्र. 3.5: चक्रवात का पार्श्व चित्र

यहाँ एक तथ्य चक्रवात की मेघ वर्षा व तापमान परिवर्तन एवं वायु प्रवाह के बारे में मुख्य है कि जो स्थान चक्रवात की केन्द्रीय पूरब-पश्चिम अक्ष रेखा से उत्तर में स्थित होते है, वहाँ ऐसे अभूतपूर्व परिवर्तन नहीं आते क्योंकि वहा पर गर्म सीमान्त पहले से ही भूमि से ऊपर उठा रहता है एवं पृष्ठ में भूमि के निकट गर्म व ठण्डी हवाओं के मध्य इतना अधिक वायुदाब एवं ताप परिवर्तन नहीं होता। अतः यहाँ वर्षा भी धीमी होती है। यहाँ झंझावात की स्थिती भी नहीं पायी जाती। अतः इस अक्ष रेखा के दक्षिणवर्ती स्थानों मे मौसम में ही विशेष परिवर्तन आता है। इसी कारण जब यहाँ से चक्रवात गुजर जाता है तो शान्त खुली शीतल किन्तु खिली धूप का उच्च वायुदाब प्रभावित मौसम विशेष सुहावना माना जाता है, जबकि इस रेखा से उत्तरवर्ती भागों में मौसम धीमी व समगति से बदलता है अर्थात यकायक परिवर्तन अपवाद की स्थिती में ही हो पाते हैं।

शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति (Origin of Temperate Cyclones)

चक्वातों की उत्पत्ति के बारे में बींसवी सदी मे बहुचर्चित धुव्रीय वाताग्र सीमाग्र सिद्धांत मुख्यतः प्रचलित थे–

(i) तापीय सिद्धांत तथा (Thermal Theory)

(ii) भँवर सिद्धांत (Eddy Theory)

(i) तापीय सिद्धांत (Thermal Theory)– इस विचारधारा के अनुसार स्थानीय रुप से जिन भागों मे गर्मी अधिक पड़ती है या तापमान ऊँचे बने रहते है, वहाँ की वायु तेजी से गर्म होने लगती है। गर्म हवा हल्की होकर ऊपर उठती है एवं वहाँ निम्न वायुदाब की दशा विकसित होती जाती है। ऐसे निकटवर्ती भागों से उत्तरी गोलार्द्ध में वामावर्त (Anticlock wise) दिशा में पवनें भीतरी भागों की ओर चलती है। यही कारण मध्य अक्षांशीय या शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति का भी माना गया है क्योंकि तब सर्दियों में चक्रवात आने के साथ ही तापमान घटने व नमी बढ़ने से मौसम में स्पष्ट परिवर्तन आने का कारण इसी तथ्य से आसानी से स्पष्ट किया जा सका।

(ii) भँवर सिद्धांत (Eddy Theory)– जब भूतल पर वायुदाब की पेटियों की व्यवस्था उन्नीसवीं सदी में स्पष्ट की जाने लगी तभी शीतोष्ण कटिबन्ध के कुछ भागों मे स्थानीय निम्न वायुदाब के कारणों को समझाने का प्रयास किया गया इसी आधार पर तब विद्वानों ने बताया कि जिस प्रकार नदी में स्थानीय रुप से भँवर पड़ते है एवं कही-कहीं स्थानीय रुप से **बवण्डर (Dust Devil)** विकसित हो जाता है, उसी प्रकार वायुमण्डल की निचली परतों में विशेष कारणों से **स्थानीय भँवर (Local Eddy Formation)** पड़ने लगते हैं। इसी के प्रभाव से वहाँ पवनें हल्की हो जाती है एवं वहाँ शीतोष्ण प्रदेशों में निम्न वायुदाब की दशा विकसित होती है। इसी कारण वहाँ का मौसम शीतोष्ण कटिबन्ध में भी परिवर्तनशील बना रहता है एवं वहाँ चक्रवात आते रहते हैं क्योंकि उस समय तक शीतकाल में चक्रवातों के आने की प्रक्रिया को इसी विधि से ही समझाया जा सकता था।

उपरोक्त दोनों संकल्पनाएँ सिद्धांत अब शीतोष्ण चक्रवातों के विकास के लिए अमान्य है। इनके आधार पर बाद में उष्णकटिबन्धिय चक्रवातों को भी समझाने का

प्रयास किया गया क्योंकि उष्णकटिबंधीय चक्रवातों की उत्पति में ताप के साथ निरन्तर नमी जेट इन्जन में उर्जा प्राप्ति जैसा काम करती है। इनमें यद्यपि विकसित भँवर की भाँति भी तेजी से पवनें चलती हैं। वर्तमान मे ध्रुवीय सीमाग्र या वाताग्र सिद्धांत एवं उसी का संशोधित रुप तरंग सिद्धांत को शीतोष्ण चक्रवातों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उपयुक्त संवहन सिद्धांत एवं गत्यात्मक सिद्धांत एवं गत्यात्मक सिद्धांत सन् 1881 में ही प्रस्तुत किये गये थे किन्तु ये सिद्धांत भी शीघ्र ही अमान्य हो गये।

ध्रुवीय वाताग्र सिद्धांत (Polar Front Theory)

यद्यपि सन् 1863 में ही **फिज्राय** (Fitzroy) नामक नॉर्वे के जलवायुवेत्ता ने शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न विशेषताओं वाली वायु राशियों के प्रभाव को माना किन्तु उस समय तक ऐसे वायु विक्षोभ व वायु राशियों के अध्ययन एवं उसकी सत्यता का पता लगाने के लिए कोई ठोस साधन नहीं थे। अतः तब इस विचारधारा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इसके बाद जब बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मौसम केन्द्र एवं उससे सम्बधित अनेक मौसम केन्द्र की श्रृंखला पश्चिमी यूरोप के तटीय क्षेत्रों व द्वीपों पर स्थापित की गई, तभी यह सिद्धांत अध्यन का आधार बनने लगा। इस पर नॉर्वे के ही **बर्जरन एवं जर्कनीज (B. and J.) बन्धुओं** जो कि ओसलो मौसम प्रेक्षण केन्द्र के मौसमवेत्ता भी थे ने निरन्तर शोध रिकॉर्ड एवं जाँच के आधार पर पहली बार **वायु राशियों एवं वाताग्र व्यवस्था** पर विस्तार से निरन्तर खोज की। जर्कनीज बन्धुओं ने अपने खोज कार्य के आधार पर प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक बाद अपना **ध्रुवीय वाताग्र सिद्धांत** प्रस्तुत किया।

इस सिद्धांत के आधार पर शीतोष्ण चक्रवातों के विकास के कारण भिन्न–भिन्न भौतिक लक्षणों वाली वायु राशियों के **विशेष वाताग्रों** के सहारे मिलने एवं उनमें **आपस में क्रिया प्रतिक्रिया** होने से होता है। चूँकि इसमें वाताग्रों के सँकरे क्षेत्र के सहारे ऐसी क्रियाएँ महत्वपूर्ण रहती हैं। और इसका सर्वप्रथम अध्ययन एवं इसका प्रभावी क्षेत्र उपध्रुवीय रहा। अतः इसे **ध्रुव्रीय वाताग्र सिद्धांत** के नाम से पुकारा गया। इसमें एक और ठण्डी शुष्क व भारी पूर्वी ध्रुवीय पवनें बहती हैं एवं इससे ठीक विपरीत दिशा में इसी के सहारे गर्म व आर्द्र पछुआ पवनें बहती है। ये दोनों आमुख पवनें अपनी सीमा पर धीरे धीरे क्रिया प्रतिक्रिया करने लगती है। इसी से चक्रवात का जीवन चक्र प्रारम्भ या विकसित होता है। इन विद्वानों ने चक्रवात के इस जीवन चक्र को **छः अवस्थाओं** में सचित्र बताया है।

शीतोष्ण चक्रवात के विकास में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गर्म हवा हल्की गत्यात्मक **(Dynamic)** एवं विशेष आर्द्रतायुक्त होती है। अतः वह निरन्तर ठण्डी हवा की और दबाव डालती हुई स्वयं भी ऊपर उठती जाती है। इस प्रकार ठण्डी व गर्म हवाओं को पृथक करने वाला तल लहरदार बनता जाता है। आगे की ओर दबाव डालती हुई पछुआ पवनें जहाँ ठण्डी धुव्रीय वायु राशि से घिरने लगती है, वहीं इस लहरदार खण्ड के मध्यवर्ती भाग में निम्न वायुदाब की दशा विकसित होने के साथ ही शीतोष्ण चक्रवात विकसित रुप ले लेता है इसी समय जहाँ पूर्वी भाग में गर्म हवाओं के विशेष व गतिशील प्रभाव से **उष्ण वाताग्र** विकसित होता

जाता है, वहीं इससे कुछ दूरी पर चक्रवात के पिछले भाग में ठण्डी हवाएँ भूमि पर रेंगती हुई अपना प्रभाव क्षेत्र पुनः स्थापित करने का प्रयास करती हैं। अतः वहाँ **शीत वाताग्र** विकसित हो जाता है। लम्बवत् स्थिती में उष्ण वाताग्र उन्नतोदर (Convex) ढाल वाला होता है।

इस प्रकार निरन्तर विकासमान शीतोष्ण चक्रवात के पूर्वी भाग में उष्ण वाताग्र तथा पश्चिमी भाग में शीत वाताग्र विकसित अवस्था में रहता है। उष्ण वाताग्र के सहारे उष्ण वायु शीतल वायु के ऊपर उठती है, इसके विपरीत शीत वाताग्र के सहारे ठण्डी वायु उष्ण वायु को ऊपर धकेलती है। चक्रवात के पूर्वी भाग में उष्ण वायु के बढ़ने के साथ ही वायुदाब का स्पष्ट व केन्द्रीय भाग विकसित हो जाता है। इससे निकट की वायु तीव्रता से केन्द्र की ओर पहुँचने का प्रयास करती है। इसके फलस्वरुप शीत वाताग्र उष्ण की अपेक्षा तेजी से उष्ण वाताग्र की ओर आगे बढ़ता है। इसी कारण दोनों वाताग्र निकट आने लगते हैं। जब शीत वाताग्र उष्ण वाताग्र को ऊपर उठा देता है, तभी वहाँ **संरोधित वाताग्र (Occluded Front)** बन जाता है। इसी के साथ वहाँ का शीतोष्ण चक्रवात समाप्त होने लगता है। यदि उष्ण वाताग्र से कभी कभी ऊपर उठते समय कुछ आर्द्र व गर्म पवन ठण्डी वायु के बीच प्रवेश कर जाती है तो वहाँ द्वितीयक या कम प्रभावी चक्रवात भी बन सकते है। इन्हें **उप-चक्रवात (Secondary Cyclones)** भी कहते है।

शीतोष्ण चक्रवात का जीवन चक्र (Life of Temperate Cyclone)

शीतोष्ण चक्रवात की उत्पत्ति एवं जीवन चक्र छः क्रमिक अवस्थाओं में निम्न प्रकार से पूरा होता–

पहली अवस्था (First Stage)– इसमें ठण्डी तथा उष्ण वायु एक दूसरे से विपरीत दिशा में चलती है। यहाँ स्थिर वाताग्र बनते हैं।

दूसरी अवस्था (Second Stage)– इस अवस्था में गर्म पछुआ पवन ठण्डी वायु में प्रवेश करने का प्रयास प्रारम्भ करती है जिसके परिणामस्वरुप लहरदार वाताग्र बनने लगता है।

तीसरी अवस्था (Third Stage)– इस अवस्था में चक्रवात की उत्पत्ती स्पष्ट होती जाती है। इसमें उष्ण और शीत वाताग्रों का विकास हो जाता है।

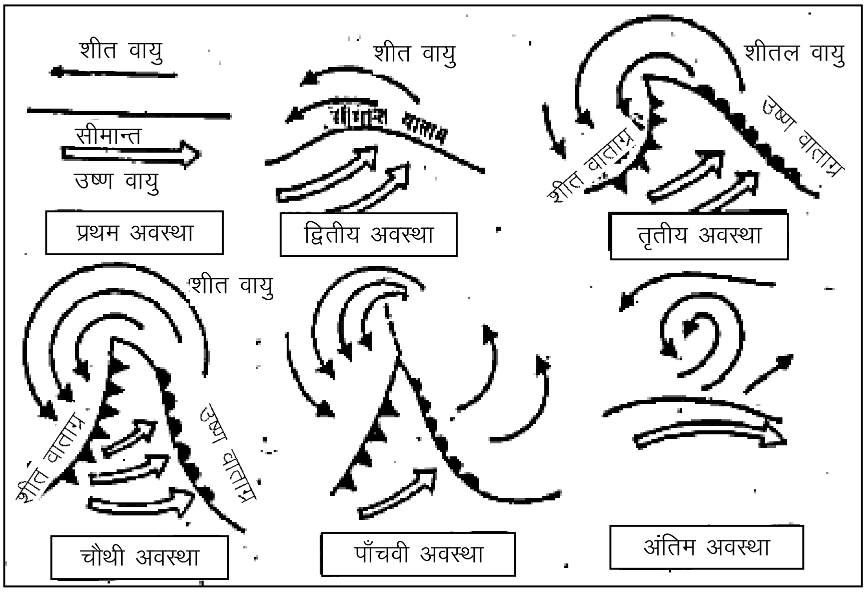

चित्र क्र. 3.6: शीतोष्ण चक्रवात के जीवन चक्र की छः अवस्थाएँ

चौथी अवस्था (Fourth Stage)– शीत वाताग्र के तेजी से आगे बढने के कारण उष्ण वृत्तांश (Warm Sector) संकुचित होता जाता है। यहॅा आकृति सँकरे वेज या गहरे 'V' जैसी होती जाती है।

पाँचवी अवस्था (Fifth Stage)– इस व्यवस्था में शीत वाताग्र निरन्तर उष्ण वाताग्र को ऊपर उठता जाता है।

छठी अवस्था (Six Stage)– इस अवस्था में उष्ण वृत्तांश **(Warm Sector)** पूर्णतः ऊपर उठ जाता है। अतः चक्रवात समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही पुनः अवस्था जैसी स्थिति आ जाती है।

2. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical Cyclones)

व्यापारिक हवाओं की पेटी में मुख्यतः महाद्वीपों के पूर्वी भागों में एवं उष्णकटिबन्धीय मानसून प्रदेशों में उत्पन्न एवं विकसित होने वाले सभी प्रकार के विक्षोभ उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों में आते है। इनको क्षेत्रवार विविध नामों से पुकारते हैं। वर्तमान के जलवायु व मौसम विज्ञान के अध्ययन में इनका विशेष महत्व माना जाता है क्योंकि यह प्रभावित क्षेत्र में तेजी से उग्र रुप धारण करके उत्पात मचाते रहते हैं। इनमे आकस्मिक रुप से अपार धन की हानि तत्काल हो जाती है।

स्थिति (उत्पत्ति क्षेत्र) एवं नाम (Occurrence and Nomenclature)

इनका विकास या उत्पत्ति मुख्यतः 8° अक्षांश से 20° अक्षांश के मध्य होता है किन्तु इनका प्रभाव 35° अक्षांश तक दोनों गोलार्द्धों में बना रहता है। **सभी उष्णकटिबन्धीय चक्रवात आवश्यक रुप में महासागरीय तरल पर ही जन्म लेते हैं। सूर्य उग्र से रौद्र रुप तक धारण कर लेते हैं।** इनके उत्पत्ति क्षेत्र विषुवत्रेखीय शान्त खण्ड की सीमा पर मुख्यतः होते हैं। इन्हें विश्व के विभिन्न भागों में निम्नांकित नामों से पुकारते है।

टिप्पणी

(अ) हिन्द महासार के उत्तरी भाग में– उष्ण चक्रवात या तूफान **(Tropical** Cyclone or Thunder Storm)

(ब) दक्षिण हिन्द महासार में– पूर्वी अफ्रीका व मेडागास्कर के तट पर टोरनेडो (Tornado) या उष्ण चक्रवात।

(क) दक्षिण चीन सागर में– टाइफून (Typhoon)

(ड) ऑस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्वी एवं उत्तर-पश्चिमी तट पर– विली विली (Willy-Willy)

(इ) पश्चिमी द्वीप समूह खाड़ीं तट एवं केरिबियन सागर में– हरीकेन **(Huricane)**

यहाँ चित्र में इनका ग्लोबीय वितरण स्वरुप दर्शाया गया है।

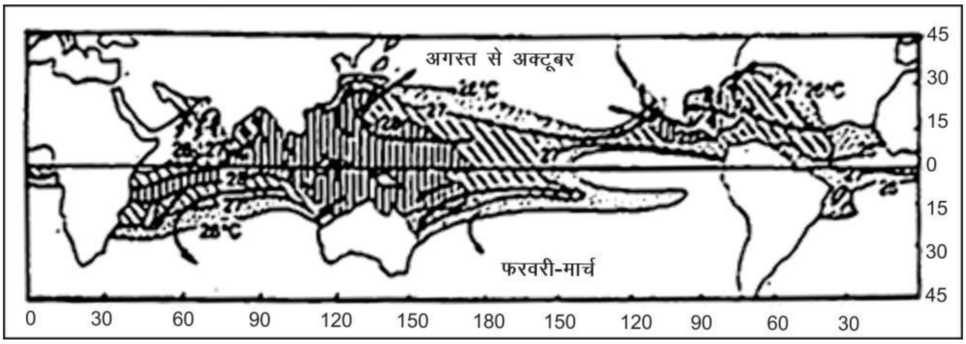

चित्र क्र. 3.7: ग्रीष्मकाल में उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का ग्लोबीय मार्ग

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति एवं विकास के लिए अनुकूल दशाएँ (Favourable Conditions For Origin and Development of Tropical Cyclones)

व्यापारिक हवाओं की पेटी एवं विषुवत्रेखीय शान्त खण्ड का मिलन क्षेत्र उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों के विकास का आदर्श प्रदेश कहा जा सकता है। यहाँ के शान्त सागर क्षेत्रों मे स्थानीय संवहन के समय धोंकनी की भाँति निरन्तर जल वाष्प ऊपर उठती है। संवहन चलने की आदर्श दशा होने पर इसमें तूफानी लक्षण आने लगते है। ऐसे ही उत्पत्ति स्थलों पर स्थानीय रुप से निरन्तर नमी का क्षेत्र संतृप्त बनने एवं वहाँ के ऊँचे तापमान के सम्मिलित कारणों से तेजी से वायुदाब भी गिरता जाता है। इससे समदाब रेखाओं का ऐसा वृत्ताकार घेरा बनता जाता है जिसकी प्रवणता तीव्र बनी रहती है। ऐसे उष्ण चक्रवात प्रायः एक मौसम से दूसरे मौसम में परिवर्तन काल अथवा वायुभार की पेटियों के उत्तर या दक्षिण में खिसकने के समय अधिक विकसित होकर चलते है। कई बार यह उत्पत्ति स्थल पर (सागर पर) कई दिनों तक स्थिरप्रायः रहकर अधिक शक्तिशाली टोरनेडो या हरीकेन का रुप धारण कर लेते हैं। यह चक्रवात दोनों गोलार्द्ध में ग्रीष्म काल के प्रारम्भ या उत्तरार्द्ध में ही विशेष उग्र बने रहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में जल थल दोनों का ही विस्तार होने एवं अधिकांश बसाव के क्षेत्र होने से इनका रौद्र रुप तटीय भागों मे

प्रतिवर्ष कई बार देखा जा सकता है। बंगाल की खाड़ी में आन्ध्र तट से बांग्लादेश तक प्रतिवर्ष यह प्रलय मचाते रहते हैं।

गति (Velocity)

उष्ण चक्रवातों की अपनी प्रवाह गति एवं उनमें बहने वाली पवनों की गति दोनों पूर्णतः भिन्न होती हैं–

(अ) स्वयं चक्रवात रेंगती गति से चलते है। जब तक ये सागर तल पर रहते हैं, इनकी विकरालता बढ़ाने वाली नमी उसकी गुप्त उष्मा एवं इसके प्रभाव से विशेष न्यून वायुदाब सभी आदर्श रुप में इन्हें मिलते रहते हैं, क्योंकि यहाँ इनकी गति 0 से 10 किलोमीटर प्रति घण्टा से अधिक नहीं रहती। अपवादस्वरुप ही यह 10 से 30 किलोमीटर प्रति घण्टा की गति से कहीं कहीं या कभी–कभी ही आगे बढ़ते है।

(ब) ऐसे चक्रवातों मे समदाब रेखाएँ बहुत पास पास होने से प्रबल बनी रहती हैं। कम विकसित या क्षीण चक्रवातों में पवनों की गति 30 से 50 किलोमीटर प्रति घण्टा तक ही रहती है किन्तु अधिकांशतः जब भी उष्णकटिबंधीय चक्रवात पूर्ण विकसित या क्षीण चक्रवातों मे पवनों की गति 30 से 50 किलोमीटर प्रति घण्टा तक ही रहती है, किन्तु अधिकांशतः जब भी उष्णकटिबंधीय चक्रवात पूर्ण विकसित होकर रौद्र रुप धारण करते हैं तब पवनों की गति प्रलयकारी 80 से 240 किलोमीटर के मध्य कुछ भी हो सकती है। सन 1970 से 1975 के मध्य बंगाल की खाड़ी में आये ऐसे ही हरिकेन यश भयंकर तूफानों में 15 मीटर ऊँची सागरीय लहरें उठी एवं वायु की गति 240 किलोमीटर तक अप्रत्याशित रुप से रौद्र रुप में पहुँच गई एवं इसी के प्रलयकारी प्रभाव से कम से कम तीन लाख व्यक्ति मारे गयें। ऐसे सभी उष्णकटिबंधीय चक्रवातों की एक उल्लेखनीय विशिष्टता यह है कि ज्यों ही ये सागर तट पार कर भूमि की और बढते हैं इनके उत्पाति इन्जन को जल वाष्प एवं गुप्त उष्मा मिलनी बन्द हो जाती है। अतः वहाँ यह शीघ्र क्षीण होने लगता है। इससे हवा की गति कुछ ही घण्टों (12 से 15) घण्टों में क्षीण होती जाती है।

वायुदाब जल वाष्प एवं तापमान (Air Pressure, Water Vapour and Temperature)

उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के विकास के लिए ये तीनों ही आधार स्तम्भ हैं। पास पास वृत्ताकार समदाब रेखाएँ भीतर की और सघन न्यून भार एवं सागर तल पर निरन्तर वाष्पीकरण तथा गुप्त उष्मा के प्रभाव से सघन न्यून भार की दशा बने रहना एक दूसरे से जुड़े हुए अविभक्त पहलू हैं। एक विकसित हरीकेन या बंगाल की खाड़ी के चक्रवाती तूफान की बाहरी समदाब रेखा जहाँ 1016 या 1012 मिलीबार होती है, वहीं भीतरी मध्यवर्ती न्यूनदाब 950 मिलीबार तक ही रह जाता हैं

चित्र में शीतोष्ण चक्रवातों में ऐसी चौंकाने वाली दशा कहीं नही पाई जाती क्योंकि उष्णकटिबन्धिय चक्रवात का विस्तार 200 से 320 किलोमीटर के मध्य एवं

वृत्ताकार आकार में रहता है। इसी के प्रभाव से वहाँ अत्याधिक तेज गति से पवनें चलती हैं। इससे कई बार स्थानीय रुप से संवहन के साथ पानी की धार भी ऊँपर उठने लगती हे। इसी कारण ऐसे उत्पाती चक्रवातों में भारी वर्षा के समय मरे हुए छोटे जीव भी पाये जाते हैं। सामान्यतः सतह पर उष्ण चक्रवातों के तापमान ऊँचे बने रहते हैं। यह 26° से 29° सेण्टीग्रेड के मध्य रहते है।

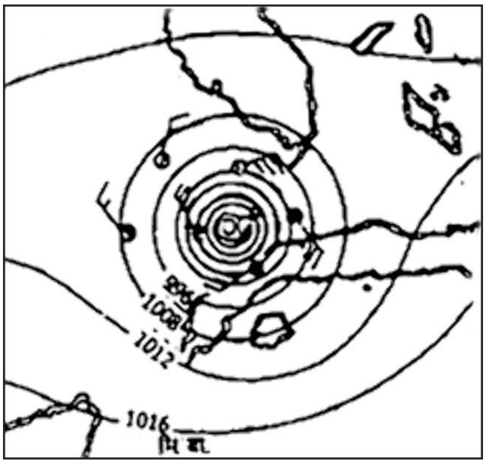

चित्र क्र. 3.8ः फ्लोरिडा (संयुक्त राज्य) तट की ओर बढता हुआ ग्रीष्मकालीन हरीकेन

अधिकांश उष्णकटिबन्धीय चक्रवात ग्रीष्म समाप्त से प्रायः दो माह बाद आते है। यह पश्चिमी द्वीप समूह एवं चीन सागर में सितम्बर में बंगाल की खाड़ी में मानसून दशा के कारण दो बार मानसून से पूर्व अप्रैल मई एवं मानसून से पश्चात् अक्टूबर नवम्बर में आते हैं। बंगाल की खाड़ी से मानसून काल में भी उष्ण चक्रवात विकसित होते रहते है। ये ऋतु मानचित्रों में (D) या (DD) द्वारा दर्शाये जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये गहरे मानसूनी अगाध होने के साथ-साथ इनकी धुरी पर 3 से 7 किलोमीटर की ऊँचाई तक अधिक नमी रहने से इनका भूमि पर नागपुर के पठार व उत्तर प्रदेश तक प्रभाव बना रहता है। इसमें समदाब रेखा का अन्तर 20 से 35 मिलीबार तक ही रहता है।

उष्ण चक्रवातों का आगमन – मेघ, वर्षा, एवं प्रभाव – (Coming of Temperature Cyclones-Clouds, Rain and Effect)

एक सुविकसित उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का क्षैतिज विस्तार या व्यास 400 किलोमीटर के आस–पास रहता है। लम्बे समय तक सागर पर रहने से यह दाब अब हरीकेन का या रौद्र तूफान का रूप धारण कर लेता है। इसमें 6 से 10 किलोमीटर की ऊँचाई तक जल वाष्प एवं गुप्त ऊष्मा के प्रभाव से एवं संवाहनिक गति होने से निरन्तर गर्जन–तर्जन एवं वायु विक्षोभ तेजी से बना रहता हैं तथा इसकी बाहरी सीमा के बाहर भी ऊपर वायुमण्डल में इसका प्रभाव छाया हुआ रहता है। इसी कारण उष्ण चक्रवात या हरीकेन आने से कुछ घण्टे पूर्व ही आकाश में निम्न पक्षाभ व मिश्रित मेघ बड़े आकार में फैल जाते हैं। 30 से 50 किलोमीटर प्रति घण्टा की गति से पवनें चलने लगती हैं। चक्रवात के आगमन के साथ ही

सम्पूर्ण वायुमण्डल घने व काले वर्षी एवं ऊँचे कपासी मेघों से ढँक जाता है। दिन में ही अँधेरा–सा हो जाता है। तेज गति से झंझावात चलता है। चक्रवात के प्रवेश के साथ ही पवनों की गति 100 से 200 किलोमीटर प्रति घण्टा या उससे भी अधिक हो जाती है। समुद्र में खड़े जहाज लंगर तोड़कर भटक जाते या डूब जाते हैं। भारी से बहुत भारी वर्षा एवं रौद्र गति से चलने वाली मरूत सभी मिलकर सागर तट व तट के निकट के भागों में द्वीपों पर प्रलय मचा देते हैं। चूँकि ऐसे हरीकेन या उष्ण चक्रवात की गति धीमी रहती है अतः यह उत्पात कहीं भी कुछ घण्टों तक ही रह सकता है। जब मध्यवर्ती भाग निकट पहुँचता है तो यकायक हवा चलना बन्द हो जाती है, क्योकि यह केन्द्रीय भाग **चक्रवात की आँख (Eye of the Cyclone)** कहलाता है। यहाँ पर वास्तव में पवनें नीचे उतरती है। इसी के दबाव व प्रभाव से वर्षा व पवन गति को ब्रेक (रोक) लग जाता है। ये नीचे उतरने वाली पवनें समुद्री सतह पर पुनः तापमान **बढते ही वाष्पीकरण** करके ऐसे चक्रवात को सजीव या ताकतवर बनाये रखती हैं

चक्रवात की आँख एक प्रकार का धोखा है क्योंकि ऐसे समय में मानव सुख–चैन की साँस लेने लगता है, वह धोखा खा जाता है कि चक्रवात चला गया,

जबकि वास्तव में थोड़ी देर बाद वही रौद्र रूप लिए चक्रवात गर्जन व चमक के साथ दहाड़ने लगता है। इस बार मानव की असावधानी से ऐसे चक्रवात (प्रभंजन) दुगुना व घातक कुप्रभाव डाल देते हैं। संयुक्त राज्य, दक्षिणी चीन, दक्षिणी जापान, बंगाल की खाड़ी के तट पर इससे भारी नुकसान होता रहता है। बांग्लादेश में नवम्बर 1970 में आये ऐसे ही चक्रवात से तीन लाख से अधिक व्यक्ति मारे गये एवं डेल्टा से तटीय भाग के निकट के 15 छोटे–छोटे द्वीपों की आबादी 12 से 18 मीटर ऊँची लहरों में बह गयी एवं वहाँ का सभी कुछ इसमें समा गया।

सौभाग्यवश ऐसे चक्रवात मुख्य भूमि पर प्रवेश करने के पश्चात् शीघ्र कमजोर पड़ने लगते हैं। नवम्बर 1970 का प्रलयकारी चक्रवात बंगलादेश में प्रवेश करने के पश्चात् 24 घण्टे में ही क्षीण हो गया। यही स्थिति अधिकांश हरीकेन एवं अन्य उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की रहती है क्योंकि भूमि पर प्रवेश करते ही सागर तल से जो निरन्तर वाष्पीकरण एवं अतिरिक्त गुप्त ऊष्मा प्राप्त होती रहती थी, वह मिलना एकदम बन्द हो जाती है। इससे समदाब रेखाओं की आस–पास की व्यवस्था एवं उसकी ऊर्ध्वाधर स्थिति दोनों ही छिछली बनकर तेजी से कम प्रभावी होती जाती हैं। यही सब कारण उष्णकटिबन्धीय रौद्र (भयंकर) प्रभाव वाले चक्रवातों के शीघ्र समाप्त होने का आधार है। दूसरी ओर मानसून काल मे जून से सितम्बर तक भारतीय उपमहाद्वीप की ओर जो चक्रवात या डिप्रेशन (D या DD के चिन्ह) के साथ प्रवेश करते हैं, ऐसे सम्पूर्ण प्रदेश में दक्षिण–पूर्वी मानसूनी पवनों के साथ 5 से 8 किलोमीटर की ऊँचाई तक भारी मात्रा में जल वाष्प भी प्रवेश करती है। इसी कारण मानसून काल के ऐसे चक्रवात दक्षिणी भारत से प्रवेश करने के पश्चात् देश के भीतरी भागों तक एवं कई दिनों तक तो एक सप्ताह तक भी प्रभावी रहते हैं। सन् 1993 में जून व जुलाई में पहले पूर्वी भारत में एवं बाद में पंजाब, हरियाणा एवं हिमाचल प्रदेश में (10 जुलाई के बाद) हुई भारी वर्षा एवं निरन्तर बाढ़ की स्थिति ऐसे ही वेज या अगाध (Trough) के प्रभाव से ही विकसित हुई। इनमें

टिप्पणी

समभार रेखाएँ अपेक्षतया कुछ दूर–दूर होती हैं अतः 30 से 50 किलोमीटर तक ही पवनें चलती हैं। नवम्बर 1993 के ऐसे ही तूफान से दक्षिण तमिलनाडु में भारी जान व माल का नुकसान हुआ।

जहाँ उत्तरी गोलार्द्ध में विकसित होने वाले उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का व्यास 200 से 400 किलोमीटर तक रहता है, वहीं गिनी के तट पर एवं पूर्वी अफ्रीका के दक्षिणवर्ती तट व मैडागास्कर पर चलने वाले ऐसे टोरनेडो तूफान छोटे होते हैं। इनका व्यास कुछ ही किलोमीटर तक या आधा किलोमीटर भी हो सकता है। यह स्थानीय रूप से भी ऐसा ही प्रभाव डालते हैं जैसे कोई धूलभरा झंझावात या बवण्डर (Dust Devil) थोड़े समय में ही छोटे से क्षेत्र में प्रभाव डालता है। इनमें भी पवनों की गति 50 से 150 किलोमीटर प्रति घण्टा तक रहती है। ऐसे सभी चक्रवात ग्रीष्म काल की समाप्ति के साथ ही शान्त हो जाते हैं। भारत में ये बंगाल की खाड़ी में नवम्बर में भी उत्पन्न होते हैं।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

2. चक्रवातों की मुख्य विशेषता है।
   (अ) हवाओं की चक्रीय गति होना
   (ब) केन्द्र में निम्न वायुदाब एवं बाहर की ओर वायुदाब का बढ़ना
   (स) केन्द्र में उच्च वायुदाब एवं बाहर की वायुदाब का घटना
   (द) इनमें से कोई नहीं
3. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का व्यास होता है।
   (अ) 200 से 300 किमी. (ब) 300 से 450 किमी.
   (स) 400 से 550 किमी. (द) 500 से 650 किमी.
4. उष्ण कटिबन्धिय चक्रवात कहाँ आते है?
   (अ) $5^o - 10^o$ उत्तरीय अक्षांश
   (ब) $5^o - 15^o$ उत्तरीय अक्षांश
   (स) $5^o - 10^o$ दक्षिणी अक्षांश
   (द) $5^o - 30^o$ दक्षिणी अक्षांश
5. गलत जोड़ा बताइए?
   (अ) चीन सागर–टाइफून (ब) भारत–चक्रवात
   (स) पूर्वी द्वीप समूह–हरीकेन (द) ऑस्ट्रेलिया–टोरनेडो

3.4 विश्व की जलवायु का वर्गीकरण– कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट (Classification of World Climate – Koeppen and Thornthwaite)

विश्व जलवायु के वर्गीकरण का आधार निरन्तर परिवर्तनशील एवं संवेदनशील मौसम व जलवायु के अनेक तत्वों का सकल प्रभावी परिणाम रहता है। स्थान सन्दर्भ में जलवायु क्षेत्र व प्रदेशवार परिवर्तनशील रहता है। स्थान सन्दर्भ में भी यह मात्र औसत दशा को ही दर्शाती है। अतः **"किसी स्थान के निरन्तर परिवर्तनशील मौसम के तत्वों का विशेष समय के सन्दर्भ में ज्ञात किया गया औसत ही जलवायु है।"** अतः जलवायु के विविध एवं विषय समायोजन के प्रभाव को समय स्थान एवं वातावरण के सन्दर्भ में ध्यान रखकर ही विश्व जलवायु का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाना चाहिए। **मोंकहाउस** के अनुसार, **"जलवायु का वर्गीकरण सुविधाओं का वर्गीकरण है।"** "जलवायु में मौसम की अवस्थाओं का वर्णन विस्तृत क्षेत्र एवं लटके समय तक किया जाता है।"

3.4.1 मौसम और जलवायु (Weather and Climate)

किसी स्थान–विशेष पर वायुमण्डल की अल्पकालीन दशाओं को **'मौसम'** कहते हैं। मौसम की जानकारी हेतु ताप, दाब, आर्द्रता तथा हवा, अदि का पूर्ण अध्ययन करना आवश्यक है। ये सभी प्रायः परिवर्तनशील होते हैं। इनकी परिवर्तनशीलता अविश्वसनीय भी है। किसी स्थान–विशेष के मौसम की औसत दशा ही जलवायु है।

3.4.2 विश्व जलवायु को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting the World Climate)

विश्व जलवायु को प्रभावित करने वाले प्रधान कारक (तत्व) निम्नांकित हैं। इनका वर्णन पुस्तक के पूर्व के अध्यायों में यथास्थान किया गया है–

(i) अक्षांश,

(ii) जल–थल का स्वरूप विस्तार,

(iii) समुद्र से दूरी एवं महाद्वीपीयता,

(iv) समुद्र तल से ऊँचाई,

(v) पवनों की दिशा,

(vi) स्थानी वायुदाब एवं पवन पेटियाँ, उनका मौसमी वितरण,

(vii) पर्वतों का अवरोध, उनका तटों के सन्दर्भ में विशेष विस्तार स्वरूप, एवं,

(viii) समुद्री धाराएँ।

यूनान काल से ही अनेक विद्वानों ने जलवायु के तत्वों एवं विश्व जलवायु प्रदेशों को समझाने का प्रयास किया है। यूनान काल में अरस्तू, थियोफ्रेस्ट,

टिप्पणी

इरेटॉस्थनीज एवं टॉलेमी, आदि महान विद्वानों ने इसे समझाया था। उत्तर–मध्य युग में **सूपन** ने विश्व जलवायु वर्गीकरण के लिए तापमान के आधार पर विश्व को उष्ण, शीतोष्ण व शीत कटिबन्धों में बाँटा था। **वान हम्बोल्ट** ने समताप रेखाओं का आविष्कार कर जलवायु की दशाओं के वर्णन का वैज्ञानिक आधार प्रदान किया था। बीसवीं सदी में कोपेन, थॉर्नथ्वेट, ट्रिवार्थ, ब्लेयर, केण्ड्रयू एवं कई अन्य विद्वानों ने भिन्न–भिन्न आधारों–वर्षा व तापमान, इनकी प्रभावी क्षमता, वर्षा व वाष्पीकरण अनुपात के प्रभावों का परिणाम, आदि तथ्यों से विश्व जलवायु का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। यहाँ **कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट** का विश्व जलवायु का वर्गीकरण समझाया गया है। इसके साथ ही विश्व के सामान्य जलवायु के प्रदेशों का संक्षिप्त वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है।

जलवायु को प्रभावित करने वाले तत्वों के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है–

1. **तापमान के आधार पर (On the basis of Temperature)**– प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक **सूपन** ने तापमान के आधार पर विश्व की जलवायु को तीन कटिबन्धों में विभाजित किया है–
   - (i) उष्ण कटिबन्ध,
   - (ii) शीतोष्ण कटिबन्ध, तथा
   - (iii) शीत कटिबन्ध।

इनका विस्तृत विवरण सूर्यताप एवं वायु तापमान नामक अध्याय में विस्तार से दिया गया है।

2. **पवनों के आधार पर (On the basis of Winds)**– पवनों के आधार पर अमेरिकन भूगोलवेत्ता डेविस ने पृथ्वी को तीन कटिबन्धों में विभाजित किया है–
   - **(i) उष्ण कटिबन्ध (Tropical Zone)**– इस कटिबन्ध में शान्त पवनों की पेटियाँ (डोल्ड्रम) स्थित हैं। यहाँ सनातनी पवनें चलती हैं। विषुवत् रेखा के दोनों ओर लगभग 5^o उत्तर–दक्षिण तक सूर्य की लम्बवत् किरणों के कारण तापमान अधिक रहता है। अतः यहाँ निम्न वायुदाब विकसित होता है। यहाँ हवाएँ शान्त एवं अशक्त रहती हैं। इसीलिए यह शान्त मण्डल कहलाता है।
   - **(ii) शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperature Zone)**– इस कटिबन्ध में पछुआ पवनें प्रवाहित होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में जलीय भाग की अधिकता के कारण पवनें अधिक तीव्रगति से चलती हैं जिन्हें 40^o से 50^o अक्षांशों पर **गरजती चालीसा** (Roaring Forties) कहा जाता है।
   - **(iii) शीत कटिबन्ध (Frigid Zone)**– इसमें ध्रुवीय पवनें चलती हैं। यह वर्गीकरण भी दोषपूर्ण हैं क्योंकि इन कटिबन्धों की सीमाएँ अनिश्चित रहती हैं क्योंकि सूर्य की स्थिति उत्तरायण व दक्षिणायण होती रहती है।

3. **स्थिति के आधार पर (On the basis of Location)**– किसी स्थान विशेष की स्थिति के आधार पर जलवायु को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–
   (i) सामुद्रिक जलवायु (Oceanic Climate)
   (ii) महाद्वीपीय जलवायु (Continental Climate)
   (iii) तटीय जलवायु (Coastal Climate)
   (iv) पर्वतीय जलवायु (Mountainous Climate)
4. **वर्षा के आधार पर (On the basis of Rainfall)**– वर्षा के आधार पर **ब्लेयर** ने धरातल को निम्न पाँच जलवायु खण्डों में विभाजित किया है

विभिन्न कारणों से वर्षा के आधार पर किया गया जलवायु वर्गीकरण भी अनुपयुक्त तथा भ्रामक है।

सारणी क्र. 3.1

जलवायु खण्ड	वर्षा के प्रकार	वार्षिक वर्षा (इंच में)
शुष्क	कम	0–10
अर्द्धशुष्क	हल्की	10–20
अर्द्ध–आर्द्र	मध्यम	20–40
आर्द्र	भारी	40–80
अति आर्द्र	बहुत भारी	80 से अधिक

5. **वनस्पति के आधार पर (On the basis of Vegetation)**– कुछ विद्वानों ने जलवायु को वर्गीकृत करने के लिए वनस्पति को आधार बनाया है क्योंकि वनस्पति को जलवायु का वास्तविक सूचकांक कहा जाता है। सामान्यतः वनस्पति के आधार पर जलवायु को निम्न 11 भागों में विभाजित किया जा सकता है–
   (i) उष्ण कटिबन्धीय उष्ण आर्द्र वन (Tropical Rain Forests)
   (i) हल्के उष्ण कटिबन्धीय वन (Light Tropical Forests)
   (iii) छोटे पेड़ व झाड़ियों तथा काँटेदार वन (Shrubs and Thorn Forests
   (iv) भूमध्य सागरीय वन (Mediterranean Forests)
   (v) चौड़ी पत्ती वाले वन (Broad Leaf Forests)
   (vi) कोणधारी अथवा टैगा वन (Coniferous or Taiga Forests)
   (vii) सवाना वनस्पति (Savannah Vegetation)
   (viii) प्रेयरी वनस्पति (Prairie Vegetation)
   (ix) स्टेपी वनस्पति (Steppe Vegetation)
   (x) मरूस्थलीय वनस्पति (Desert Vegetation)
   (xi) टुण्ड्रा वनस्पति (Tundra Vegetation)

3.4.3 कोपेन एवं थॉर्नथ्वेट (Koeppen's and Thornthwaite)

कोपेन का जलवायु वर्गीकरण (Koeppen's Classification of World Climates)

प्रसिद्ध जलवायु विज्ञानवेत्ता डॉ. व्लाडिमिर कोपेन (Dr. Wladimir Koeppen) जर्मनी के निवासी थे। इन्होंने सर्वप्रथम सन् 1918 में एवं बाद में सन् 1931 में विश्व की जलवायु का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। इसके बाद सन् 1936 में इनके वर्गीकरण का अन्तिम संशोधित रूप प्रकाशित हुआ। इसका आज भी बहुत महत्व है। अपने इस जलवायु वर्गीकरण में कोपेन ने वनस्पति व जैव जगत पर जलवायु के प्रभाव को विशेष महत्वपूर्ण माना है। इसी कारण इसे प्राकृतिक वनस्पति का अनुभाविक वर्गीकरण (Empirical Classification) भी कहा जाता है। इन्होंने बताया कि पौधों के विकास के लिए वर्षा की प्रभावशीलता, वर्षा की मात्रा तथा तापमान का सुचारू रूप से प्राप्त होना परम आवश्यक है।

कोपेन ने जलवायु के वर्गीकरण को 6 भागों में बाँटा जिन्हें उसने अँग्रेजी के बड़े अक्षरों (Capital Letters) A,B,C,D,E और H द्वारा प्रदर्शित किया। ऐसे प्रत्येक अक्षर का सामान्य अर्थ निम्नानुसार है–

1. A– उष्णकटिबन्धीय या भूमध्यरेखीय आर्द्र जलवायु (Tropical or Equatorial Wet Climate)
2. B– शुष्क जलवायु (Dry Climate)
3. C– उष्ण–शीतोष्ण आर्द्र जलवायु (Warm Temperate Humid Climate)
4. D– शीत–शीतोष्ण जलवायु (Cold Temperate Climate)
5. E– ध्रुवीय जलवायु (Polar Climate)
6. H– उच्च पर्वतीय जलवायु (High Mountain Climate)

उपयुक्त भागों के कुछ उपविभाग दिये हुए हैं। इनको भी अँग्रेजी के अक्षरों द्वारा दर्शाया गया है जो इस प्रकार से हैं–

B – वर्ग की जलवायु को दो भागों में बाँटा गया है।

BS – स्टेपी जलवायु (Steppe Climate)

BW – मरूस्थलीय जलवायु (Desert Climate)

E – वर्ग की जलवायु को ET हिममण्डित टुण्ड्रा जलवायु तथा EF टैगा जलवायु में विभाजित किया गया है।

इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी के छोटे अक्षरों का प्रयोग किया गया है जो निम्नलिखित है–

f – आर्द्र

w – शीत ऋतु शुष्क

s – ग्रीष्म ऋतु शुष्क

m – ग्रीष्मकालीन मानसूनी प्रचुर वर्षा

उपयुक्त संकेत चिन्ह के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे अक्षरों का उपयोग निम्नानुसार है–

w' – शरद ऋतु में अधिक वर्षा

w'' – साल में दो बार अधिकतम और दो बार न्यूनतम वर्षा

I – सबसे गर्म व सबसे ठण्डे महीने का 5° सेण्डीग्रेड से कम तापान्तर

g – ग्रीष्मकालीन वर्षा ग्रीष्म संक्राति (Solstice) के ठीक पश्चात्

h – औसत वार्षिक ताप 18° सेण्टीग्रेड से ऊपर

k – औसत वार्षिक ताप 18° सेण्टीग्रेड से नीचे

k – सबसे गर्म महीने का ताप 18° सेण्टीग्रेड

n – कुहरे की भरमार

a – ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गर्मी–सबसे गर्म महीने का ताप 22° सेण्टीग्रेड से ऊपर

b – ग्रीष्म ऋतु शीतल–सबसे गर्म महीने का ताप 22° सेण्टीग्रेड से नीचे

c – शीत ऋतु शीतल व छोटी–वर्ष के आठ महीने का ताप 18° सेण्टीग्रेड से ऊपर

d – सबसे ठण्डे महीने का औसत ताप 18° सेण्टीग्रेड से नीचे

इस प्रकार कोपेन ने जलवायु के 6 भागों को कई उपविभागों में विभाजित किया इस विभाजन में इन्होंने वर्षा के मौसमी वितरण तथा मौसम की शुष्कता एवं तापमान के वितरण, आदि को आधार माना है। इस प्रकार कोपेन के अनुसार विश्व के मुख्य जलवायु प्रदेश निम्नलिखित हैं–

1. A– उष्णकटिबन्धीय आर्द्र जलवायु (Tropical Humid Climate) – इस प्रकार की जलवायु वाले भाग में वर्ष के प्रत्येक महीने का (सबसे शीतल महीने सहित) औसत तापमान 18° सेण्टीग्रेड से अधिक रहता है। इस तापमान के आधार पर यहाँ एकरूपता का गुण विद्यमान है एवं प्रायः वर्षभर वर्षा होती है। यहाँ पर औसत वाष्पीकरण वर्षा से कम होता है एवं शीत ऋतु नहीं पाई जाती। वर्षा, ताप व तापान्तर एवं शुष्कता का समय के अनुसार इसको निम्न उपभागों में बाँटा गया है–

(i) Af– उष्णकटिबन्धीय प्रचुर वर्षा वाले वन– यहाँ वर्षा वर्षभर होती रहती है। वार्षिक तापान्तर बिल्कुल नहीं रहता। अतः यहाँ शुष्कता का अभाव रहता है।

(ii) Am– उष्णकटिबन्धीय मानसूनी वर्षा तथा प्रचुर वन– इसे आर्द्र मानसूनी जलवायु भी कहते हैं। यहाँ वर्षा अधिक होने से वन बहुतायत से मिलते हैं। यहाँ एक लघु शुष्क ऋतु भी पायी जाती है।

(iii) Aw– उष्णकटिबन्धीय आर्द्र तथा शुष्क जलवायु वन– इसे उष्णकटिबन्धीय सवाना (Savannah) के नाम से भी जाना जाता है। इस भाग में शीत ऋतु शुष्क होती है। वर्षभर तापमान ऊँचा रहता है।

टिप्पणी

2. **B–शुष्क जलवायु (Dry Climate)–** इस जलवायु की मुख्य विशेषता यह है कि वार्षिक वर्षा की कुल मात्रा से वाष्पीकरण (Evaporation) अधिक होता है। अतः यहाँ अतिरिक्त जल की कमी रहती है। अधिकतम तापमान तथा वर्षा के महीनों के आधार पर इस भाग को दो उपविभागों में विभाजित किया गया है–

(i) BS–स्टेपी जलवायु– इसे अर्द्ध–शुष्क जलवायु के नाम से जाना जाता है। इस उपवर्ग की जलवायु सीमा को सही–सही ज्ञात करने के लिए विशेष सूत्र की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रदेश में वर्षा की मात्रा 38 सेण्टीमीटर से 75 सेण्टीमीटर तक होती है।

(ii) BW–मरूस्थलीय जलवायु– इस उपविभाग में वर्षा बहुत कम होती है। औसत वार्षिक वर्षा 25 सेण्टीमीटर से कम रहती है। इस जलवायु की सही सीमा ज्ञात करने के लिए सूत्र की सहायता लेनी पड़ती है।

उपयुक्त स्टेपी तथा मरूस्थलीय जलवायु को तापक्रम के आधार पर पुनः प्रत्येक को दो–दो उपविभागों में और बाँटा गया है–

(i) BS–(a) BSh–उष्णकटिबन्धीय स्टेपी जलवायु– यहाँ का औसत वार्षिक तापमान 18° सेण्टीग्रेड से अधिक रहता है।

(b) BSk– शीत स्टेपी जलवायु– यहाँ औसत वार्षिक तापमान 18° सेण्टीग्रेड से कम रहता है।

(ii) BW–(a) BWh– उष्णकटिबन्धीय मरूस्थलीय जलवायु यहाँ औसत वार्षिक तापमान 18° सेण्टीग्रेड से अधिक रहता है।

(b) BWk शीतकटिबन्धीय मरूस्थलीय जलवायु– यहाँ औसत वार्षिक तापमान 18° सेण्टीग्रेड से कम रहता है।

3. **C– उष्ण आर्द्र समशीतोष्ण जलवायु (Temperate Humid Mesthermal Climate)–** इसे उष्णशीतोष्ण (Mesothermal) जलवायु भी कहते हैं। यहाँ सबसे ठण्डे महीने का औसत तापमान 18° सेण्टीग्रेड से कम और –3° सेण्टीग्रेड से अधिक मिलता है। इस जलवायु में शीत तथा ग्रीष्म ऋतु दोनों बराबर पायी जाती हैं। इस जलवायु भाग को वर्षा के मौसमी वितरण के आधार पर निम्नलिखित तीन उप–विभागों में बाँटा गया है–

(i) Cf– वर्षभर उष्णशीतोष्ण जलवायु– यहाँ वर्ष की प्रत्येक ऋतु में वर्षा होती रहती है अथवा वर्षभर वर्षा होती है। ग्रीष्म ऋतु के शुष्कतम महीने में 3 सेण्टीमीटर से अधिक वर्षा होती है। इसको आर्द्र मध्य–तापीय जलवायु (Humid Mesothermal Climate) भी कहते हैं।

(ii) Cs– वर्षभर उष्णशीतोष्ण जलवायु– यहाँ ग्रीष्म ऋतु बिल्कुल शुष्क रहती है। ग्रीष्म ऋतु के सबसे शुष्क महीने की वर्षा 3 सेण्टीमीटर से कम

रहती है। शीत ऋतु के सबसे आर्द्र रहने वाले महीने में ग्रीष्म ऋतु के सबसे शुष्क महीने से तीन गुना अधिक वर्षा होती है।

(iii) **Cwg– वर्षभर उष्णशीतोष्ण जलवायु–** यहाँ शीत ऋतु बिल्कुल शुष्क रहती है। ग्रीष्म ऋतु के सबसे आर्द्र महीने में शीत ऋतु के सबसे शुष्क महीने से दस गुनी वर्षा अधिक होती है। इसे भी उष्णशीतोष्ण आर्द्र जलवायु (Humid Mesothermal Climate) कहते हैं। निम्न अक्षांशों की ओर जलवायु उष्ण एवं उच्च अक्षांशों की ओर शीतकाल में अन्तर्देशीय भागों में अधिक ठण्ड पड़ती है; जैसे– उत्तरी भारत एवं पूर्वी चीन दोनों में ही दशाएँ पाई जाती हैं।

4. **D शीतशीतोष्ण जलवायु (Cold Climate)–** यहाँ पर ठण्ड अधिक पड़ती है। इसलिए इसे हिम जलवायु (Snow Climate) के नाम से भी पुकारते है। वर्ष में सबसे गर्म महीने का तापमान 10° सेण्टीग्रेड से अधिक तथा सबसे ठण्डे महीने का तापमान –3° सेण्टीग्रेड से कम रहता है। इस जलवायु को दो भागों में विभाजित किया गया है–

(i) **Df– शीत–शीतोष्ण आर्द्र वन–** यहाँ शुष्क ऋतु नहीं होती। वर्षभर वर्षा होती रहती है। इन्हें टैगा प्रदेश भी कहते हैं।

(ii) **Dw– शीत–शीतोष्ण वन–** यहाँ शीत ऋतु शुष्क रहती है।

5. **E– ध्रुवीय जलवायु (Polar Climate)–** इस भाग में सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 10° सेण्टीग्रेड से कम रहता है। इस भाग में ग्रीष्म ऋतु का कोई नामों–निशान नहीं होता है–

(i) **ET– टुण्ड्रा जलवायु–** इसमें सबसे उष्ण महीने का तापमान 10° सेण्टीग्रेड से कम तथा 0° सेण्टीग्रेड से अधिक रहता है।

(ii) **EF– टैगा जलवायु–** ये सदैव बर्फ से आच्छादित रहते हैं।

6. **H– उच्च पर्वतीय जलवायु (High Mountainous Climate)–** इस प्रकार की जलवायु केवल विश्व के अधिक ऊँचे पर्वतों पर पायी जाती है। यहाँ पर हिम वर्षा एवं ठिगने कोणधारी वनों की दशाएँ पायी जाती हैं, जैसे–भारत में हिमालय पर्वत, उत्तरी अमेरिका में रॉकी पर्वत, यूरोप के आल्प्स पर्वत एवं दक्षिणी अमेरिका में एण्डीज पर्वत की उच्च श्रेणियाँ तथा नॉर्वे, स्वीडन में पर्वतीय भाग, आदि पर ऐसी ही जलवायु पाई जाती हैं।

कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की समालोचना (Criticism of Koeppen's Classification of Climate)

कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की प्रमुख समालोचनाएँ विशेषताएँ निम्नलिखित है–

(i) विश्व की जलवायु वर्गीकरण का अक्षरों का तरीका प्रस्तुत करने में कोपेन महोदय अग्रणी रहे हैं, वैसे अनेक लोगों ने अक्षरों का प्रयोग कर वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं लेकिन वह इन्हीं के आधार पर हैं।

(ii) कोपेन महोदय ने अपने जलवायु के उप–वर्गीकरण में अंग्रेजी के छोटे–बड़े अक्षरों का प्रयोग किया है। इससे वृहद् जलवायु प्रदेश को सरलता से उनके उपभागों में बाँटा जा सका है।

(iii) अंग्रेजी के बड़े अक्षरों (Capital Letters) के आगे एक नया अक्षर जोड़ने पर एक नये जलवायु उपविभाग को समझाया गया है।

(iv) इस वर्गीकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मुख्य भागों को ज्ञात करने के अलावा, अन्य छोटे–छोटे विभाग तथा उप–विभाग ज्ञात करने की विधि तथ्य पर सही एवं आसानी से समझी जा सकती है।

(v) कोपेन का जलवायु वर्गीकरण केवल वर्गीकरण का रूप ही नहीं है वरन् वायुमण्डलीय दशाएँ, वनस्पति का स्वरूप, इत्यादि बातें इस वर्गीकरण के अनुसार सही बैठती हैं।

आलोचना– इसकी आलोचना निम्न प्रकार की गयी है–

(i) कोपेन के वर्गीकरण में **थॉर्नथ्वेट** (Thornthwaite), **ब्रुक्स** (Broooks) **हेयर** (Hare) **वार्ड** (Ward) **को** (Crowe) आदि विद्वानों ने एक बात का बड़ा विरोध किया है। इन विद्वानों के अनुसार कोपेन ने वर्षा की प्रभावशीलता' (Effectiveness of Precipitaion) को काफी महत्व दिया है जो कि नियम के विपरीत है।

(ii) इस जलवायु वर्गीकरण में पवन की दिशा व प्रवाह, धरातलीय रचना, समुद्री धाराओं के संकेत, आदि के उपयोग का बिल्कुल अभाव है, जबकि ये भी आवश्यक हैं।

(iii) कोपेन ने अपने वर्गीकरण में पुगेट साउण्ड क्षेत्र पर वृक्षों के वनों को भूमध्य–सागरीय (Cs) क्षेत्र में भी सम्मिलित कर लिया है जो कि नियमानुसार गलत सिद्ध होता है।

(iv) कोपेन महोदय ने अपने वर्गीकरण में कृषिगत विशेषताओं पर ध्यान नहीं दिया है, जबकि जलवायु कृषि का एक महान सहायक तत्व है।

उपयुक्त पक्ष तथा विपक्ष में मत प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि कोपेन के जलवायु वर्गीकरण का कुछ कमियों के बावजूद आज भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव है।

3.4.4 थॉर्नथ्वेट का विश्व जलवायु वर्गीकरण (Thornthwaite's Classification of World Climate)

प्रसिद्ध अमेरिकन ऋतु विज्ञानवेत्ता थॉर्नथ्वेट ने अपने जलवायु वर्गीकरण को दो विशिष्ट भागों में वर्गीकृत करके वर्णन किया है। प्रथम वर्गीकरण सन् 1931 और सन् 1933 में प्रस्तुत किया तथा दूसरा वर्गीकरण सन् 1948 में प्रस्तुत किया था। थॉर्नथ्वेट ने आगे चलकर सन् 1955 में अपने वर्गीकरण को संशोधित भी किया। इनके दोनों वर्गीकरण प्रायः एक जैसे मालूम पड़ते हैं लेकिन सूक्ष्मता की दृष्टि से इन दोनों में विशेष अन्तर है। प्रथम अन्तर सन् 1933 में किये वर्गीकरण में केवल

पौधों को ही मौसम विज्ञान का एक विशेष यन्त्र माना जिसकी सहायता से मौसम के तत्वों की जानकारी की जा सकती है। सन् 1948 में द्वितीय वर्गीकरण पौधों को केवल प्राकृतिक साधन (Natural Means) के रूप में माना है जो कि धरातलीय जल को वाष्पीकरण (Evaporation) की क्रिया द्वारा वायुमण्डल में पहुँचाते रहते हैं।

थॉर्नथ्वेट महोदय ने जलवायु वर्गीकरण में तीन तत्वों को प्रमुख माना है जो इस प्रकार से हैं–

1. वर्षा की प्रभाविता।
2. तापीय दक्षता।
3. वर्षा का मौसमी वितरण।

थॉर्नथ्वेट ने विश्व के जलवायु वर्गीकरण में उपयुक्त तीनों तत्वों को ही मुख्य माना है। उसने इन तीन तत्वों के संयोग से 23 वर्गों को मान्यता दी है। वैसे इनका यदि सम्पूर्णतः विस्तृत उप–विभाजन किया जाये तो 120 वर्ग तैयार होते हैं। यहाँ पर थॉर्नथ्वेट के वर्गीकरण के आधारभूत तथ्यों को मुख्यतः समझाया गया है।

1. वर्षा की प्रभाविता (Precipitation Effectiveness)– थॉर्नथ्वेट ने इस तत्व में अंग्रेजी के दो बड़े अक्षरों को आधार माना है। प्रथम, वर्षा के लिए (P) तथा द्वितीय, वाष्पन के लिए (E)। इन दोनों अक्षरों द्वारा वर्षा की प्रभाविकता को सही–सही ज्ञात करने के लिए एक सूत्र P/E माना है जिसके द्वारा 12 महीनों की कुल प्राप्त वर्षा को 12 महीने के कुल वाष्पीकरण से भाग दे दिया जाता है। इसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जाता है:

$$\text{PE Ratio} = \frac{P}{E} = 115\left(\frac{P}{T-10}\right)^{10/9}$$

जहाँ, P = मासिक वर्षा

E = मासिक वाष्पीकरण

T = तापमान फारेनहाइट

वाष्पन की गणना करने के लिए थॉर्नथ्वेट महोदय ने द. प. संयुक्त अमेरिका (U.S.A.) से 21 वाष्पन मापने के यन्त्र मँगाये। ये वाष्पन के यन्त्र केवल संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.D) में ही उपलब्ध थे, अन्यत्र संसार के किसी भी देश में तब ऐसे यन्त्र नहीं थे। वर्षा मापने के यन्त्र प्रायः प्रत्येक जगह सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। इन वाष्पन के यन्त्रों से केवल द. प. संयुक्त राज्य अमेरिका में ही प्रयोग कर यहाँ के वाषपन की सही गणना की गयी। अतः अन्य स्थानों पर ये अपर्याप्त रहे।

थॉर्नथ्वेट द्वारा बनाये गये वाष्पन सूत्र P/E द्वारा इस वर्गीकरण को आर्द्रता की स्थिति के अनुसार 5 वृहद् भागों में अग्रांकित प्रकार से बाँटा गया है। ऐसे प्रत्येक आर्द्र प्रदेश का वनस्पति के विशिष्ट प्रारूप से सम्बन्ध बताया गया है।

सारणी क्र. 3.2: वर्षा की प्रभाविकता के आधार पर विभाजन

टिप्पणी

क्र.	आर्द्रता का विभाजन	वनस्पति	वर्षा, वाष्पीकरण का सूत्र P/E
A	अधिकतर	अधिक वर्षा करने वाले वन	वर्षा (सेमी.)
B	आर्द्र	वन	160 से 318
C	कम आर्द्र	घास के जंगल	80 से 157
D	अर्द्ध शुष्क	स्टेपी जंगल	40 से 78
E	शुष्क	मरूस्थली	40 से कम

2. तापीय दक्षता (Thermal Efficiency)– प्रत्येक जलवायु वर्गीकरण में तापीय दक्षता का विशेष महत्व होता है। तापीय को T/E सूत्र प्रदर्शित किया गया है। इस सूत्र को निम्न दो प्रकार से हल करते है–

(i) तापीय दक्षता अनुपात $(T/E\,\text{Ratio}) = \left(\frac{T-32}{4}\right)$

= T औसत मासिक तापमान

(ii) तापीय दक्षता सूत्र (T/E Formula) = $\sum^{12}\left(\frac{T-32}{4}\right)$

इस सूत्र (T/E) के आधार पर ही थॉर्नथ्वेट महोदय ने धरातल के तापमान को निम्नलिखित 6 तापीय प्रदेशों में विभक्त किया है।

सारणी क्र. 3.3: तापीय दक्षता के आधार पर भेद

भेद	तापीय प्रदेश	T/E सूत्र
A'	उष्णकटिबन्धीय (Tropical)	वर्षा (सेमी.) 320 से अधिक
B'	मध्यतापीय (Mesothermal)	160–318
C'	न्यूनतापीय (Microthermal)	80–157
D'	टैगा (Taiga)	40–78
E'	टुण्ड्रा (Tundra)	3–37
F'	हिमाच्छादित (Frost)	0 से कम

3. वर्षा का मौसमी वितरण (Seasonal Distribution of Rainfall)– ऐसा बहुत कम पाया जाता है कि वर्षा वर्ष भर समान होती रहे। यदि कुछ स्थानों पर समान वर्षा होती भी है, तब भी वहाँ की जलवायु में बहुत अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर के अनेक ऐसे कारण है जो जलवायु के तत्वों पर आधारित हैं। इस प्रकार की वर्षा को कुछ भागों में केन्द्रित करने के लिए वर्षा का मौसमी वितरण करते हैं।

थॉर्नथ्वेट महोदय ने वर्षा के मौसमी वितरण को आगे कुछ उपविभागों में और बाँटा है जिनको उसने अंग्रेजी के छोटे अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया है। इन्हें नीचे दिए s, w, w' एवं d अक्षरों द्वारा समझाया गया है–

1. r = साल भर अधिक वर्षा
2. s = ग्रीष्म ऋतु में कम वर्षा
3. w = शीत ऋतु में कम वर्षा
4. w' = बसन्त ऋतु में कम वर्षा
5. d = साल के प्रत्येक महीने में कम वर्षा

थॉर्नथ्वेट के अनुसार विश्व के जलवायु प्रदेश निम्नलिखित हैं–

1. AA' r – उष्णकटिबन्धीय आर्द्र जलवायु वर्ष के सभी महीनों में पर्याप्त वर्षा।
2. AB' r– मध्य तापीय आर्द्र जलवायु वर्ष के सभी महीनों में वर्षा।
3. AC' r– सूक्ष्मतापीय आर्द्र जलवायु, वर्ष के सभी महीनों में वर्षा।
4. BA' r– उष्णकटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, सभी महीनों में वर्षा।
5. BA' w– उष्णकटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, शीत ऋतु में वर्षा की कमी।
6. BB' r– मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, सभी महीनों में वर्षा।
7. BB' w– मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, शीत ऋतु में वर्षा की कमी।
8. BB' s – मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, ग्रीष्मकाल में वर्षा की कमी।
9. BC' r– सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु, सभी महीनों में वर्षा।
10. BC' s– सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु, ग्रीष्म ऋतु में वर्षा की कमी।
11. CA' r – उष्णकटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी महीनों (मौसम) में वर्षा।
12. CA' w– उष्णकटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, शीतऋतु में वर्षा की कमी ।
13. CA' d– उष्णकटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
14. CB' r– मध्यतापीय उपार्द्र जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा।
15. CB' w– मध्यतापीय उपार्द्र जलवायु, शीतकाल में वर्षा की कमी।
16. CB' s– मध्यतापीय उपार्द्र जलवायु, ग्रीष्मकाल में वर्षा की कमी।
17. CB' d– मध्यतापीय उपार्द्र जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
18. CC' r– सूक्ष्मतापीय उपार्द्र जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा।
19. CC' s– सूक्ष्मतापीय उपार्द्र जलवायु, शीतकाल में वर्षा की कमी।
20. CC' d– सूक्ष्मतापीय उपार्द्र जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
21. DA' w– उष्णकटिबन्धीय अर्द्धशुष्क जलवायु, शीतकाल में वर्षा की कमी।
22. DA' d– उष्णकटिबन्धीय अर्द्धशुष्क जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
23. DB' w– मध्यतापीय अर्द्धशुष्क जलवायु, शीतऋतु में वर्षा की कमी।
24. DB' s– मध्यतापीय अर्द्धशुष्क जलवायु, ग्रीष्मकाल में वर्षा की कमी।

25. DB' d– मध्यतापीय अर्द्धशुष्क जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
26. DC' d– सूक्ष्मतापीय अर्द्धशुष्क जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
27. FA' d – उष्णकटिबन्धीय जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
28. EB' d– मध्य तापीय शुष्क जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
29. ED' d– सूक्ष्मतापीय शुष्क जलवायु, सभी ऋतुओं में वर्षा की कमी।
30. D'– टैगा तुल्य जलवायु।
31. E'– टुण्ड्रा तुल्य जलवायु।
32. F'– ध्रुवीय जलवायु अथवा सतत हिमाच्छादित।

आलोचनाएँ– थॉर्नथ्वेट के जलवायु वर्गीकरण की भी आलोचना की गई–

1. थॉर्नथ्वेट ने अपना दूसरा वर्गीकरण जलवायु सम्बन्धी तत्वों के आधार पर वर्णित किया है जिसमें कि भौतिक तत्वों (धरातल, वनस्पति, मिटटी, आदि) का प्रभाव नहीं बताया गया है।
2. इनका वर्गीकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से तर्कपूर्ण न होने से P.R. Crowe ने इसे गलत सिद्ध कर दिया।
3. वाष्प मापन के लिए इसमें जिस सूत्र का प्रयोग किया गया है, वह प्रत्येक स्थान की वाष्प मापन के लिए सही नहीं बैठता। अतः वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण है।
4. थॉर्नथ्वेट ने अपने वर्गीकरण को बहुत विस्तृत रूप दिया है जिसको याद करने में बहुत कठिनाई होती है।

सारणी क्र. 3.4: थॉर्नथ्वेट तथा कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की तुलना

थॉर्नथ्वेट	कोपेन
(i) यह वर्गीकरण संख्यात्मक है। (Quantitative)	(i) कोपेन महोदय का वर्गीकरण संख्यात्मक (Quantitative) होते हुए भी तथ्यपरक है।
(ii) इस वर्गीकरण में अंग्रेजी के छोटे तथा बड़े अक्षरों का अधिक जटिलता से प्रयोग किया गया है।	(ii) कोपेन महोदय ने अपने वर्गीकरण में प्रमुख रूप से संकेत सहित छोटे तथा कुछ ही बड़े अक्षरों का प्रयोग किया है।
(iii) यह वर्गीकरण सैद्धान्तिक न होकर केवल जलवायु के तत्वों पर ही आधारित है।	(iii) यह वर्गीकरण पूर्ण रूप से सैद्धान्तिक आधार पर विकसित किया गया है।
(iv) थॉर्नथ्वेट महोदय ने अपने वर्गीकरण में जलवायु सीमाओं को P/E तथा T/E सूत्र के आधार पर माना है। अतः जलवायु सीमाएँ बहुत जटिल है।	(iv) इस वर्गीकरण में जलवायु सीमाएँ ताप तथा वर्षा के निश्चित मानों के आधार पर मानी गयी है। अतः इस वर्गीकरण की सीमाएँ बहुत सरल है।

(v) इसमें छोटे अक्षरों के संकेतों की कमी है अर्थात् शीघ्र याद हो जाता है।	(v) इसमें छोटे अक्षरों वाले संकेतों की अधिकता है। अतः याद करने में थोड़ी कठिनाई होती है।
(vi) यह एक मान्य वर्गीकरण है।	(vi) यह वर्गीकरण अधिक मान्य है।

3.5 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. (ब)
2. (स)
3. (ब)
4. (द)
5. (द)

3.6 सारांश (Summary)

वायुमण्डल में फैले हुए उस विशाल वायु समूह को **'वायु राशि'** कहते हैं, जो तापमान तथा आर्द्रता संबंधी विशेषताओं में एक जैसी रहती हैं। एक जैसे गुणों वाली यह वायु राशि हजारों वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैली रहती है। वायु राशि के लिए यह जरूरी है कि वह जल या स्थल के ऊपर लम्बे समय तक स्थिर रहे, क्योंकि तभी तापमान और आर्द्रता की दृष्टि से वह एक निश्चित गुण वाली बन सकेगी। इसी के कारण उसका पृथ्वी के साथ एक स्थायी संतुलन स्थापित हो सकेगा। स्पष्ट है कि जिन क्षेत्रों में वायु का **क्षैतिज अपसरण**; (Horizontial Divergency) होता है, वहाँ वायु राशि के विकास का अवसर अधिक होता है।

वायु राशियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तापमान तथा आर्द्रता आदि के बारे में उनकी स्वयं पहचान होती है। यहाँ तक की अलग–अलग घनत्त्व की वायु राशियाँ भी एक–दूसरे के सम्पर्क में आने पर एक–दूसरे में विलीन नहीं होतीं, बल्कि वे अपनी अलग पहचान बनाये रखती हैं।

ये वायु राशियाँ प्रवाहित होकर चाहे जहाँ भी चली जाएं, लेकिन वे अपना मार्ग स्वरूप पहले जैसा ही बनाये रखती हैं।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि वायु राशियाँ अपने उद्‌गम क्षेत्र पर स्थिर नहीं रह पातीं। वे हमेशा प्रवाहित रहती हैं और अपने सम्पर्क वाले स्थान के तापमान और आर्द्रता को प्रभावित करती हैं। स्वाभाविक है कि इन स्थानों के वायुमण्डल का प्रभाव इन वायु राशियों पर भी पड़ता है। लेकिन यह प्रभाव बहुत ही नगण्य होता है।

3.7 मुख्य शब्दावली (Key Terminology)

टिप्पणी

- **वाताग्रः** शीतल तथा उष्ण वायु राशियाँ विपरीत दिशाओं से आकर मिलती हैं, उनके मध्य वाताग्र की उत्पत्ति होती है।
- **वायुराशियाँः** वायुमण्डलीय हवा की विशाल राशि या पुंज जिसके भौतिक गुण, खासकर तापमान और आर्द्रता, क्षैतिज दिशा में लगभग एक समान होते हैं, वायु राशि कहलाती हैं।

3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास (Self Assessment Questions and Exercises)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. वाताग्र उत्पत्ति सम्बन्धी दशाओं का वर्णन कीजिए।
2. उष्ण एवं शीत वाताग्र में अन्तर कीजिए।
3. वायु राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
4. वायु राशियों को परिभाषित कीजिए।
5. चक्रवात की परिभाषा दीजिए।
6. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात की वायुदाब व्यवस्था तथा पवनों की व्याख्या कीजिए।
7. ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त को समझाइए।
8. शीतोष्ण चक्रवात के जीवन चक्र का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. विभिन्न प्रकार की वायु राशियों का विवरण दिजिए।
2. वायु राशियों की परिभाषा देते हुए उनका वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
3. वाताग्रों की उत्पत्ति तथा प्रकारों का वर्णन कीजिए।
5. वायुराशि किसे कहते है। पृथ्वी की वायु राशियों का एक विवेचनापूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
6. वाताग्रों की विवेचना निम्नालिखित शीर्षकों पर कीजिए–
   (अ) उत्पत्ति
   (ब) प्रकार
   (क) मौसम की अवस्था
7. वाताग्र को परिभाषित किजिए तथा वायु राशियों से इनका भेद कीजिए। चक्रवातों के निर्माण में इनकी भूमिका की विवेचना किजिए।
8. वायु राशियों का वर्गीकरण कीजिए तथा उनसे सम्बन्धित मौसम की विवेचना किजिए।
9. वायु राशियों का वर्गीकरण कीजिए तथा वर्गीकरण के आधारों की विवेचना कीजिए।

10. चक्रवात किसे कहते हैं? उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की विवेचना कीजिए तथा उनसे सम्बन्धित मौसम का विवरण दीजिए।
11. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति तथा सम्बन्धित मौसम का वर्णन कीजिए।
12. टिप्पणियाँ लिखिए–
    (i) उष्णकटिबन्धीय चक्रवात
    (ii) ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त
    (iii) चक्रवात
    (iv) शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
13. शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति, संरचना तथा वितरण का वर्णन कीजिए।
14. चक्रवात किसे कहते हैं? उष्णकटिबन्धीय चक्रवात एवं सम शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
15. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति एवं उनसे सम्बन्धित मौसम की दशाओं का वर्णन कीजिए।
16. चक्रवात क्या है?
17. उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति, वितरण तथा विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
18. एक शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात की संरचना, जीवन चक्र एवं मौसमी दशाओं की विवेचना कीजिए।
19. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात क्या है? इसके लक्षण बताइए तथा इससे सम्बन्धित मौसम का वर्णन कीजिए।
20. चक्रवात की परिभाषा दीजिए। शीतोष्ण चक्रवात की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए तथा इनसे सम्बन्धित मौसम की दशाओं का वर्णन कीजिए।
21. चक्रवात क्या? उनकी प्रमुख विशेषताओं और प्रकारों का विवरण दीजिए।
22. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के उद्‌भव, विकास एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

3.9 सहायक पाठ्‌य सामग्री (Suggested Readings)

1. डॉ. रविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल प्रवर्तलिका पब्लिकेशन इलाहाबाद।
2. डॉ. एच.एन. गुप्ता एवं डॉ. शिवानंद गौतम भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल) एवं प्रसाद एण्ड सन्स पब्लिकेशन भोपाल।
3. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया भौतिक भूगोल साहित्य भवन आगरा।
4. डॉ. मामोरिया एवं सिसोदिया यूनीफाइड भूगोल साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स आगरा (उ. प्र.)।

इकाई 4 जलमण्डल (Hydrosphere)

टिप्पणी

संरचना (Structure)

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 जलमण्डल उच्चतादर्शक वक्र
 4.2.1 उच्चतादर्शक या उच्चतामितीय वक्र
4.3 प्रशान्त महासागर
 4.3.1 प्रशान्त महासागर के तल का धरातल
 4.3.2 अटलाण्टिक महासागर का नितल
4.4 अंध महासागर एवं हिन्द महासागर का उच्चावच
 4.4.1 हिन्द महासागर की नितल
4.5 महासागरीय निक्षेप
 4.5.1 महासागरी तल के निक्षेप
4.6 प्रवाल भित्तियों एवं उनकी उत्पत्ति से संबन्धित सिद्धांत
 4.6.1 प्रवाल भित्तियाँ
 4.6.2 प्रवाल भित्तियों के प्रकार
4.7 अपनी प्रगती जाँचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्यसामग्री

4.0 परिचय (Introduction)

इस इकाई में महासागरीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का उद्देश्य महासागरीय एवं सागरीय जल राशियाँ, पर्यावरण के प्रमुख तत्व आदि विषयों को विद्यार्थियों को अवगत कराना है।

4.2 जलमण्डल उच्चतादर्शक वक्र (Hydrosphere Hypsographic Curve)

पृथ्वी के धरातल का तीन–चौथाई भाग जल से आवृत है। धरातल का यह जलवेष्ठित भाग ही **जलमण्डल** (Hydrosphere) कहलाता है। पृथ्वी पर महाद्वीप एवं महासागरों का वितरण बहुत असमान पाया जाता है। **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका** (Encyclopaedia Britannica) के अनुसार पृथ्वी का कुल क्षेत्रफल 50.99 करोड़ वर्ग किमी. है। इसके 36.10 करोड़ वर्ग किमी. अर्थात् लगभग 70.8 प्रतिशत क्षेत्रफल पर जल का विस्तार है तथा शेष 14.88

टिप्पणी

करोड़ वर्ग किमी. 29.2% क्षेत्र पर स्थल का विस्तार है। इस प्रकार थल एवं जल में 1:2. 43 का अनुपात पाया जाता है। यही नहीं स्थल और जल का वितरण भी बहुत अनियमित है। उत्तरी गोलार्द्ध के 60.7% क्षेत्र पर एवं दक्षिणी गोलार्द्ध के 80.9% क्षेत्र पर जल का विस्तार पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थल एवं जल का वितरण **प्रतिध्रुवीय** (Antipodal) पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता के कारण उसे **'स्थलीय गोलार्द्ध'** (Land hemisphere) कहते है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता के कारण **'जलीय गोलार्द्ध'** (Water hemisphere) कहलाता है। स्थल गोलार्द्ध का केन्द्र फ्रांस में ल्वायर नदी के मुहाने पर और जल गोलार्द्ध का न्यूजीलैण्ड के दक्षिण–पूर्व में हैं। **रसेल** महोदय ने स्थल गोलार्द्ध में 53% जल तथा जलीय गोलार्द्ध में 89% जल बताया है। एक अनुमान के अनुसार भू–पृष्ठ पर जलराशि का भण्डार इतना अधिक है कि यदि उसे भूमि पर समतल फैला दिया जाये तो उसके ऊपर सर्वत्र 3.5 किमी. गहरा समुद्र लहराने लगेगा।

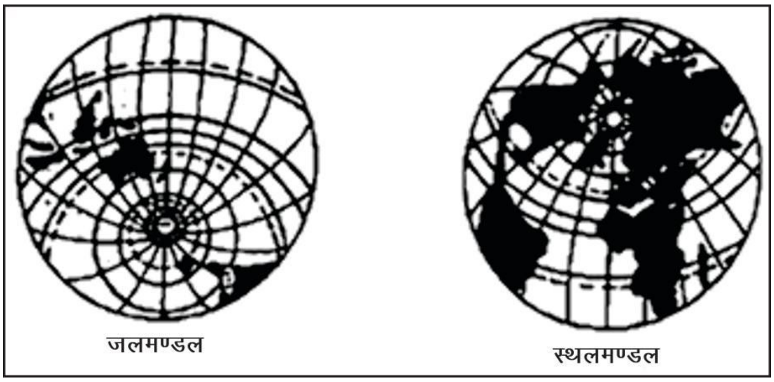

चित्र क्र. 4.1: स्थलीय एवं जलीय गोलार्द्ध

जल के व्यापक विस्तार को देखते हुए जलमण्डल का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, अपितु धरातल पर भौगोलिक परिस्थितियों के नियंत्रण में भी जल का विशेष योगदान है। सागरों का जल वाष्पीकृत होकर वायुमण्डल में पहुँचता है। यह वाष्प घनीभूत होकर वर्षा कराती है। वर्षा से ही मनुष्य के विविध कार्यो हेतु जल की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण वनस्पति जगत एवं जन्तु जगत जल पर ही निर्भर है। इन सब कारणों से जलमण्डल का क्रमबद्ध अध्ययन आवश्यक है। जलमण्डल का अध्ययन समुद्रविज्ञान (Oceanography) के अन्तर्गत किया जाता है। **फ्रीमेन** (Freeman) के अनुसार **"मौसम विज्ञान (Meteorology) की भाँति समुद्र विज्ञान भी भूगोल की एक शाखा है, जो पृथ्वी के अत्यन्त गतिशील भाग जलमण्डल का अध्ययन करता है।'' मॉर्मर (Mormer) के अनुसार ''समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागर तली के आकार एवं जल की रचना, तापक्रम, गतियाँ आदि आते है।''**

विश्व के वैज्ञानिक महासागरों के शोध में सतत्‌रत हैं। महासागरों में अनेक गुप्त रहस्यों के उद्‌घाटनार्थ संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में खोजें हो रही हैं।

टिप्पणी

उत्तरी ब्रिटेन का सेंट मार्लो ज्वार–शक्तिगृह तथा मॉरीशस का तरंग–शक्तिगृह महासागरों में अपार शक्ति कोष की ओर संकेत दे रहे हैं।

समुद्र के स्थल रूप का पूर्ण ज्ञान मनुष्य को नहीं है। समुद्र तल जल से आवृत्त है और अधिक गहराई पर नितान्त अन्धकार है। सूर्य की किरणें भी 180 मीटर की गहराई से अधिक नहीं पहुँचती हैं। सन् 1920 से पूर्व समुद्रों की गहराई नापने के लिये रस्सी का प्रयोग करना पड़ता था, जिससे प्राप्त गहराई विश्वसनीय नहीं होती थी। लार्ड केलविन ने सागरीय गहराई नापने का एक फैदममापी नामक यंत्र का आविष्कार किया। सन् 1920 के पश्चात् एक नया यंत्र निकला। इसमें जल में ध्वनि की चाल और जलयान स्थित यंत्र पर ध्वनि के वापस आने के समय के आधार पर समुद्र की गहराई ज्ञात की जाती है। ध्वनि तरंगों की गति 1,480 मीटर प्रति सेकण्ड होती है। ध्वनि तरंगों को जलफोन (Hydrophone) यंत्र से पकड़ लेते हैं। इस विधि से किये गये समुद्री सर्वेक्षण को ध्वनि का सर्वेक्षण (Sonic Surveying) कहा जाता है। वायु जल से कम सम्पीड्य है। इसलिये जल में वायु की अपेक्षा ध्वनि की गति पाँच गुनी होती है। खारे जल का घनत्व अधिक होने के कारण स्वच्छ जल की अपेक्षा खारे जल में ध्वनि की गति अधिक होती है। गहराई बढ़ने पर जल में दाब की क्रमशः वृद्धि के कारण गहराई पर भी ध्वनि की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार लवणता, तापमान तथा दबाव इस विधि में प्रभावकारी होते हैं और इन पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

4.2.1 उच्चतादर्शक या उच्चतामितीय वक्र (Hypsographic Curve)

सम्पूर्ण भूतल के **धरातल के सामान्य स्वरूप की रूपरेखा को दर्शाने वाला औसत वक्र ही उच्चतादर्शक वक्र कहलाता है।** इसमें औसत समुद्र तल से ऊँचाई एवं गहराई के सामान्य स्वरूप को महत्ता दी जाती है। चूँकि भूतल पर महासागरों का लगभग 71 प्रतिशत भाग है अतः महासागरों के तल की गहराई के स्वरूप को इसमें स्वतः ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है। महासागरों का तल स्थल के उभार से कहीं अधिक जटिल एवं गहरा है। अतः उच्चतादर्शक वक्र में भी इसे ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है। अतः सामान्य महासागरीय तल स्वरूप को जो कि उच्चतादर्शक वक्र (Hypsographic Curve) का आधार भी है, उसके ढाल के स्वरूप, विस्तार एवं गहराई के अनुसार उसे निम्न भागों में उप–विभाजित किया जा सकता है–

1. महाद्वीपीय मग्नतट (Continental Shelves)
2. महाद्वीपीय मग्न ढाल (Continental Slope)
3. गम्भीर सागरीय मैदान (Deep Sea Plains)
4. महासागरीय गर्त या खाइयाँ (Oceanic Deeps)
5. अन्तः महासागरीय कन्दराएँ (Sub-marine Canyons) एवं
6. अन्तः महासागरीय कटक (श्रेणी) एवं पठार (Submarine Ridges–Plateaux)

4.3 प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean)

टिप्पणी

4.3.1 प्रशान्त महासागर के तल का धरातल (Bottom Relief of Pacific Ocean)

यह विश्व का सबसे बड़ा महासागर है। इसका क्षेत्रफल 16,62,40,000 वर्ग किलोमीटर है। तटवर्ती सागरों को मिलाकर यह विश्व का लगभग एक–तिहाई भाग घेरे हुए है। इसकी पूरब–पश्चिम लम्बाई 16,000 किलोमीटर तथा उत्तर में बेरिंग जलडमरूमध्य से दक्षिणी ध्रुव महासागर तक चौड़ाई 14,880 किलोमीटर है। उत्तर की ओर उत्तरी अमेरिका तथा एशिया महाद्वीप इसे घेरे हुए है। इस महासागर के तटों पर चारों ओर वलित पर्वत श्रेणियों पाई जाती हैं। इस महासागर की औसत गहराई 5,000 मीटर है तथा अधिकतम गहराई मेरियाना खाई में चैलेन्जर गर्त 11,776 मीटर है।

मग्नतट (Continental Shelves)– प्रशान्त महासागर में एशिया के पूर्वी तट तथा ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के सहारे मग्नतटों का विस्तार अधिक है। यहाँ मग्नतटों की चौड़ाई 160 से 1,600 किलोमीटर तक है किन्तु पश्चिम के तटीय भागों में यह केवल 80 किलोमीटर रह जाती है।

कटकें (Ridges)– प्रशान्त महासागर में मध्यवर्ती कटक नहीं पाई जाती है। यहाँ बिखरे कटक मिलते हैं। एक छोटी कटकों की श्रृंखला पश्चिमी प्रशान्त कटक के रूप में अलास्का से पश्चिम की ओर कमचटका तक फैली हुई है। इसकी द्वितीय शाखा दक्षिण की ओर द्वीपीय चापों के मध्य से न्यूजीलैण्ड तथा अण्टार्कटिका तक विस्तृत है। उत्तरी प्रशान्त महासागर में जापान कटक हवाइयन उभार है। हवाइयन उभार की लम्बाई 2,640 किलोमीटर तथा चौड़ाई 960 किलोमीटर है।

द्रोणियाँ (Basins)– इस महासागर में कटकों की तरह द्रोणियों की भी कमी पाई जाती है। यहाँ की प्रमुख द्रोणियाँ पूर्वी ऑस्ट्रेलियन द्रोणी, दक्षिणी ऑस्ट्रेलियन द्रोणी, फिजी द्रोणी, फिलीपाइन द्रोणी, पीरू–चिली द्रोणी, आदि हैं। इनके अतिरिक्त, कैरोलिना द्रोणी, सोलोमन द्रोणी, कोरल द्रोणी, न्यूहैब्राइड्स द्रोणी, उत्तरी प्रशान्त द्रोणी, मेरियाना द्रोणी, मध्य–प्रशान्त द्रोणी, दक्षिणी–प्रशान्त द्रोणी तथा ग्वाटेमाला द्रोणी, आदि हैं।

महासागरीय गर्त (Oceanic Deeps)– प्रशान्त महासागर में गर्तों की अधिकता पाई जाती है। यहाँ अभी तक 33 गर्तों का पता लग चुका है। यहाँ अधिकांश गर्त पश्चिमी भाग में पाये जाते हैं। इनमें प्रमुख चैलेन्जर गर्त, एल्ड्रिच गर्त, मिण्डनाओ गर्त, तस्कारारा गर्त, फिलीपाइन गर्त, टोंगा गर्त, करमाडेक, रिक्यू, मरे, नीरो, बेली, आकाटामा, जापान, पीरू–चिली गर्त, आदि हैं।

द्वीप (Islands)– प्रशान्त महासागर में द्वीपों की अधिकता है। यहाँ द्वीपों की संख्या लगभग बीस हजार है। पश्चिम की ओर के द्वीपसमूह महाद्वीपीय द्वीप कहलाते हैं, जबकि पूरब की ओर के द्वीप अपनी विशेषताओं के कारण महासागरीय द्वीप कहलाते हैं। पश्चिम की ओर के द्वीप मुख्य स्थल के ही अंग हैं

टिप्पणी

जो खाइयों द्वारा पृथक हो गये हैं। इनमें से मुख्य द्वीप क्यूराइल, जापान, फिलीपाइन, इण्डोनेशिया, न्यूजीलैण्ड, आदि हैं। पूरब की ओर एल्यूशियन, बैंकुअर, चिलियन, आदि द्वीपसमूह हैं। इस महासागर के दक्षिण–पश्चिम में अत्यन्त लघु एवं बिखरे हुए द्वीप पाये जाते हैं जिन्हें चार समूहों में बाटा गया है– (i) माइक्रोनेशिया, (ii) मैलेनेशिया, (iii) पालिनेशिया, (iv) इण्डोनेशिया, आदि।

सीमान्त सागर (Marginal Seas)– प्रशान्त महासागर में तटवर्ती सागरों की अधिकता केवल पश्चिमी तट पर पाई जाती है। उत्तर में बेरिंग सागर, ओखोटस्क सागर, जापान सागर, पीला सागर, पूर्वी चीन सागर, दक्षिणी चीन सागर, ऑस्ट्रेलिया के उत्तर तथा पूरब में सेलीवीज न्यूजीलैण्ड तक विस्तृत हैं।

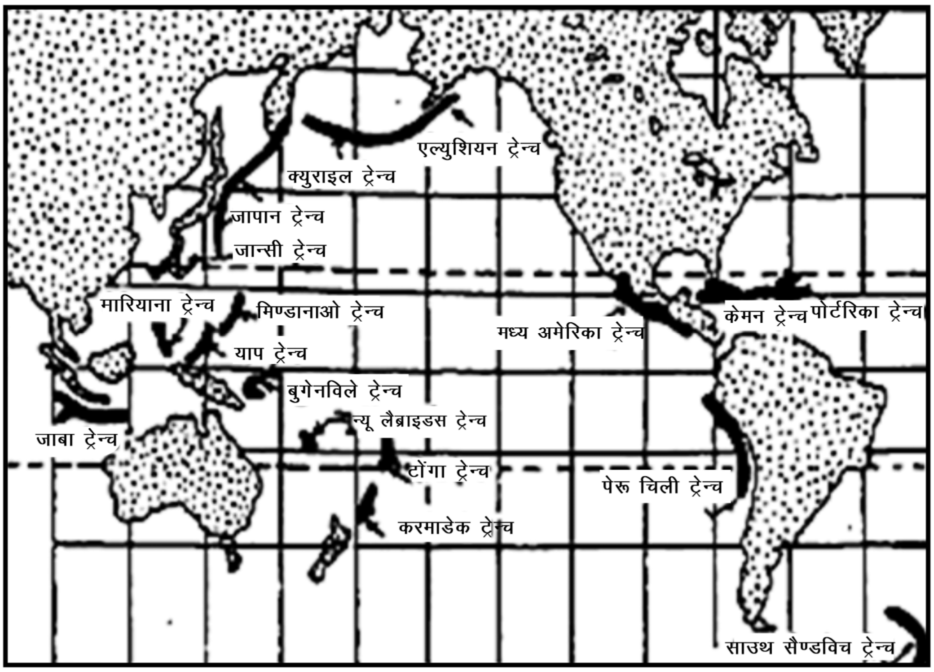

चित्र क्र. 4.2: प्रमुख महासागरीय खाइयाँ या गर्त ट्रेंच

4.3.2 अटलाण्टिक महासागर का नितल (Bottom Floor of Atlantic Ocean)

अण्टलाण्टिक महासागर की आकृति अंग्रेजी के 's' जैसी है। इसका विस्तार उत्तरी ध्रुव महासागर से दक्षिणी महासागर तक है। इसका क्षेत्रफल 8 करोड़ 65 लाख वर्ग किलोमीटर है जो प्रशान्त महासागर का लगभग आधा है। यह महासागर उत्तर तथा दक्षिण में तो चौड़ा है किन्तु विषुवत् रेखा के समीप सँकरा हो गया है। विषुवत् रेखा पर इसकी चौड़ाई 2,560 किलोमीटर है। 40° उत्तरी अक्षांश के सहारे इस महासागर की चौड़ाई 4,800 किलोमीटर, 35° दक्षिणी अक्षांश के समीप यह 5,920 किलोमीटर चौड़ा है। ध्रुवों की ओर इस महासागर की चौड़ाई कम होती जाती है। उत्तर में डेनमार्क जलडमरूमध्य, नार्वोजियन सागर, डेविस की खाड़ी, अटलाण्टिक महासागर को उत्तरी ध्रुव सागर से जोड़ते हैं।

टिप्पणी

महाद्वीपीय मग्नतट (Continental Shelves)

अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों पर महाद्वीपीय मग्नतटों की अधिकता है। यहाँ मग्नतटों के विस्तार में असमानता पाई जाती है। कहीं–कहीं पर यह बहुत चौड़ा है तथा कहीं–कहीं पर सँकरा हो गया है। मग्नतटों का सँकरा होना वहीं देखा जाता है जहाँ तटों के समीप पर्वतों की स्थिति देखने को मिलती है। बिस्के की खाड़ी से उत्तमाशा अन्तरीप के बीच अफ्रीका का मग्नतट, 5° दक्षिणी अक्षांश से 10° दक्षिणी अक्षांश के मध्य ब्राजील का मग्नतट सँकरा हो गया है, जबकि उत्तरी अमरीका के पूर्वी भाग तथा यूरोप के पश्चिम में मग्नतटों की चौड़ाई 240 से 400 किलोमीटर तक पाई जाती है। दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में धुर दक्षिणी में मग्नतट बहुत चौड़े पाये जाते हैं। मग्नतट के विस्तार के लिए न्यूफाउण्डलैण्ड का ग्राण्ड बैंक तथा ब्रिटिश द्वीप का डागर बैंक विशेष उल्लेखनीय हैं। अधिकांश चौड़े मग्नतटों पर बहुत से द्वीप स्थित हैं।

कटके (Ridges)

अटलाण्टिक महासागर में कई उल्लेखनीय कटक हैं। इसके मध्य में एक लम्बी कटक स्थित है। यह उत्तर में आयसलैण्ड से लेकर दक्षिण में बोबेट द्वीप तक लगभग 14,400 किलोमीटर लम्बाई में स्थित है। उत्तर में इसे डॉल्फिन कटक तथा दक्षिण में चैलेन्जर कटक कहते हैं। इस कटक की औसत गहराई 3,000 मीटर है तथा विषुवत् रेखा के उत्तर में रोगांशे क्रूड आ जाने से इसकी गहराई 7,200 मीटर हो जाती है। मध्य कटक उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक चौड़ी है, उत्तर में यह जलमग्न टेलीग्राफ पठार से मिल जाती है। 50° उत्तरी अक्षांश पर इस कटक की चौड़ाई बढ़ जाती है। यहाँ इस कटक की एक शाखा न्यूफाउण्डलैण्ड की ओर मुड़ जाती है। अटलाण्टिक महासागर के मध्य में इसका आकार S' जैसा है। दक्षिणी में चैलेन्जर कटक 60° दक्षिणी अक्षांश तक विस्तृत है। दक्षिण की ओर यह अकस्मात समाप्त हो जाती है। मध्य की मुख्य कटक के पूरब तथा पश्चिम में कई अनुप्रस्थ कटकें हैं। इनमें वेलिविस तथा रियोग्राण्डे कटकें अधिक उल्लेखनीय हैं।

द्रोणियाँ (Basins)

अटलाण्टिक महासागर में अनेक द्रोणियाँ पाई जाती हैं। मध्य अटलाण्टिक कटक अण्टलाण्टिक महासागर को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर देती है। इस महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ निम्नलिखित हैं–

1. **लैब्रोडोर द्रोणी**– इसका विस्तार 40° उत्तरी अक्षांश से 50° उत्तरी अक्षांश तक है। इसकी गहराई 4,000 मीटर है।
2. **उत्तर अमेरिका द्रोणी**– इसका विस्तार 25° से 35° उत्तरी अक्षांशों में 5,000 मीटर की गहराई तक है।
3. **गायना द्रोणी**– यह दक्षिण अमेरिका के गायना तट से पूरे दक्षिण में है। यह 4,000 मीटर से 5,000 मीटर तक गहरी है।
4. **पूर्वी कैरोबियन द्रोणी**– इसका विस्तार 10° से 20° उत्तरी अक्षांशों के मध्य है।

टिप्पणी

5. **ब्राजील द्रोणी**– यह ब्राजील तट से 30° दक्षिणी अक्षांश तक विस्तृत है।
6. **अर्जेण्टाइना द्रोणी**– इसका विस्तार अर्जेण्टाइना के तट से अटलाण्टिक महासागर कटक तक है। इसकी औसत गहराई 5,000 मीटर है।
7. **पश्चिमी यूरोपीय द्रोणी**– इसका विस्तार 40° से 45° उत्तरी अक्षांशों में है। इसकी औसत गहराई 5,000 मीटर है।
8. **आइबेरियन द्रोणी**– इसका विस्तार 30° से 40° उत्तरी अक्षांशों में है।
9. **कनारी द्रोणी**– इसका विस्तार 20° से 30° उत्तरी अक्षांशों में है। इसकी गहराई 1,530 मीटर है।
10 **केपवर्डे द्रोणी**– इसका विस्तार 10° से 23.5° उत्तरी अक्षांशों में है तथा औसत गहराई 5,000 मीटर है।
11. **सियरालियोन द्रोणी**– उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में 5⁰ से 10⁰° उत्तरी अक्षांशों में स्थित है।
12. **अंगोला द्रोणी**– अंगोला के पश्चिमी तट पर 5⁰ से 20⁰ दक्षिणी अक्षांशों में विस्तृत है। इसकी औसत गहराई 5,000 मीटर है।
13. **केप द्रोणी**– यह 25° से 45° दक्षिणी अक्षांशों में अफ्रीका के पश्चिम में स्थित है।
14. **अगुलहास द्रोणी**– उत्तमाशा अन्तरीप के दक्षिण में 40° से 50° दक्षिणी अक्षांशों में स्थित है।

महासागरीय गर्त (Oceanic Deeps)

अटलाण्टिक महासागर में गर्त कम पाये जाते हैं। यहाँ 19 ऐसे गर्त हैं जो लगभग 5,500 मीटर गहरे हैं। यहाँ के प्रमुख गर्त नरेस, पोर्टोरिको, रोमांशे, बाल्डिविया, बुचानन, मोसले, चुन, आदि हैं।

अटलाण्टिक महासागरीय द्वीप (Atlantic Oceanic Island)

उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में ब्रिटिश द्वीप तथा न्यूफाउण्डलैण्ड द्वीप है जो महाद्वीप हैं। इनके अतिरिक्त, पश्चिमी द्वीप समूह, आयसलैण्ड, फेरोस, एजोर्स, केपवर्डे, कनारी, आदि अनेक छोटे द्वीप हैं। दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में फाकलैण्ड, शटलैण्ड, जार्जिया, दक्षिणी एसेन्सन, ओरकेंनीज, ट्रिस्टन–डी–कुन्हा द्वीप दक्षिणी अमरीका के दक्षिण में कटकों एवं जलमग्न पठारों के ऊपर उठे हुए भागों पर हैं। मध्यवर्ती कटक के पूरब में सेण्ट हेलेना तथा पश्चिम में ट्रिनीडाड द्वीप हैं। बरमूडा प्रवाल द्वीप है। इनके अतिरिक्त भी अन्यन्त्र बिखरे द्वीप पाये जाते हैं।

सीमान्त सागर (Marginal Seas)

अटलाण्टिक महासागर के दक्षिणी में सीमान्त सागरों का अभाव–सा है। उत्तरी अटलाण्टिक सागर अनेक सीमान्त महासागर एवं खाड़ियों से घिरा है, यथा–बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर, भूमध्य सागर, कैरेबियन सागर, आदि। इटली तथा यूगोस्लाविया के मध्य एड्रियाटिक सागर है। उत्तरी अटलाण्टिक, के

पश्चिम की ओर बेफिन तथा हडसन की खाड़ियाँ हैं। पूरब की ओर मैक्सिको की खाड़ी तथा बिस्के की खाड़ी हैं। मैक्सिको की खाड़ी अर्द्ध–चन्द्राकार है।

टिप्पणी

4.4 अंध महासागर एवं हिन्द महासागर का उच्चावच (Relif of Atlantic Ocean and Indian Ocean)

4.4.1 हिन्द महासागर की नितल (Bottom Floor of Indian Ocean)

हिन्द महासागर प्रशान्त तथा अटलाण्टिक महासागर से क्षेत्रफल में बहुत छोटा है। इसका क्षेत्रफल 7 करोड़ 34 लाख वर्ग किलोमीटर है। इसकी आकृति त्रिभुजाकार है। यह उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक चौड़ा है। यह तीन ओर से महाद्वीपों से घिरा हुआ है। यह उत्तर में एशिया महाद्वीप, पश्चिम में अफ्रीका, पूरब में ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिण में ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों से घिरा है। इस महासागर की औसत गहराई लगभग 3,873 मीटर है। इस महासागर के तटीय भाग में गोंडवानालैण्ड की पर्वत श्रेणियाँ पाई जाती हैं। इस महासागर के सपाट क्षेत्रफल के 60% भाग पर मैदान, 20% भाग पर कटक तथा शेष भाग पर मग्नतट तथा मग्नढाल पाये जाते हैं।

महाद्वीपीय मग्नतट (Continental Shelves)

हिन्द महासागर में मग्नतटों की चौड़ाई में बहुत भिन्नता पाई जाती है। भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप तथा मैलागासी के चारों ओर मग्नतट बहुत विस्तृत हैं अन्यथा सभी तटों पर सँकरे हैं। मग्नतटों की औसत चौड़ाई 640 किलोमीटर है। पूर्वी द्वीप समूहों के पास मग्नतट बहुत सँकरे हो गये हैं। मग्नतटों की सबसे कम चौड़ाई अण्टार्कटिका महाद्वीप पर है।

कटकें (Ridges)

हिन्द महासागर में केन्द्रीय कटक उत्तर में प्रायद्वीपीय भारत से प्रारम्भ होकर दक्षिण में अण्टार्कटिका के मग्नतट से मिल जाती है। यह कटक अधिक चौड़ी एवं ऊँची है। भिन्न–भिन्न स्थानों पर इसके भिन्न–भिन्न नाम हैं। यह कटक उत्तर में लंकाद्वीप, चैगोस कटक तथा विषुवत् रेखा से 30° दक्षिण तक चैगोस–सेण्टपाल कटक के नाम से जानी जाती है। यहाँ इसकी चौड़ाई 320 किलोमीटर है। इसकी औसत गहराई 3,600 मीटर है। 30° से 50° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य इसे एमस्टरडम–सेण्टपाल कटक कहते हैं। यहाँ इसकी चौड़ाई 1,600 किलोमीटर हो जाती है। 50° दक्षिणी अक्षांश के बाद यह पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में विभक्त हो जाती है। यहाँ इसे पूर्वी भाग में इण्डियाना कटक तथा पश्चिम में करगुलेन–गासबर्ग कटक कहते हैं।

अनेक स्थानों पर मुख्य मध्यवर्ती कटक से शाखाएँ निकलकर महाद्वीपीय तटों की ओर चली गई हैं। पूरब में कारपेण्टर कटक बंगाल की खाड़ी में इरावदी नदी के मुहाने से अण्डमान निकोबार द्वीप समूह तक विस्तृत है। पश्चिम में भारत तथा अफ्रीका के मध्य काल्सबर्ग कटक है जो अरब सागर को दो भागों में बाँटती

टिप्पणी

है। चैगोस मुख्य कटक की एक शाखा 5° दक्षिणी अक्षांश से पश्चिम की ओर अफ्रीका के गयाकुई अन्तरीप तक जाती है। इसे सोकोत्रा–चैगोस कटक कहते हैं। इसकी दूसरी शाखा 18° दक्षिणी अक्षांश के आस–पास से चलीस कटक, मध्यवर्ती कटक से अलग होकर सोकोत्रा–चैगोस कटक के समानान्तर अफ्रीका के पूर्वी तट को चली गई है। तीसरी शाखा मैलागासी द्वीप के दक्षिणी में मैलागासी (मैडागास्कर) कटक के नाम से जानी जाती है। यह दक्षिण में जाकर अनुप्रस्थ रूप में फैलकर प्रिन्स एडवर्ड क्रोजेट कहलाती है। अरब सागर के उत्तरी–पश्चिमी भाग में एक नवीन कटक का पता जॉन मरे अभियान दल ने लगाया। अतः इसे मरे कटक कहा जाता है।

द्रोणियाँ (Basin)

हिन्द महासागर के मध्य की मुख्य कटक के पूरब तथा पश्चिम में कई द्रोणियाँ हैं, प्रमुख द्रोणियाँ निम्न है–

1. **अरेबियन द्रोणी**– सोकोत्रा–चौगोस कटकों के मध्य अर्द्ध–चन्द्राकार रूप में अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय भारत के तटों के मध्य 3,600 से 5,480 मीटर की गहराई में विस्तृत है।
2. **सोमाली द्रोणी**– सोकोत्रा, चैगोस, सेण्टपाल तथा सेचलीस कटकों के मध्य 3,600 मीटर गहराई में स्थित है।
3. **मारीशस द्रोणी**– 10° से 50° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य पूरब में सेण्टपाल कटक तथा पश्चिम में मैडागास्कर (मैलागासी) के मध्य 5,480 मीटर गहरी है।
4. **मैडागास्कर द्रोणी**– मैडागास्कर तथा मुख्य कटक के मध्य 5,480 मीटर गहरी है।
5. **अण्डमान द्रोणी**– अण्डमान कटक के पूरब की ओर बर्मा (म्यांमार) तथा सुमात्रा के बीच 2,700 से 3,600 मीटर गहरी है।
6. **उत्तरी ऑस्ट्रेलियन द्रोणी**– 10° उत्तरी तथा 23.5° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य 3,600–5,480 मीटर की गहराई पर स्थित है।
7. **दक्षिणी ऑस्ट्रेलियन द्रोणी**– ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण की ओर 3,600 मीटर गहरी है।
8. **मध्यभारतीय अण्टार्कटिका द्रोणी**– उत्तर–पश्चिम तथा पश्चिम में मुख्य कटक तथा दक्षिण में अण्टार्कटिका से घिरी हुई 3,600 मीटर गहरी है।

महासागरीय गर्त (Oceanic Deeps)

हिन्द महासागर में गर्तो की कमी है क्योंकि इस महासागर के क्षेत्रफल के 60% भाग पर मैदानों का विस्तार है। यहाँ सुण्डा खाई में सुण्डा गर्त (7,450 मीटर गहरी), पूर्वी भारतीय खाई में हवार्टन गर्त (6,390 मीटर गहरी) हैं।

टिप्पणी

महासागरीय द्वीप (Oceanic Islands)

हिन्द महासागर में छोटे– बड़े सभी तरह के द्वीप हैं। केन्द्रीय मुख्य कटक के पूरब में अण्डमान–निकोबार द्वीप समूह है। इस कटक के पश्चिम में श्रीकोमा, कोरोमा, जंजीवार, मैडागास्कर, आदि द्वीप हैं। मध्यवर्ती कटक पर लंकाद्वीप, करगुलैन, आदि हैं। कटक के दक्षिणी भाग में अनेक प्रवाल द्वीप हैं। हिन्द महासागर के दक्षिणी–पूर्वी भाग में बहुत कम मात्रा में द्वीप पाये जाते हैं।

सीमान्त सागर (Marginal Seas)

हिन्द महासागर में सीमान्त सागर अल्प मात्रा में हैं। उत्तरी हिन्द महासागर को भारत का दक्षिणी प्रायद्वीप दो भागों में विभक्त करता है। पूर्वी भाग बंगाल की खाड़ी तथा पश्चिमी भाग अरब सागर कहलाते हैं। यहाँ लाल सागर एवं फारस की खाड़ी ही वास्तव में सीमान्त सागरों के अन्तर्गत आते हैं।

लाल सागर दरार घाटी से निर्मित द्रोणी है। फारस की खाड़ी ओमान प्रायद्वीप के कारण ओमान की खाड़ी तथा हिन्द महासागर से अलग–सी हो गई है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

1. महाद्वीप का वह भाग जो महासागरीय जल में डूबा रहता है कहलाता है।

   (अ) महाद्वीपीय मग्न ढाल (ब) महाद्वीपीय मग्नतट (चबूतरा)

   (स) गम्भीर सागरीय मैदान (द) महासागरीय गर्त

2. कारपेण्टर कटक स्थित है।

   (अ) प्रशांत महासागर में (ब) अन्ध महासागर में

   (स) मैक्सिको की खाड़ी में (द) हिन्द महासागर में

3. अण्डमान–निकोबार कटक स्थित है।

   (अ) हिन्द महासागर में (ब) प्रशांत महासागर में

   (स) अन्ध महासागर में (द) आर्कटिक महासागर में

4.5 महासागरीय निक्षेप (Ocean Deposits)

4.5.1 महासागरी तल के निक्षेप (Deposits of Ocean Bottom)

महासागरों के तल पर जमा होने वाले समस्त पदार्थ महासगरीय निक्षेप कहलाते है। महासागरीय जल में जो भी पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं वे चाहे कठोर हो या तरल निरन्तर उसमें डूबकर या घुलकर अनुकूल दशाओं एवं पदार्थो के गुण के

टिप्पणी

अनुसार उसमें जमा होते रहते है। मोटे कंकड़ पत्थर व रोडे शीघ्र लुढ़ककर या डूबकर सागर की पैंदी में व तट के निकट ही एवं बालू कुछ अधिक दूरी पर व लहरों के प्रभाव से फैलकर जमा हो जाती है। इसी भाँति चिकनी मिट्टी रसायन पदार्थ गाद एवं अन्य घुले हुए तत्व सैकड़ों किमी की दूरी तक फैल जाते हैं। ऐसे पदार्थो की प्राप्ति स्थल से होती है। इसी कारण इन्हें सील से प्राप्त या स्थल से जन्म लेने वाने स्थलजात कहते है। जबकि गहरे महासागरों के तल पर महासागर के तल पर महासागर के जल के असंख्य लघु जीवों के मरने से उनके कार्बनिक अवशेषों के जमा होने से विशेष प्रकार के जीवमय या जैविक जमाव पाये जाते है। इसी भाँति महासागरीय तली पर जल में विविध मिट्टी आदि विविध रंगो एवं प्रकार की जमा होती रहती है। इसी भाँति कहीं कहीं बड़ी मछलियों एवं जल जीवों का कठोर हुलिया जैसे खोपड़ी दाँत जबड़े ढाँचा आदि कॉसमिक धूल जैसे पदार्थ भी महासागरों की तली में पाये जा सकते है।

महासागरों की तली पर पाये जाने वाले जमावों वहाँ के जीव एवं वनस्पति का ज्ञान एवं महासागरों के विविध लक्षणों से सम्बन्धी खोज की। इसी समय सर जॉन मरे ने 1872 से 1876 के मध्य नौसैनिक पोत चॅलेन्जर की सहायता से महासागरीय जमावों या निक्षेपों के बारे में अपनी प्रसिद्ध अन्वेषन यात्रा पूरी की। 1950 से 1970 के मध्य हिन्द महासागर एवं दक्षिणवर्ती महासागरों की भू–चुम्बकीय तरंगो, रेडियो साउण्ड, तरंगो, इन्फ्रारेड तरंगो, विशेष किरणों, फिल्मों एवं उपग्रहों द्वारा विशेष दूरस्थ संवेदन द्वारा प्राप्त विशेष बैण्ड फोटो से प्राप्त ज्ञान का कम्प्युटर के माध्यम से अति सूक्ष्म विश्लेषण से महासागरीय जल के गुण तली स्वरुप या स्थलाकृति एवं तलीं पर पाये जाने वाले जमावों के बारे मे नवीनतम जानकारी प्राप्त की जा सकी है। महासागरों की तली पर गाद के रुप में खोजे गये धात्विक जमावों के समूह या संग्रथित जमावों की खोज भी ऐसे ही अध्ययन व खोजों से सम्भव हो सकी। महासागरीय तल पर पाये जाने वाले जमाव अधिकांशतः जल से पूरित होने से अधिक लचीले या मुलायम होते हे। चट्टानी टुकड़े भी खारे जल में कई बार अधधुली अवस्था में पाये जाते है जबकि भूमि पर पाये जाने वाले ठोस पदार्थ प्रायः कठोर रुप में पाये जाते है।

महासागरों की विविध गहराइयों में पाये जाने वाले पदार्थों को स्रोत के आधार पर निम्न वर्ग में विभाजित कर सकते हैं–

1. स्थल से प्राप्त या स्थलजात पदार्थ (Terrigenous Deposits)
2. ज्वालमुखी निक्षेप जमाव (Volcanic Deposits)
3. धात्विक जमाव (Metallic Deposits)
4. कठोर जीवावशेष (Neretic Deposits)
5. गम्भीर सागरीय जमाव (Pelagic Deposits) एवं
6. अन्य विविध स्रोत वाले जमाव (Deposits from other Sources)

1. स्थल से प्राप्त या स्थलजात पदार्थ (Terrigenous Deposits)– भूतल पर क्रियाशील सगतलकारी शक्तियाँ एवं कारक निरन्तर ऊँचे भागों की ओर बहाकर जमा करती रहती है। ऐसी ही क्रिया में नदी पवनें हिमानी एवं लहरें

टिप्पणी

मुख्यतः भूमि से महासागरीय या अपतटीय भागों में तट के निकट प्रति वर्ग अरबों टन पदार्थ लाकर जमा करती है। अकेले नदियों द्वारा ही प्रतिवर्ष लगभग 4000 करोड़ टन ठोस पदार्थ सागर तली पर जमा किया जाता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका दस से बारवहाँ हिस्सा 300 से 400 करोड़ टन पदार्थ घुली हुई या रासायनिक घोल की अवस्था में समुद्री जल के प्रवेश कर अन्ततः जमा होते रहते है इस प्रकार स्थलजात पदार्थो को उनके भारीपन या आकृति के अनुसार निम्न प्रकार के उपवर्गो मे बाँट सकते है–

(i) **मिट्टी या गोलाश्म व रेत या बालू–** बालू या रेत से लेकर 6.8 सेमी व्यास वाले गोलाश्म या मिट्टी तट के निकट के सागर मे एवं लहरों के प्रभाव से 2–3 किमी. की दूरी तक तथा कभी–कभी तूफानी लहरों के प्रभाव से 30 से 50 किमी की दूरी तक ऐसे जमाव पाये जा सकते है। तट के निकट मोटे कण के पदार्थ या गोलाश्म जमा होते हैं। शान्त तटीय सागरों में ऐसे जमावों की पट्टीयाँ लम्बवत् एवं अशान्त सागर में ऐसे जमाव निरन्तर गतिशील जल के कारण क्षैतिज पायें जाते है। महीन बालू एवं चीका व अन्य रासायनिक गाद से मिलकर यह सभी दबाव व गर्मी बढ़ने के साथ-साथ चट्टानों के रुप में बदलते जाते है। ऐसे जमाव सागर जल में नदियों, पवन एवं लहरों द्वारा अधिकांशतः एवं बर्फिले प्रदेशों में ज्वारीय हिमानी द्वारा कभी भी होते रहते है।

(ii) **गाद एवं मृत्तिका–** यह मध्यम से महीन कण वाले पदार्थ होते है। इनके कणों की तुलना चिकनी मिट्टी एवं दोमट से की जा सकती हे। इनका व्यास 1/32 मिमि. से लेकर अति महीन कण का 1/8000 मिमि. तक कुछ भी हो सकता है। महाद्वीपीय मग्नतट या चबूतरे पर दूर–दूर तक इनके जमाव पाये जाते है। इनके साथ प्रायः चट्टानी परतों के मध्य ऐसे ही जमावों से परतों के रुप में अवसादी चट्टानें ठोस व कठोर रुप धारण करती रहती है। इनमें सिलिका, फेल्सार, क्वार्ट्ज, अभ्रक जैसे चट्टानों के महीन कण विशेष पाये जाते है।

(iii) **रासायनिक पदार्थ या घुले हुए पदार्थ एवं पंक–** नदियों में चूना लवण, क्षार, लोहा, गन्धक व अन्य तत्वों के यौगिक घुली हुई अवस्था में बहते हुए सतही व भूमिगत जल के साथ महासागरीय जल में जमा होते रहते है। यही नहीं भूतल के अनेक प्रकार के धातु व अधातु खनिजों के घोल भी थोड़ी बहुत या किंचित मात्रा में महासागरीय जल में घुले रहते है। यही रासायनिक घोल या यौगिक कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ महाद्विपीय मग्नतट के साथ-साथ महाद्विपीय ढालों पर भी 200 से 2,000 मीटर की गहराई तक पाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अत्याधिक महीन कण वाले व रासायनिक पदार्थ सागर जल से रासायनिक क्रिया करके विविध रंगों वाली पंक का जमाव सुदूर सागरों एवं अगाध सागरीय मैदानों में करते रहते है। इनमें अधिकतर चूना सिलिकेट एवं लोहा ऑक्साइड के घुले हुए पदार्थ पाये जाते है। ऐसी पंक प्रायः तीन रंगो में नीला, लाल व हरा पंक के रुप में मिलती है–

टिप्पणी

(अ) नीला पंक– यह अधिकतर ठण्डे सागरों में पाये जाते है। इसमें थोड़ी मात्रा में लोहे का सल्फाइड, स्फटिक चूने के अंश, चीका एवं जैविक तत्वों के अपघटित पदार्थ पाये जाते है। इसका विस्तार दक्षिणवर्ती हिन्द महासागर दक्षिणी अन्ध महासागर एवं आर्कटिक महासागर में तट से 200 से 800 किमी तक की दूरी तक पाया जाता है।

(ब) लाल पंक– इसमें लोहे का ऑक्साइड अधिक होने से इसका रंग लाल होता है। इसके अतिरिक्त इसमें चूना भी मिलता है। इसका अधिक विस्तार पीला सागर दक्षिणी पश्चिमी अन्ध महासागर एवं अन्यत्र कहीं–कहीं महासागर में अधिक पाया जाता है।

(क) हरी पंक– नीले रंग की पंक का रासायनिक विघटन होने से यह पंक बनती है। यह पंक सिलिका पोटेशियम, लोह, ऑक्साइड व लौह सिलिकेट, चूना एवं अणुमय जीवांशों के अपघटित पदार्थों का जटिल यौगिक स्वरुप है। इस पंक में संवेदनशीलता बहुत अधिक होती है। अतः तट से दूर शान्त सागरीय प्रदेशों में ही सागर की तली पर ही यह जमा हो पाती है। अतः इसका जमाव उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त व अन्ध महासागरीय शान्त तटों पर उत्तमाशा अन्तरीप एवं जापान सागर तथा पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया तट से कुछ दूरी पर पाया जाता है। तट के निकट अन्य स्थलजात जमावों की अधिकता के कारण भी हरा पंक प्रायः अदृश्य हो जाता है।

2. ज्वालामुखी निक्षेप (Volcanic Deposits)– महासागरीय तली में एवं तटवर्ती द्वीपों पर सक्रिय ज्वालामुखी के उद्गारों से निकली धूल व राख एवं दलदल वायु के बहाव द्वारा महासागरों को प्राप्त होते रहते है। अतः ऐसे जमाव सभी सक्रिय ज्वालामुखी वाले प्रदेशों में पश्चिमी प्रशान्त में दूर–दूर तक भूमध्य सागर एवं पश्चिमी व पूर्वी द्वीप समूहों में बीच–बीच में सागर तल पर पाये जाते हैं। इनका जमाव प्रायः भूरा या लाल रंग का होता हे। कभी–कभी यह नीले पंक के समान भी पाये जा सकते है। अपघटित होने पर यह लाल मृतिका की भाँति भी पाये जा सकते है।

3. धात्विक निक्षेप (Metallic Deposits)– पिछले तीन दशकों में महासागरों की तली एवं अगाध महासागरीय बेसिनों के विशेष जमावों की जो खोज सुपर संवेदनशील तकनिक से की गई उसी आधार पर सभी महासागरों के बेसिनों में कही–कहीं गाद के रुप में संग्रथित धात्विक जमाव पाये जाते हैं। अर्द्धोष्ण एवं उष्ण सागरों के बेसीनो में ऐसे धात्विक जमाव अनेक स्थानों पर खोजे जा चुके है। इनका जमाव घनत्व, साम्यता एवं धात्विक समरुपता व उसमें होने वाली समान रासायनिक क्रिया के आधार पर सागर तल पर होता रहता है। अभी तक ताँबा सीसा, जस्ता, लोहा आदि के ऐसे धात्विक जमावों के विशिष्ट स्थानिक जमाव, केन्द्रों का पता चल सका है। इनका विदोहन श्रम–साध्य विशेष तकनीकी दक्षता वाला खर्चिला एवं चुनौतीपूर्ण कार्य है। भारत भी इनके विदोहन की तकनीक विकसित कर रहा है।

4. कठोर जीवावशेष (Neretic Deposits)— महासागरों की तली में विशालकाय जलचरों हेल, डॉल्फिन, शील, वालरस व अन्य बड़े जीवों के मरने से उनके कठोर हिस्से दूर-दूर बिखरे पड़े मिलते है। यह सामान्यतः रीढ़ की हड्डी, खोपड़ी, दाँत एवं इसी प्रकार के कठिनाई से घुलने वाले पदार्थ होते है। ऐसे हिस्से सागर जल में भी सरलता से नहीं घुल पाने के कारण हजारों वर्षो तक सुरक्षित रह सकते हैं। इनके जमाव सभी महासागरों में इधर–उधर दूर–दूर बिखरे हुए पाये जा सकते है।

5. गम्भीर सागरीय जमाव (Pelagic Deposits)— ये जमाव अधिकांश महासागरीय बेसिनों एवं गहरे सागरों के तल पर दूर–दूर तक पाये जाते है। इनमें समुद्री जीव–जन्तु वनस्पती, ज्वालामुखी राख एवं अन्य तत्व मिले रहते है। गम्भीर सागरीय निक्षेप अधिकाशतः तरल पंक के रुप में पाया जाता है। जिसे ऊज कहा जाता है। इस प्रकार के निक्षेप जीवों के मृत शरीर उनके खालों आदि से बनते है। इन्हें दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है– (1) कार्बनिक निक्षेप एवं (2) अकार्बनिक निक्षेप

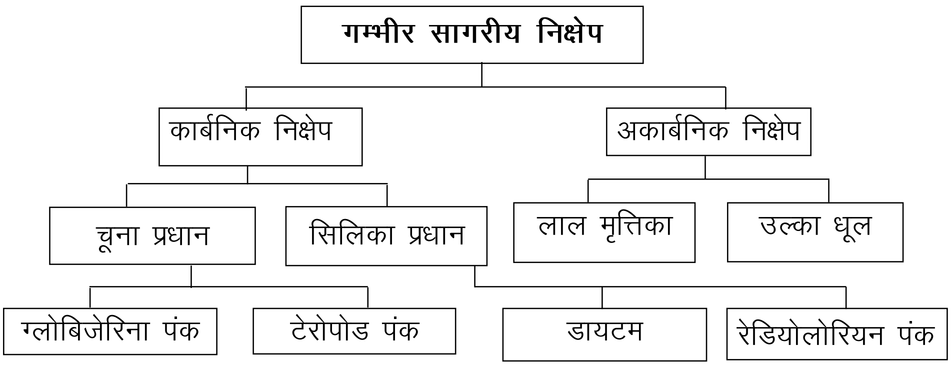

चित्र क्र. 4.3: महासागरीय तल के निक्षेप

1. **कार्बनिक निक्षेप**— कार्बनिक निक्षेप वे है जिनमें महासागरों मे पाये जाने वाले जीवों के अवशेष अधिकता में पाये जाते हैं। यह दो प्रकार के होते है–

   A चूना प्रधान एवं

   B सिलिका प्रधान

   A चूना प्रधान— इसमें चूने की मात्रा अधिक पायी जाती है। चूने की अधिकता के कारण ये अधिक गहराई में नहीं पाये जाते है। ये निम्न है–

   (i) ग्लोबिजेरिना सिन्धु पंक— यह चूना प्रधान जीवों के शारिरिक अस्थि पंजर होते है। ये आकार में बहुत छोटे होते है। यदि इनको महासागरीय जल से निकालकर बाहर सुखा दिया जाये तो इनका रंग भूरा मटमैला हो जाता है। इनमें 64.7% कैल्सियम 1.64% सिलिका तथा 3% खनिज तत्व पायें जाते हे। यह अधिकांशतः महासागरों में 3000 से लेकर 4000 मीटर की गहराई तक पाये जाते है। कभी–कभी यह ऐसे उथले सागरों में भी पाये

टिप्पणी

जाते है जहाँ पर स्थलीय निक्षेपों की कमी होती है। इसका विकास अधिकतर उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम जल में होता है तथा ठण्डे सागरों में इनका विकास बहुत कम होता है परीक्षण करने के उपरान्त पता चला है, कि अटलाण्टिक महासागर में तो ये 5000 फैदम की गहराई तक पाये जाते हैं। इस महासागर में इनका विस्तार 7º उत्तरी अक्षांश से 60º दक्षिणी अक्षांश तक है। प्रशान्त महासागर के पूरब में इनका विस्तार अधिक मात्रा मे मिलता है। हिन्द महासागर मे इनका विस्तार पूर्वी तथा पश्चिमी मग्न तटों पर पाया जाता है। महासागरीय खाइयों में इनका जमाव बिल्कुल नहीं मिलता है।

(ii) टेरोपोड सिन्धु पंक— यह भी चूना प्रधान जीवावशेष है। इसका निर्माण टेरोपोड नामक जीवाश्मों से हुआ है। ये बहुत ही कोमल तथा पतले शरीर वाले होते है। इनकी शारिरीक संरचना में कैल्सियम कार्बोनेट की मात्रा 80% तक होती है। ये भी अधिकतर उष्ण कटिबन्धीय तथा उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरों में पाये जाते हैं लेकीन फिर भी इनका विकास अधिकतर स्थल भाग से काफी दूर उथले सागरों में होता है। इनका विकास मूँगा प्रधान क्षेत्रों मे अधिक होता है। कहीं—कहीं पर तो ये महासागरीय द्वीपों कटकों तथा पठारों पर भी पाये जाते है। इसलिए ये महासागरों में 1,500 से 3000 मीटर तक की गहराई पर मिलते है। सुखाने पर इनका रंग सफेद तथा यह खुरदरा पाउडर जैसा होता है। इनका जमाव पश्चिमी तथा पूर्वी प्रशान्त महासागर कनारी द्वीप के पास भूमध्य सागर तथा अटलान्टिक महासागर की कटक से निकट पाया जाता है

(B) सिलिका प्रधान— इस निक्षेप में सिलिका की मात्रा अधिक पायी जाती है। ये अधिक गहरे व ठण्डे भागों मे पाये जाते है। ये निम्न है—

(i) डायटम सिन्धु पंक— सिलिका की अधिकता के कारण यह सागर जल में अघुलनशील होते है। ये पंक ठण्डे तथा शीतल महासागरों में पाये जाते है। ये मुख्यतः डायटम नामक जीवों तथा रेडियोलोरियन के शारिरिक ढाँचे और कुछ मृत्तिका से मिलकर बनते है। यद्यपि ये सागर के तटीय स्थल भाग पर देखने से लाल रंग के दिखायी देते है लेकिन तटीय स्थल से दूर पीले या स्लेटी मटमैले रंग के भी दिखाई देते है। इनको सुखा दिये जाने पर यह सफेद रंग के दिखायी देते हैं। साधारणतः महासागरों में यह 1,000 से 3000 मीटर की गहराई तक पाये जाते हैं लेकिन कहीं—कहीं यह 7,2000 मीटर तक भी देखे गये है। इनका महासागरीय विस्तार प्रशान्त महासागर में जापान से लेकर अलास्का तक पाया जाता है। अटलान्टिक महासागर से उत्तरी

टिप्पणी

तथा दक्षिणी अमरीका महाद्वीपों के उच्च अक्षांशों की ओर इनका विस्तार पाया जाता है।

(ii) रेडियोलोरियन सिन्धु पंक— ये भी सिलिका प्रधान होता हैं जो अगाध सागरीय गर्म जल में कहीं–कहीं पाये जाते है। ये लाल मृत्तिका के रुप में भी मिलते है। सिलिका के अतिरिक्त इनमें कैल्सियम कार्बोनेट का अंश 4% तक पाया जाता है लेकिन ज्यों–ज्यों महासागरों की गहराई में बढ़ते जाते हैं, कैल्सियम कार्बोनेट की मात्रा बढ़ती जाती है। ये महासागरों में 3,600 मीटर गहराई पर पाये जाते है लेकिन विशेष परिस्थितियों में 8000 मीटर गहराई तक भी पाये जाते है। इनका विस्तार प्रशान्त महासागर में 5^o से 15^o उत्तरी अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। हिन्द महासागर के पूरब में ये बहुतायत में पाये जाते है। लेकिन अटलान्टिक महासागर में बिल्कुल नहीं मिलते है।

2. **अकार्बनिक निक्षेप**— ये प्रमुखतः ज्वालामुखी पदार्थो तथा उल्का धूल के अवशेष द्वारा जमा किये जाते है। इन्हे निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है–

(i) लाल मृत्तिका— इसका जमाव अधिकांशतः अगाध सागरों के नितल पर होता है। लाल मृत्तिका का निर्माण लोहे के ऑक्साइड और एल्यूमिनियम के सिलीकेटों द्वारा होता हैं जिसमें लोहे के ऑक्साइडों की मात्रा अधिक होती है। लाल मृत्तिका का भौतिक स्वरुप बहुत कोमल चिकना तथा लचीला होता है। सूखने पर यह भूरे रंग कर लालिमा लिये हुए पाउडर बन जाती है। इसकी संरचना सागरीय जीवावशेष तथा ज्वालामुखी के विघटित पदार्थो से होती है। यह गहरे महासागरीय तली पर 4,800 मीटर की गहराई तक पाई जाती है। इसका सर्वाधिक विस्तार प्रशान्त महासागर में 40^o उत्तर से 40^o दक्षिणी अक्षांशों के मध्य एवं मध्य व पूर्वी हिन्द महासागर में विशेष रुप से पायी जाती हैं।

(ii) उल्का धूल— यह अन्तरिक्ष से प्राप्त होती है। इस धूल में लोहे के कण अधिक मात्रा में पाये जाते है। जब इसका मिश्रण लाल चीका से हो जाता है तो पहचानना अत्याधिक कठिन हो जाता है। इसका जमाव कम महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका जमाव बहुत मन्द गति से होता है।

6. **अन्य विविध स्रोतो वाले जमाव (Deposits From other Sources)**— इसके अन्तर्गत बाह्यकाश व वायुमण्डल से प्राप्त अन्य अकार्बनिक पदार्थ मुख्यतः आते है। उल्का धूल के कण कॉस्मिक पदार्थ एवं जहरीले व अन्य वायु प्रदूषक कभी–कभी महासागरीय जल में प्रवेश कर सागर की तली पर जमा होते जाते है। यहीं नहीं मानव ने अणु भट्यिों से निकलने वाले घातक परमाणु विकिरण युक्त पदार्थो को भी गम्भीर महासागरों का जल भी असुरक्षित बन सकता है।

टिप्पणी

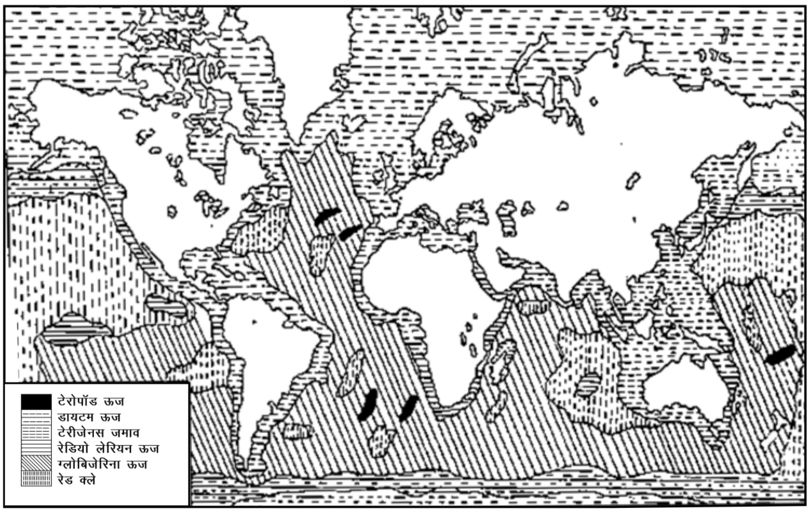

चित्र क्र. 4.4: महासागरीय निक्षेपों का वितरण

4.6 प्रवाल भित्तियों एवं उनकी उत्पत्ति से संबन्धित सिद्धांत (Coral Reefs and Theories of their Origin)

4.6.1 प्रवाल भित्तियाँ (Coral Reefs)

महासागरों में पाई जाने वाली अनेक प्रकार की जैविक रचनाओं में से प्रवाल (मूंगा) व प्रवाल भित्तियाँ विशिष्ट एवं आकर्षक रचनाएँ हैं। प्रवाल मुख्यतः चूना–प्रधान जीव है। प्रवाल विशेष प्रकार के कठोर रचना वाले प्याले या पॉलिप में विकसित माँसल या स्पंज जैसा मुलायम जीव होता हैं। ये संगठित होकर रंग–बिरंगी टहनियों की भाँति अनुकूल दशाओं एवं अनुकूल क्षेत्रों वाले महाद्वीप व द्वीपीय तटों एवं छिछले चबूतरों पर विकसित होते रहते हैं। ये लाल, गुलाबी, सिन्दूरी, पीले, हरे, सफेद, बैंगनी, आदि आकर्षक रंगों की आभाओं में पाये जाते हैं। माँसल प्रवाल अपने चारों ओर विकसित सख्त चूने से बने प्यालेनुमा खोल या पॉलिप (Polyp) के भीतर ही सुरक्षित रहता है। एक प्रवाल के मरने पर दूसरा उसी के शरीर पर एक कड़ी के रूप में विकसित होता जाता है।

प्रवाल की आकृति टहनियों जैसी होती है, अतः इसे कई बार समुद्री लकड़ी भी कहते हैं। ये बहुत ही धीमी गति से विकसित होते हैं। जब यह जीव मरता है तो जमा होकर एक विशिष्ट प्रकार की रचना करता है जो दीवार की भाँति होती है जिसे **प्रवाल भित्ति** कहा जाता है। भित्ति के निर्माण में प्रवाल के अतिरिक्त अन्य जीवों का भी योग रहता है। इनकी रचना में फोरामिनिफेरा, मोलस्क, नुलीपोरस, शैवाल तथा इकिनोडर्म जैसे अन्य कैल्सियमी जीवों का भी योगदान रहता है।

प्रवाल भित्तियों के विकास की अनुकूल या भौगोलिक दशाएँ (Favourable/Geological Conditions for Growth of Coral Reefs)

प्रवाल भित्तियों का विकास निम्न विशेष अनुकूल दशाओं में अर्द्धोष्ण महासागरों में 30° उत्तर से दक्षिणी अक्षांशों के मध्य भली–भाँति होता रहा है। प्रवाल भित्ति के विकास के लिए निम्न दशाएँ आवश्यक हैं–

टिप्पणी

1. **तापमान**— प्रवाल के विकास के लिए वर्षभर पर्याप्त तापमान रहने चाहिए। सामान्यतः इसके लिए औसत तापमान 18° सेण्टीग्रेड से ऊपर एवं 22° सेण्टीग्रेड के आस–पास रहना आवश्यक है। इसी कारण प्रवाल छिछले चबूतरों पर या द्वीपों के किनारों पर, अर्द्धोष्ण प्रदेशों या 30° उत्तर से 30° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य ही सामान्यतः विकसित होते हैं।
2. **सागर जल की गहराई**— सामान्यतः प्रवाल सागर की उसी गहराई तक जीवित रह सकता है जहाँ कि पानी में ऑक्सीजन व उष्णता रहे एवं अप्रत्यक्षतः सौर किरणों का प्रभाव रहे। अतः 20 से 60 मीटर की गहराई में ही यह अधिकांशतः विकसित हो पाते हैं क्योंकि इसके बाद ऑक्सीजन व तापमान निरन्तर घटते जाते हैं, चूने की प्राप्ति भी कम होने लगती है। विशेष अपवाद की दशा में ही यह अधिक गहराई पर मिलते हैं। गार्डिनर Gardiner) के अनुसार यह 250 से 300 मीटर की गहराई तक भी जीवित पाये जा सकते हैं किन्तु ऐसा अपवादस्वरूप ही सम्भव है।
3. **सागर जल का खारापन**— औसत खारापन से अधिक खारे सागरों में एवं बन्द सागरों में प्रवाल विकसित नहीं हो पाते क्योंकि चूना कम एवं लवणता अधिक होने पर प्रवाल शीघ्र नष्ट होने लगते हैं। जहाँ–जहाँ लवणता अधिक या बहुत अधिक बनी रहती है, वहाँ–वहाँ सागर जल में चूने की मात्रा कम होने लगती है, ऐसा निरीक्षण से भी देखा गया है। इसी कारण अधिक खारे महासागरीय उपखण्डों में प्रवाल जीव विकसित नहीं हो पाते।
4. **अवसादो की मात्रा**— जिन सागरों में नदियाँ गिरती है, वे अपने साथ लाई मिट्टी व अनेक रासायनिक अवसाद मुहाने के आस–पास फैला देती हैं। इससे चारों ओर का पानी मटमैला बनता जाता है। यही नहीं ऐसे गँदले पानी से प्रवाल पॉलिप का छिद्र बन्द हो जाता है। इससे भीतर का प्रवाल कीड़ा या मूंगा मर जाता है। इसके साथ–साथ गँदले पानी के कारण सौर किरणों के प्रभाव से प्रवाल वंचित रह जाते हैं. इसी भाँति गँदले पानी के कारण ऑक्सीजन भी कम मिलती है। इसी के प्रभाव से मानसूनी प्रदेशों के तटीय भागों पर प्रवाल विकसित नहीं हो पाते।
5. **विशेष सहयोगी वनस्पति**— प्रवाल के क्षेत्रों में सिम्बिओसिस नामक सहजीवी वनस्पति भी पैदा होती है। यह सागर वनस्पति प्रवाल जीवों के श्वसन से मिली कार्बन–डाइ–ऑक्साइड को अवशोषित कर उसे ऑक्सीजन में बदलती रहती है। ऐसी वनस्पति प्लेंकटन की भाँति एक कोशीय या सरल संरचना वर्ग की होती है। ऐसी सहजीवी वनस्पति के अभाव में प्रवाल का विकास सम्भव नहीं है।
6. **छिछले सागर एवं द्वीप**— प्रवाल विकास के लिए बड़े–बड़े अन्तःसागरीय चबूतरे एवं उनपर ऊपर उठे द्वीप या ज्वालामुखी द्वीप आदर्श क्षेत्र माने जा सकते हैं। ऐसे चबूतरे 50 से 80 मीटर तक की गहराई पर हो सकते हैं। ऐसे चबूतरों पर प्रवाल को जड़ें जमाना या आधार या घरोंदा बनाना आसान होता है। ऐसे चबूतरों पर बने उभार या द्वीप के बाहरी भाग पर एवं चबूतरों से ऊपर की ओर प्रवाल बढ़ते जाते हैं।
7. **स्वच्छ सागरीय जल**— प्रवालियों के विकास के लिए पारदर्शक व औसत से कुछ कम खारा पानी ही विशेष अनुकूल रहता है। नदियों के डेल्टा

टिप्पणी

प्रदेश या मुहानों का कम खारा या मीठा व ताजा पानी इनके विकास में बाधक माना जाता है। इसी कारण यदि ऐसे प्रदेश में कहीं प्रवाल की रचना होती भी है तो नदी की धारा या मुहाने को छोड़कर ही विकसित होंगे।

8. **खुले सागरों की ओर विकास–** किसी द्वीप या तट के निकट या कुछ दूरी पर जब एक बार प्रवाल रचना प्रारम्भ होने लगती है तो वह निरन्तर खुले सागर की ओर ही अपना विकास करती जाती है क्योंकि खुले सागर की ओर ही उसे स्वच्छ सागरीय जल व चूना एवं सौर ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती रहती है। खुले सागरों की ओर ही प्रवाल की सहजीवी वनस्पति सिम्बिओसिस मिलती है। तट पर प्रवाल के मध्य की सँकरी लेगून या चेनल में प्रवाल के मृत टुकड़े, बालू, तट से लाये पदार्थ, आदि एकत्रित होते रहते हैं। अतः ऐसा भीतरी क्षेत्र प्रवाली रचनाओं में सहायक नहीं होता।
9. **पवन की दिशा–** जिन अक्षांशों में अधिकांश प्रवाल भित्तियों का विकास होता है, उन प्रदेशों में व्यापारिक पवनें चलती हैं। अतः जब पवनें पश्चिमवर्ती तटों पर स्थल से जल की ओर चलती हैं तो वहाँ का तटीय सागर शीतल होने लगता है। इसी भाँति ग्लोबीय महासागरीय परिसंचरण (गर्म व ठण्डी धाराओं का प्रवाह) के नियम के अनुसार भी इन अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर शीतल धाराएँ प्रवाहित होती हैं। इन्हीं सब कारणों से महाद्वीपों के पश्चिमी तट की ओर प्रवाल भित्तियों का विकास नहीं हो पाता। यहीं महाद्वीपों के पूर्व तट की ओर अथवा ऐसे क्षेत्रों के खुले सागरों के द्वीपों के चारों ओर प्रवालियों का अनेक प्रकार से विकास होता रहता है। पूर्वी तट पर निरन्तर मन्द समीर चलती रहने से भी प्रवालियों को स्वच्छ व उष्ण जल भी निरन्तर प्राप्त होता रहता है।
10. **धाराएँ एवं लहरें–** जिस तट के सहारे गर्म धाराओं एवं मन्द समीर के प्रभाव से लहरें चलती रहती हैं, उस तट की ओर प्रवाल का विकास निरन्तर होता रहता है क्योंकि यहाँ के तापमान, ऑक्सीजन, सहजीवी वनस्पति, आदि की अनुकूलता से इनका विकास अधिक आसान हो जाता है। इस कारण भी तट से बाहर की ओर प्रवाल रचनाएँ तेजी से कई शाखाओं में विकसित होती जाती हैं। प्रवाल रचना एवं तट के मध्य के लैगून क्षेत्र में ऐसी धारा या लहरों का प्रभाव नहीं पाया जाता, इससे भी वहाँ प्रवाल विकसित नहीं हो पाते।

4.6.2 प्रवाल भित्तियों के प्रकार (Types of Coral Reefs)

मोटे तौर पर प्रवाल भित्तियों को उनकी आकृति एवं क्षेत्र विस्तार के आधार पर निम्न भागों में बाँटा सकता है–

1. तटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Reel)
2. अवरोधक प्रवाल भित्ति (Barrier Reel)
3. वलयाकार प्रवाल भित्ति या अटोल (Atoll Reel) एवं
4. प्रवाल द्वीप (Coral Island)

टिप्पणी

1. तटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Ree1)– तटीय, तटवर्ती या अनुतट प्रवाल भित्ति महाद्वीपों के पूर्वी तट की ओर एवं द्वीपों के किनारों के निकट या सहारे–सहारे विकसित होती है। (चित्र क्र. 4.5) इनकी रचना निमग्न तट या छिछले सागर के चबूतरे से प्रारम्भ होती है। इनका विकास समुद्र के छिछले तल या चबूतरे पर तट के निकट ही होता है। अतः तट एवं मुख्य प्रवाली के मध्य समुद्र तल पर छिछली जल की लैगून या सँकरा गलियारा भी बन सकता है। इसका स्थल की ओर का ढाल धीमा एवं सागर की ओर का ढाल तेज रहता है जैसा कि उपरोक्त चित्रों से स्पष्ट है। ऐसी भित्ति कम चौड़ी व सँकरी होती है। इनका विकास सागर की ओर होता रहता है। नदियों के मुहाने के निकट यह विकसित नहीं होतीं। इनका उत्तम विकास सँकरे प्रायद्वीप अथवा द्वीपों के सहारे अधिक होता है। यह फ्लोरिडा के तट, अण्डमान–निकोबार एवं लक्षद्वीप, समूह, पूर्वी मलेशिया प्रायद्वीप एवं मध्यवर्ती प्रशांत द्वीपों पर अधिक विकसित रूप में पाई जाती है।

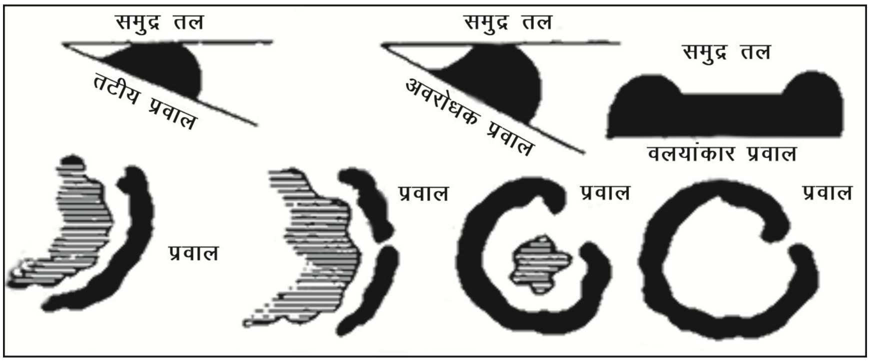

चित्र क्र. 4.5: प्रवाल भित्तियों के प्रकार

2. अवरोधक प्रवाल भित्ति (Barrier Ree1)– ऐसी प्रवाल भित्ति महाद्वीपों एवं द्वीपों के तट से कुछ किमी. दूरी पर तट के समानान्तर विकसित होती है। चूँकि ऐसी प्रवाल भित्ति तट एवं खुले सागर के मध्य सीधे सम्पर्क में एवं यातायात में अवरोध पैदा करती है। इसलिए इसे परातट या अवरोधक प्रवाल भित्ति कहते है। ऐसी प्रवाली में तट एवं प्रवाल भित्ति के मध्य सँकरी किन्तु छिछली नहर, खाड़ी या चैनल बन जाती है। यह आकार में लम्बी, अधिक चौड़ी व कम गहरी होती है। मध्यवर्ती चैनल में भी धीरे–धीरे मूंगे व अन्य जीवों एवं अवसादों का जमाव होते रहने से यह छिछली होती जाती है, अतः इसमें स्टीमर जहाज नहीं आ–जा सकते। अधिक विस्तृत होने से तट की ओर से जहाँ भी नदियाँ गिरती हैं या अन्य कारणों से भी यह प्रवाल भित्ति जगह–जगह टूट जाती है। अतः पर निरन्तर नहीं रह पाती। इसका बाहर की ओर का ढाल 25^o से 45^o के मध्य होता है।

टिप्पणी

चित्र क्र. 4.6: द्वीप समूह में अवरोधी प्रवाल भित्ति

चित्र क्र. 4.5 एवं 4.6 ऐसी प्रवाल के जगह–जगह से टूट जाने से भीतरी लैगून का सम्बन्ध महासागरों से बना रहने से मछुआरे व मल्लाह अपनी नावें व मोटर बोट इनसे ला व ले जा सकते हैं। अतः ज्वार के समय ऐसे मार्गों से होकर तटीय बन्दरगाह तक छोटे जहाज भी आ सकते हैं एवं भाटे के समय लौट सकते हैं। ऐसी प्रवालियों का विकास कई स्थानों पर 100 मीटर या उससे भी अधिक गहराई में भी हुआ है। सम्भवतः ऐसी प्रवालियाँ हिमयुग काल से पहले की हैं, जबकि सागर तल आज से 60 मीटर नीचे था। इसके अतिरिक्त, इनके विकास के बारे में विशेष संकल्पनाएँ या सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये गये हैं।

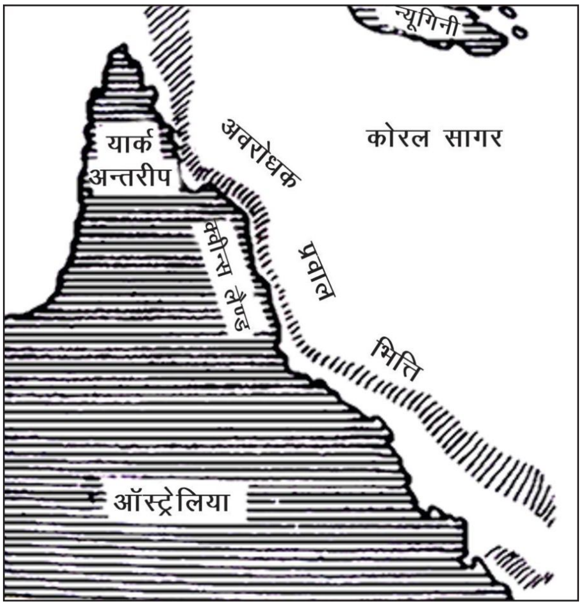

चित्र क्र. 4.7: महान अवरोधक भित्ति, ऑस्ट्रेलिया

पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की महान अवरोधक प्रवाल भित्ति (Great Barrier Reef of Eastern Australia)– यह विश्व की सबसे लम्बी प्रवाल भित्ति है। इसका विस्तार 9° से 24° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य 1,920 किमी. की लम्बाई में है। यह ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के उत्तरी भाग में तट से 32 से 240 किमी. के मध्य

टिप्पणी

की दूरी पर प्रायः समानान्तर फैली है। इसकी चौड़ाई 16 से 140 किमी. के मध्य है। यह महान प्रवाल भित्ति भाटे के समय स्पष्ट दिखाई देती है। एवं पूर्णिमा एवं अमावस्या के दीर्घ भाटे के समय इसका दृश्य बड़ा मनोहारी रहता है क्योंकि तब यह सागर तल के कुछ नीचे चले जाने से थोड़े समय के लिए सागर तल से दीवार की भाँति उभरी हुई दिखाई देती है। यह प्रवाल भित्ति यार्क प्रायद्वीप के मध्यपूर्वी भाग में तट के काफी निकट आकर सबसे सँकरी या कम चौड़ी हो गई है इसी भाँति यह बीच–बीच में टूट भी गई है। इस प्रवाल भित्ति की बाहर की ओर कई शाखाएँ भी पाई जाती हैं।

इसी भाँति प्रशांत द्वीप समूहों में केरोलाइन द्वीप समूह, न्यू केलेडोनिया एवं सोसायटी द्वीप समूह, आदि के कुछ द्वीपों पर अवरोधक प्रवाल भित्ति का अच्छा विकास हुआ है।

3. वलयाकार प्रवाल भित्ति या अटोल (Atoll Reel)– इस प्रकार की प्रवाल भित्ति का विकास द्वीपों के चारों ओर घोड़े के नाल की भाँति होता है। जब किसी द्वीप के अधिकांश भाग में परातट या अवरोधक प्रवाली फैल जाती है तो इसकी आकृति वलयाकार हो जाती है। महाद्वीपीय निमग्न तट या महासागरों के चबूतरों पर जो उभार पाये जाते हैं, उनके चारों ओर अनेक बार घोड़े के नाल की भाँति रचना का विकास होने लगता है। इस वलयाकार प्रवाली के मध्य झील या लैगून होती है। लैगून की गहराई 30 से 60 मीटर तक की हो सकती है। प्रायः महासागरों के भीतर विकसित ज्वालामुखी जब सागर तल से कुछ नीचे रह जाते हैं, तब उनके चारों ओर निरन्तर अवरोधक प्रवाल विकसित होकर सागर तल की ओर बढ़ती जाती है। इसी प्रकार से सागर तल के निकट वलयाकार प्रवाल का विकास होने लगता है। ऐसी प्रवाल भित्तियों के मध्य सामान्यतः द्वीप नहीं पाये जाते। कालान्तर में यदि मध्यवर्ती झील छिछली है तो वह भरती जाती है। इसके भीतर दलदल व बालू के जमाव मिलते हैं। ऐसी वलयाकार प्रवाल भित्ति लाल सागर, एण्टीलिस सागर, चीन सागर, इण्डोनेशिया सागर, आदि में भी अनेक स्थानों पर पाई जाती है।

4. प्रवाल द्वीप (Coral Island)– प्रवाल द्वीप वलयाकार प्रवाल भित्ति का ही विकसित रूप है। यह दो प्रकार से विकसित होता है–

(अ) जब किसी द्वीप के चारों ओर वलयाकार प्रवाल विकसित होती है तो मध्य में द्वीप होने एवं लैगून छिछली रहने से उसे प्रवाल द्वीप कह सकते हैं ।

(ब) जब वलयाकार प्रवाल भित्ति के मध्य छिछली लैगून होती है तो वह धीरे–धीरे बालू प्रवाल भित्ति के टुकड़ों, आदि से भरती जाती है। इससे वहाँ नवीन द्वीप बनता जाता है।

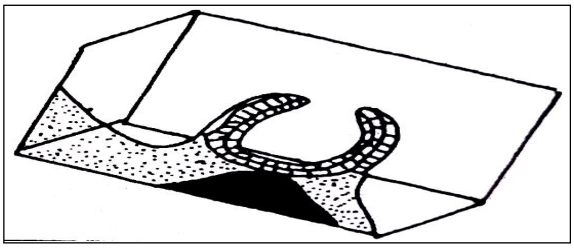

चित्र क्र. 4.8ः वलयाकार प्रवाल भित्ति

टिप्पणी

यहाँ पक्षियों या पवन के माध्यम से वनस्पति के बीज आ सकते है एवं वहाँ धीरे–धीरे हरियाली भी पैदा होने लगती है। ऐसे ही द्वीप प्रायः दलदली होते हैं। इनकी सागर तल से बहुत कम ऊँचाई होती है। अतः लहरें उठने पर सारा द्वीप जल से ढँक जाता है। इस प्रकार के प्रवाल द्वीप निकोबार द्वीप समूह, पूर्वी ऑस्ट्रेलियाई महान अवरोधक प्रवाल भित्ती के पूरब में पाये जाते हैं। यहाँ पर बालू का विस्तार अधिक होता है।

स्थिति के आधार पर प्रवाल भित्तियाँ दो प्रकार की होती हैं–

(i) उष्णकटिबन्धीय प्रवाल भित्तियाँ (Tropical Coral Reefs)– उष्णकटिबन्धीय प्रवाल भित्तियों का अक्षांशीय विस्तार 25° उत्तरी अक्षांश से 25° दक्षिणी अक्षांश तक फैला हुआ है। इन अक्षांशों में प्रवाल भिति के विकास की आवश्यक भौतिक दशाएँ आसानी से मिल जाती हैं। प्रशांत, अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर में महाद्वीपों के निकट तथा अन्य छोटे–छोटे द्वीपों के पास प्रवाल भित्ति अधिक पायी जाती है। यहाँ भी महाद्वीपों के पूर्वी भाग में प्रवाल जीव अपनी भित्तियों को बनाने में अधिक सफल होते हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में प्रायः ठण्डी धाराएँ (Cold Currents) बहती हैं। ठण्डी धाराओं के कारण प्रवाल विकसित नहीं हो पाते। इसके विपरीत, महाद्वीपों के पूर्वी तट के निकट गर्म धाराओं (Warm Currents) के बहने से एवं अनुकूल भौगोलिक दशाओं के कारण यहाँ प्रवाल निरन्तर बढ़ते रहते हैं। प्रवाल जीवों के लिए विशेष ऊँचे तापमान भी हानिकारक होते हैं क्योंकि इससे भी कैल्सियम नहीं बन पाता है। इसलिए भूमध्य रेखा के आस–पास प्रवाल जीव नहीं पाये जाते। प्रशांत महासागर के पश्चिमी तथा मध्य भाग में प्रवाल भित्तियाँ अधिक मिलती हैं। इन भागों में स्थित ज्वालामुखियों पर भी प्रवाल जीव अपनी भित्ति का निर्माण करते रहे हैं। कई बार सागर तल की गतियों से वहाँ का भूतल 30 से 60 मीटर तक ऊँचा उठ जाता है। इससे भी प्रवाल भित्ति का विकास हो सकता है ।

(ii) सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल भित्तियाँ (Marginal Coral Reefs)– सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल भित्तियों का अक्षांशीय विस्तार 25° से 35° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य आता है। यहाँ प्राचीन काल में प्रवाल श्रेणियाँ थीं लेकिन प्लीस्टोसीन हिमयुग में समुद्र में जल की सतह नीची हो जाने से ऐसी प्रवाल भित्तियाँ धीरे–धीरे नष्ट होती गईं। उन प्रवाल भित्तियों का आज महासागरों में बहुत पुराने द्वीप के रूप में अस्तित्व पाया जाता है। इनमें से बहुत–सी प्रवाल भित्तियाँ महासागरों में जल की सतह से कुछ ही नीचे काफी बड़े–बड़े चबूतरे के रूप में भी दिखायी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए, बरमूदा, बहामा तथा हवाई द्वीप, आदि के चबूतरे स्पष्टतः प्राचीन प्रवाल के जमाव से बने हैं। किसी समय जब समुद्र का जल–तल बढ़ जाता है तो प्रवाल जीव इन चबूतरों पर अपनी भित्तियाँ बनाना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार की प्रवाली भित्तियाँ बहुत कम पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए, छोटी एण्टीलीज एवं बरमूदा की प्रवाल भित्तियाँ, आदि।

प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति (Origin of Coral Reef)

प्रवाल भित्ति चूनायुक्त विशेष जीवों जिनमें प्रवाल या मूंगा मुख्य है,की निर्माण क्रिया से विकसित होती है। इसमें अन्य सहजीवी एवं सहायक सूक्ष्म जीवों का एवं

उनके द्वारा किये गये जमावों का भी योगदान बना रहता है। इनका विकास विशेष भौगोलिक दशाओं में महाद्वीपीय निमग्न तट एवं विशेष छिछले सागरों के चबूतरों पर या ज्वालामुखी पर्वतों एवं अन्तःसागरीय श्रेणियों के उभार पर समुद्र तल से निश्चित गहराई पर होने लगता है। सामान्यतः अधिकांश प्रवाल अर्द्धोष्ण प्रदेश में 60 मीटर की गहराई तक ही विकसित होते रहे हैं किन्तु कुछ विशेष दशाओं में ये अधिक गहराई पर एवं उष्ण प्रदेशों में भी कहीं अधिक गहराई पर भी आशा के विपरीत पाये जाते है। अतः इस प्रकार की विशिष्ट दशाओं, अपवादों एवं प्रतिकुल स्थितियों में भी महत्वपूर्ण प्रवाल भित्तियों के विकास पर विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत या विशेष सिद्धान्तों के द्वारा ऐसी सभी उत्पत्ति या विकास को समझाने का प्रयास किया है।

प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of Origin of Coral Reef)

यद्यपि प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति से सम्बन्धित कई सिद्धान्त हैं किन्तु प्रायः सभी सिद्धान्तों में दो तथ्यों कोआ धार मानकर इन्हें समझाया गया है–

(i) प्लीइस्टोसीन हिमयुग में सागर तल का बार–बार परिवर्तन तथा स्थल खण्ड स्थिर रहना एवं

(ii) स्थल खण्ड के तल में भी परिवर्तन–

- (अ) निमज्जन के कारण,
- (ब) उन्मज्जन के कारण एवं
- (क) विशेष स्थिति में स्थिर स्थल खण्ड।

यहाँ पर प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति एवं विकास से सम्बन्धित निम्न सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है–

1. डार्विन का अवतलन या निमज्जन सिद्धान्त।
2. डेली का हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त।
3. मरे का स्थिर स्थल पर आधारित विलयन (घोल) सिद्धान्त।
4. अगासीज का मत या स्पष्टीकरण।
5. गार्डिनर की स्थिर स्थल सिद्धान्त की व्याख्या।
6. डेविस महोदय की विशिष्ट आनुभविक व्याख्या।

1. चार्ल्स डार्विन का निमज्जन सिद्धान्त (Subsistence Theory of Charles Darwin)– चाल्स डार्विन ने उन्नीसवीं सदी में विश्व के अनेक भागों की प्रवाल भित्तियों का विस्तृत अध्ययन कर अपना विख्यात निमज्जन सिद्धान्त (Subsistence Theory) प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को 1837 में एवं बाद में महत्वपूर्ण संशोधन सहित 1842 में प्रस्तुत किया गया।

यह सिद्धान्त आज भी प्रवाल भित्तियों की विशेष निर्माण प्रक्रिया को समझने में महत्वपूर्ण एवं उपयोगी माना जाता है। डार्विन ने अनेक प्रकार से परीक्षण, शोध एवं अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रवाल भित्ति का विकास तो छिछले सागरों में ही होता है। इनका विकास द्वीप या महाद्वीपीय तट के निकट प्रारम्भ

टिप्पणी

होता है, बाद में ज्यों–ज्यों तटीय भाग डूबता जाता है एवं प्रवाल रचना के सागर तल के नीचे के भाग में जाते रहने से वहाँ ऊपरी प्रवाल का बाहर की ओर तेजी से निर्माण होता जाता है। इस प्रकार भूमि के निमज्जन के कारण अथवा सागर तल की निरन्तर वृद्धि होने अर्थात् दोनों में से कोई भी क्रिया होने पर सागर में ज्यों–ज्यों प्रवाल डूबते जायेंगे, जल में डूबे प्रवाल भित्ति को ऊपर की ओर बढ़ने के लिए भोजन (चूना) आसानी से मिलता जायेगा। अतः उसका निरन्तर ऊपर की ओर विकास होता रहेगा। अतः सर्वप्रथम तटवर्ती प्रवाल विकसित होंगे। आगे का विशेष भाग डूबने के साथ–साथ तटवर्ती प्रवाली का स्थान अवरोधक या परातट प्रवाल भित्ति ले लेगी यदि निमज्जन की क्रिया जारी रही या सागर तल बढ़ता रहा तो इसके पश्चात् वलयाकार प्रवाल भित्ति का निर्माण होगा।

प्रथम अवस्था के विकास के पश्चात् अवरोधक प्रवाल भित्ति के निर्माण के समय तट एवं प्रवाल भित्ति के मध्य छिछली लैगून बनने लगेगी। यह लैगून बाद में भी अधिक छिछली बनी रहेगी क्योंकि यद्यपि निमज्जन होने के साथ–साथ लैगून की गहराई बढ़नी चाहिए किन्तु लैगून में टूटे हुए प्रवाल एवं द्वीप या भूखण्ड की ओर से प्रवाहित पदार्थों से लैगून छिछली बनी रहेगी।

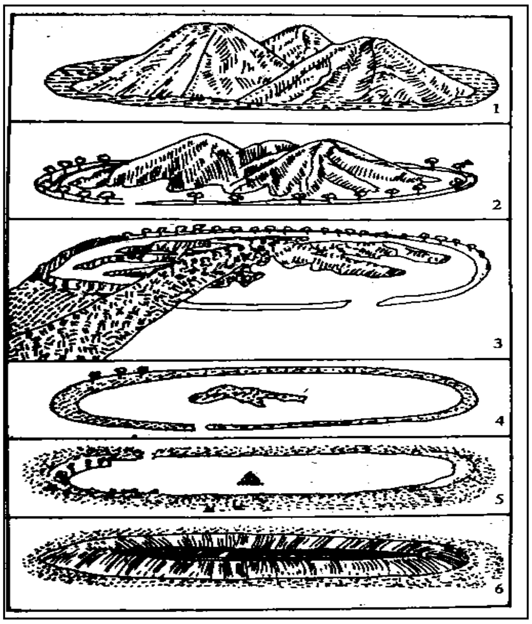

चित्र क्र. 4.9: डार्विन का अवतलन सिद्धान्त

यही नहीं वलयाकार प्रवाल भित्ति बनने के पश्चात् या लम्बे समय के निमज्जन की क्रिया रुक जाती है तो वहाँ निर्मित वलयाकार प्रवाल की मध्यवर्ती छिछली झील दलदली बन सकती है एवं उनमें धीरे–धीरे जीवों एवं अन्य प्रकार के अवशेषों के जमाव से यह लैगून भरने लगेगी और वहाँ प्रवाल द्वीप (Coral Island) भी विकसित हो सकता है।

टिप्पणी

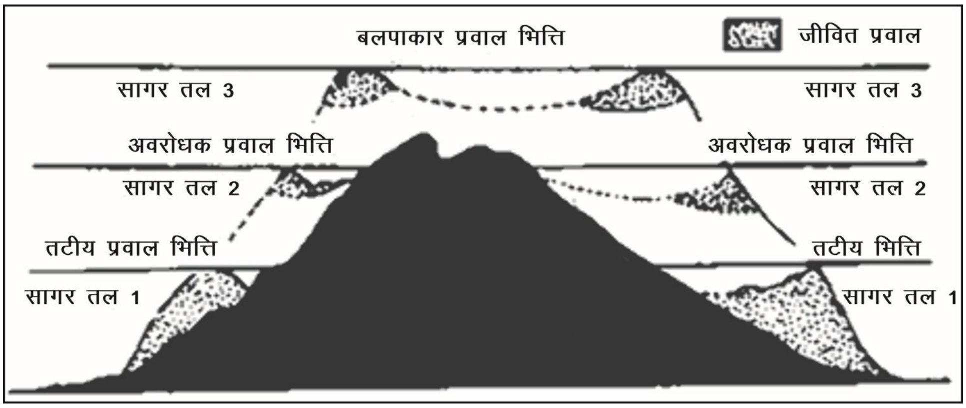

चित्र क्र. 4.10: निमज्जन सिद्धान्त

बाद में महान भूवैज्ञानिक डाना ने भी डार्विन के निमज्जन सिद्धान्त का पक्ष लेते हुए कई पक्षों के प्रमाण प्रस्तुत किये। अतः इसे 'डार्विन एवं डाना का निमज्जन सिद्धान्त भी कहते हैं, क्योंकि डार्विन की भाँति डाना का भी मानना था कि भूतल की विविध गतियों में अवतलन या निमज्जन भी होता रहता है। इसी के प्रभाव से ही मृत प्रवाल भित्तियाँ 60 मीटर से कहीं अधिक गहराई पर या 250 से 300 मीटर को गहराई तक पाई जा सकती हैं।

डार्विन के सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण (Proofs in Favour of Darwin's Theory)

(i) तटीय या अपतटीय प्रवाल भिति से अवरोधक एवं वलयाकार प्रवाल भित्तियों का विकास बिना निमज्जन के सम्भव नहीं है। यह निमज्जन चाहे क्षेत्र–विशेष में हुआ हो या प्रादेशिक स्तर पर होता रहा हो।

(ii) डार्विन (Darwin) के अनुसार अवरोधक एवं वलयाकार प्रवाल भित्तियों को संरचना एक ही कड़ी के विकास की अगली अवस्था है। यही अवस्था प्रवाल के विकास की आदर्श दशा भी मानी जाती है।

(iii) अवरोधी एवं वलयाकार प्रवाल भित्तियों को अधिक मोटाई या गहराई एवं तट से अधिक चौड़ाई तक जमाव सभी निमज्जन प्रक्रिया द्वारा ही संम्भव है।

(iv) हवाई द्वीप एवं इण्डोनेशिया के द्वीपों में काफी गहराई तक जल में डूबी प्राचीन प्रवाल भित्तियों का मिलना भी अवतलन की घटना को ही सिद्ध करता है।

(v) द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् बिकनी द्वीप की पहाड़ियों की हुई खुदाई में 200 से 300 मीटर की गहराई तक प्रवाल के मृत अवशेषों का मिलना भी उसकी आन्तरिक रचना में प्रवाल की उपस्थिति बताता है। ऐसा निमज्जन द्वारा ही सम्भव है।

(vi) इसी भाँति प्रसिद्ध प्रवाल द्वीप फुनाफुटी का डेविस एवं स्टीयर्स ने शोध एवं खोज व खुदाई से प्राप्त प्रमाणों से यह पता लगाया था 300 मीटर से भी अधिक गहराई पर चूने एवं डोलोमाइट के कठोर जमाव एवं प्रवाल के जमाव पाये गये हैं। ये सभी डार्विन के सिद्धान्त को ही सिद्ध करते हैं।

टिप्पणी

विपक्ष में प्रमाण या आलोचना (Proof or Criticism in Opposition)

(i) फीजी द्वीप समूह एवं सोसायटी द्वीप समूह के कुछ द्वीपों के तट पर एक ही द्वीप पर अनुतटीय तटवर्ती) एवं परातटीय या अवरोधी प्रवाल भिति का विकास देखा गया। ऐसा यद्यपि अपवाद ही है किन्तु इससे यह प्रमाणित होता है कि अवतलन के अतिरिक्त अन्य कारणों या अनुकूल स्थिति होने पर भी अवरोधी प्रवाल भित्ति का कभी–कभी विकास सम्भव है।

(ii) डार्विन का यह कथन कि छिछले सागर में जहाँ चूने की मात्रा अधिक पाई जाती है ऐसे चबूतरों एवं द्वीपों के निकट कालान्तर में अधिक तेज गति से विकासशील अवरोधी प्रवाल भित्ति वलयाकार प्रवाल भित्ति की रचना भी कर सकती है। ऐसी घटना को सही मानकर स्वयं डार्विन ने अपनी ही बात को या सिद्धान्त को विवादों के घेरे में ला दिया। **अगासीज** आदि विद्वानों ने तो ऐसे प्रमाण द्वारा भी डार्विन के मत की आलोचना की।

(iii) सोलोमन एवं पूर्वी द्वीप समूह के कुछ द्वीपों में वास्तव में उभार या उन्मज्जन (Emergence) की घटना हुई है, फिर भी वहाँ तटवर्ती एवं अवरोधी प्रवाल भित्तियों का कहीं–कहीं विकास मिलता है। यह डार्विन के मत को खुली चुनौती भी है।

(iv) यह सिद्धान्त लैगून के अवतलन के प्रभाव से गहरे होने के स्थान पर छिछले एवं चौरस प्रायः बने रहने को सकारण स्पष्ट नहीं कर पाया है। डार्विन ने जो कारण दिये हैं वे बड़े पैमाने पर हुए निमज्जन की घटना को ध्यान में रखने पर बेमाने हो जाते हैं।

(v) महासागरीय द्वीपों में क्या सर्वत्र एक साथ या एक ही भूवैज्ञानिक काल में निमज्जन हुआ? यदि ऐसा है तो वह कब एवं क्यों हुआ? क्योंकि वर्तमान में तो द्वीपों पर या महाद्वीपों के विशेष तट पर यह मात्र स्थानीय घटना है एवं इसके एक साथ ग्लोबीय स्तर पर विकसित होने के प्रमाण नहीं मिलते।

(vi) प्रशांत महासागर में रिक्यू एवं अन्य द्वीपों के तट पर समुद्र तल से बाहर भी प्रवाल रचनाएँ पाई गई हैं। इससे प्रशांत महासागर में अनेक स्थानों पर उन्मज्जन या उत्थान का प्रमाण मिलता है फिर भी वहाँ तटीय एवं अवरोधी प्रवाल पाये जाते है।

2. डेली का हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त (Glacial Control Theory of Daly)– हवाई द्वीप में विकसित प्रवाल भित्तियों का 1909–10 में निकट से अध्ययन कर एवं विशेष प्रमाणों से प्रभावित होकर डेली ने 1915 में अपना प्रसिद्ध **हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त** प्रस्तुत किया। डेली के अनुसार प्लीस्टोसीन हिमयुम में महासागरों के तापमान बर्फ के प्रभाव से काफी नीचे पहुँचे। अतः प्रवाल जीव लगभग समाप्त हो गये। अतः वर्तमान की विश्व की प्रवाल रचनाएँ इस हिमयुग के बाद में विकसित हुई हैं। यही स्थिति हवाई द्वीप की भी रही होगी, जहाँ कि निकटवर्ती सागरों के तापमान काफी नीचे रहे एवं भूमि पर ऊँचे भागों में बर्फीली हवाओं का या हिम का प्रभाव रहा। **डेली** के अनुसार उस समय (हिमयुग में) सागर तल 60 से 70 मीटर तक नीचे चला गया।

टिप्पणी

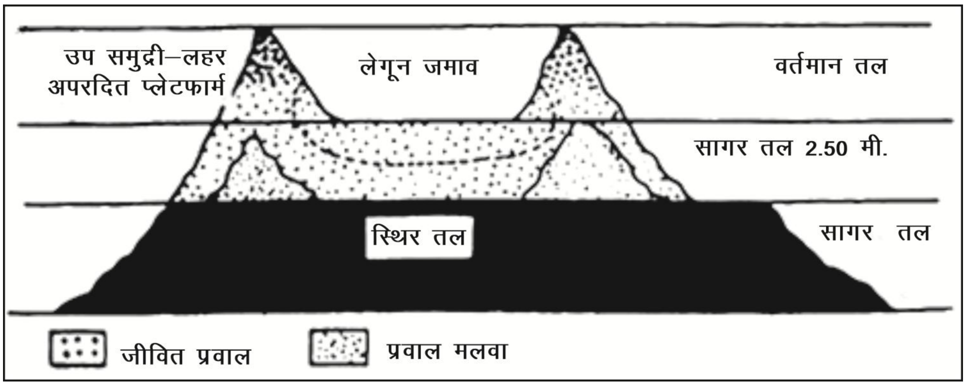

चित्र क्र. 4.11 (A): डेली के अनुसार प्रवाल रचना का विकास

सागर तल के नीचे जाने से पूर्वकालीन 60–70 मीटर तक गहरे महाद्वीपीय चबूतरे आदि के भाग सतह पर दिखाई देने लगे। इसी समय वहाँ प्रवाल जीवों के मरने से प्रवाल रचनाओं का विकास एवं नव–निर्माण रुक–सा गया। सागर तल से ऊपर उठी रचनाएँ, लहरों व पवनों, आदि के कटाव से प्रभावित हुई।

इसी समय तट के निकट अपतटीय चबूतरों एवं सीढ़ियों की भी रचना हुई होगी। हिमयुग के पश्चात् तापमान बढ़ने से दो क्रियाएं हुई–

(i) सागर तल निरन्तर ऊपर उठकर पुनः वर्तमान स्तर तक पहुँच गया एवं

(ii) सागर जल के तापमान सारे ग्लोब के तापमान के साथ–साथ पुनः बढ़े। अतः हिम युग काल में जो भी प्रवाल उष्ण प्रदेशों के अनुकूल भागों में जीवित रह गये, वे उपर्युक्त डूबे हुए अपतटीय चबूतरों पर पुनः प्रवाल रचनाओं का निर्माण करने लगे। तभी से पुनः प्रवाल रचनाएँ अधिकांश अर्द्धोष्ण सागर के अनुकूल प्रदेशों में फैलती गई चित्र क्र. 4.11 (A) व (B)

अन्ततः इस सिद्धान्त के अनुसार इस प्रक्रिया से बनी प्रवाल भित्तियों का आधार पूर्व में महासागरीय लहरों द्वारा निर्मित चबूतरों एवं वेदिकाओं का ही रहा। इसी कारण विश्व के सभी प्रवाल रचनाओं की लैगुन (अनूप) झीलों की गहराई भी 60 से 80 मीटर के आस–पास ही होनी चाहिए (चित्र क्र. 4.11 (A) डेली का यह सिद्धान्त प्रारम्भ में विशेष प्रभावकारी रहा क्योंकि हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त के द्वारा प्रवाल रचनाओं का समझना सरल है, सत्य भी है एवं तथ्यात्मक रूप में माना भी जा सकता है। इसमें हिमानियों के विस्तार काल में निचले तल के अपरदन (Low Level Abrasion) एवं हिम के कटाव व जमाव से बने चबूतरों जैसे महत्वपूर्ण तथ्यों को सही रूप में समझाने का प्रयास किया गया है।

टिप्पणी

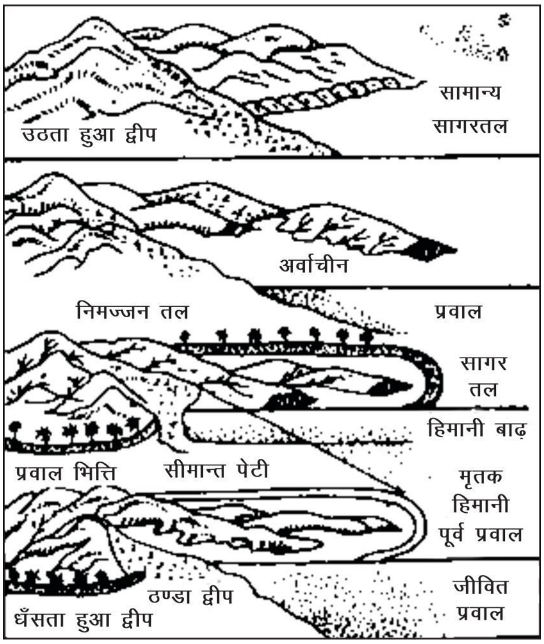

चित्र क्र. 4.12 (B): डेली के अनुसार प्रवाल रचना का विकास

पक्ष में प्रमाण

1. हिम युग के समय होने वाले विश्वव्यापी सागर तल के परिवर्तन पर आधारित यह सिद्धान्त विद्वानों को अधिक उचित प्रतीत हुआ। अतः प्रारम्भ में यह लोकप्रिय भी रहा एवं इसकी प्रशंसा की गई।
2. डेली ने समझाया की गति एवं प्रवाल रचनाओं विकास की गति लगभग समान (3.5 सेमी. प्रति वर्ष) रही। अतः दोनों में समरुपता बनी रही।
3. इस सिद्धान्त में सागर तल के स्थानीय परिवर्तन जैसे काल्पनिक तथ्य को आधार नहीं माना गया है, जैसा कि डार्विन के अवतलन सिद्धान्त में माना गया है।
4. उपर्युक्त तथ्यों से मेल खाते हुए डेली ने प्रवाल रचनाओं के आधार–स्थल एवं लैगून की गहराई को प्रायः समान माना है। कुछ अपवादों को छोड़कर वास्तविक स्थिति भी यही है।
5. डेली ने नीचे हुए नवीन सागर तल की समुद्री तरंगों या लहरों के कटाव की कोई गहराई या सीमा नहीं बताई। तब लहरों ने ऊपर उठे भृगु द्वीपों आदि का अपनी क्षमता के अनुसार कटाव किया होगा।

विपक्ष में प्रमाण (Proofs in Opposition)

1. अनेक चबूतरे लहरों की कटाव क्षमता से कहीं अधिक विशाल हैं। ऐसे चबूतरे मालदीव के निकट, हुण्डाम प्लेटफार्म पर एवं अन्य स्थानों पर पाये जाते हैं। मालदीव का चबूतरा ही 30 हजार वर्ग किमी. से अधिक विशाल एवं सागर तल से 1,000 से 1,200 मीटर ऊँचा है।
2. हिम युग में निम्न सागर तल के समय के 60 से 80 मीटर गहराई पर भृगु कहीं–कहीं ही दिखाई देते हैं, जबकि ऐसे भृगु सभी भागों में नहीं दिखाई देते। ऐसा क्यों है? फिर निमग्न नदी घाटियाँ तो इससे भी अधिक गहराई पर मिलनी चाहिए।

3. डेविस के अनुसार वलयाकार एवं अवरोधी प्रवाल भित्तियों की लैगूनों की गहराई कहीं–कहीं 80 से 180 मीटर तक है, जबकि डेली के अनुसार सभी लैगूनों की गहराई कम एवं समान लगभग 60–70 मीटर ही होनी चाहिए।
4. इसी प्रकार डेली के अनुसार हिम युग में सागर का तापमान नीचा होने से पूर्व काल के अधिकांश प्रवाल समाप्त हो गये। इस बात को अन्य विद्वानों ने नहीं माना क्योंकि उष्णकटिबन्धीय सागरों के तापमान की अत्यधिक गिरावट की बात को मानना बेमाने है। इसी भाँति सारे ग्लोब पर बहुत अधिक तापमान गिरने पर ही प्रवाल समूल मर सकते हैं जोकि सम्भव नहीं लगता।
5. आज यह बात सर्वमान्य है कि प्लीइस्टोसीन हिमयुग काल में भी कम से कम तीन बार सागर तल ऊपर उठा व गिरा होगा। चौथी बार का ऊपर उठा सागर तल ही वर्तमान का है। अतः जब भी सागर तल नीचे गिरा तो प्रत्येक बार प्रवाल नष्ट हो जाने चाहिए एवं उनमें प्रत्येक बार पुनः तेजी से फिर से विकास होना चाहिए। अतः डेविस एवं अन्य विद्वानों ने इसे भ्रमपूर्ण कल्पना माना है।
6. डेली 100 मीटर से कहीं अधिक गहराई पर प्रशांत के कई द्वीपों में मिलने वाली मृत प्रवाल रचनाओं की उपस्थिति के बारे में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं कर सके, जबकि अवतलन के द्वारा ही ऐसी स्थिति को आसानी से समझा जा सकता है।

3. मरे का स्थिर स्थल या विलयन सिद्धान्त (Murray'S Static Landform or Solution Theory)– सर जॉन मरे ब्रिटिश नौसेना के प्रसिद्ध नौसेनाध्यक्ष या एडमिरल हुए। उन्होंने 1872 से 1876 के मध्य **चैलेन्जर** नामक विख्यात युद्धपोत पर रहकर विश्व भ्रमण करते समय प्रवाल रचना पर भी महत्वपूर्ण खोज व शोध प्रस्तुत की। उसी के आधार पर 1880 में मरे ने उपर्युक्त बहुचर्चित सिद्धान्त प्रस्तुत किया। मरे चूँकि भू–विज्ञानवेत्ता या भूगोलवेत्ता नहीं थे अतः वे अपने सिद्धान्त प्रतिपादन एवं उसकी व्याख्या में कई भूलें या गलतियाँ कर बैठे। इससे **मरे के सिद्धान्त की वर्तमान में मात्र सैद्धान्तिक व ऐतिहासिक महत्ता है।**

जॉन मरे के अनुसार न तो सागर तल और न ही स्थल अस्थिर या परिवर्तनशील हैं। किन्तु भूमि की गहराई में जो चबूतरे, मग्नतट या ज्वालामुखी के शीर्ष भाग 60 मीटर गहरे हैं, उन पर ही प्रवाल विकसित होने लगते हैं क्योंकि **मरे** के अनुसार भी प्रवाल 60 मीटर की गहराई में ही विकसित हो सकते हैं। उसने अपने सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से माना कि जो मग्नतट या चबूतरे 60 मीटर से कम गहराई पर हैं, उन्हें सागर जल (लहरों), अपरदन या घोल क्रिया द्वारा घिस देगा एवं जो चबूतरें या ज्वालामुखी शीर्ष 60 मीटर से अधिक गहरे हैं, वहाँ सागर धीरे–धीरे निरन्तर जमाव करता रहेगा। इस प्रकार सागर जल की घुलनशीलता का प्रभावी क्षेत्र विद्वान **मरे** के अनुसार 60 मीटर तक है।

टिप्पणी

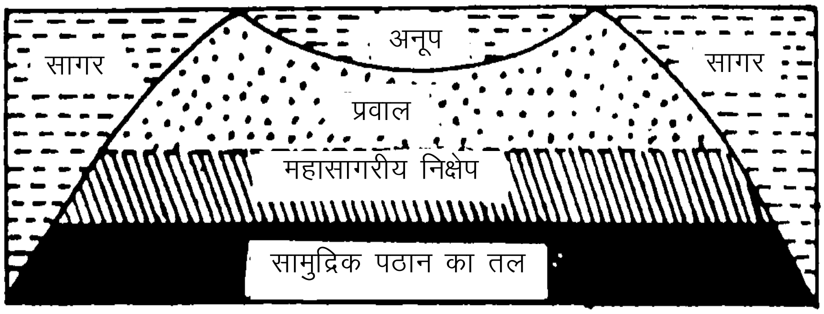

चित्र क्र. 4.13ः मरे के अनुसार प्रवाल की रचना

अब इसी 60 मीटर के तल पर प्रवाल विकसित होना प्रारम्भ करते हैं। द्वीपों व तटों के निकट पहले तटीय प्रवाली विकसित होती है, बाद में भीतर या तट की ओर विकास धीमी गति से होता है एवं वहाँ विलयन या घोल की रासायनिक क्रिया होती रहती है। बाहरी या खुले सागर की ओर प्रवाल भित्ति का विकास निरन्तर होता रहता है। इसी से अवरोधक या परातट प्रवाल भित्ति का विकास होता है। खुले चबूतरों या ज्वालामुखी शीर्ष पर वलयाकार प्रवाल भित्ति (Atoll) विकसित होती जाती है। इसमें भीतर की ओर जो लैगून (अनूप) विकसित होकर बड़ी होती जाती है, वह भी चूने व डोलोमाइट के घोल के जमावों से छिछली होती जाती है। इसी प्रकार अवरोधी प्रवाल भित्ति एवं तट के मध्य जो लैगून होती है, वह भी छिछली होती जाती है। जिन द्वीपों के चारों ओर जब अवरोधी प्रवाली विकसित होने लगती है तो उसे भी वलयाकार प्रवाल भित्ति ही कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार की प्रवाल भित्तियों की वृद्धि बाहर की ओर ही होती है। भीतरी लैगून वाले भाग की ओर रासायनिक क्रिया या विलयन से एवं ऐसे विलयन (घोल) के जमावों का महत्व बना रहता है। जॉन मरे की धारणा प्रारम्भ से ही कम महत्व की मानी गई। अतः अनेक प्रकार से इसके विरोध या विपक्ष में प्रमाण प्रस्तुत किये जाते रहे। मुख्य **आलोचना** के आधार अग्रलिखित हैं–

(i) जैसा कि सर्वमान्य तथ्य है, खुले महासागरों का जल 60 मीटर की गहराई तक अपरदन एवं उसके कारण से विशेष निपेक्ष या जमाव हेतु सक्षम नहीं है। अतः गहराई पर सागरीय जल की ऐसी क्षमता की कल्पना ही निरर्थक मानी जाती है।

(ii) मरे का कहना है कि जल एवं स्थल का वर्तमान तल स्वरूप स्थिर है, यह धारणा भी गलत है क्योंकि प्लीस्टोसीन हिमयुग में सागर तल आज से 60 मीटर से अधिक नीचे रहा होगा। इस भाँति तट पर भी स्थानीय अवतलन एवं उत्थान के प्रमाण पाये जाते हैं।

(iii) यदि जल व स्थल का तल स्थिर है तो लैगून की गहराई जो कि मरे ने 60 मीटर बताई, वह भी निरन्तर चूने, डोलोमाइट आदि के घोल से जमा होने से कम होनी चाहिए। यही नहीं फुनाफुटी व फीजी द्वीपों में बनी लैगून 100 मीटर से भी अधिक गहरी है। इसका मरे के पास कोई स्पष्टीकरण नहीं है।

(iv) मरे ने 60 मीटर की गहराई पर ही चबूतरों व मग्नतटों या ज्वालामुखी शीर्षों के विकास की कल्पना की है वह भी आज अमान्य है।

4. अगासीज का मत– स्पष्टीकरण (Agassi's Opinion – Classification)– अगासीज ने मरे के सिद्धान्त का ही पक्ष लेते हुए उसकी आलोचनाओं को सुधारने के लिए विशेष स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। उसने बताया कि सागरीय चबूतरों का विकास होने लगता है। जिनकी गहराई 80 से 100 मीटर के पास-पास हो। इन्हीं चबूतरों पर प्रवाल जीवों का विकास प्रारम्भ होता है। जब तटीय प्रवाल भित्ति सागर तल से भी ऊपर बढ़ने लगती है तो लहरों से उसका अपरदन होता जाता है। उससे लैगून धीरे–धीरे छिछली होती जाती है। अगासीज ने तो यहाँ तक मत व्यक्त किया कि सभी जलमग्न वेदिकाएँ एवं अन्तः सागरीय चबूतरों का विकास सागर की लहरों से ही सम्भव है। प्रवाल से धीरे–धीरे तट से बाहर की वलयाकार प्रवाल का विकास होता जाता है। भीतर की लैगून भी इसी भाँति बनती व विकसित होती जाती है।

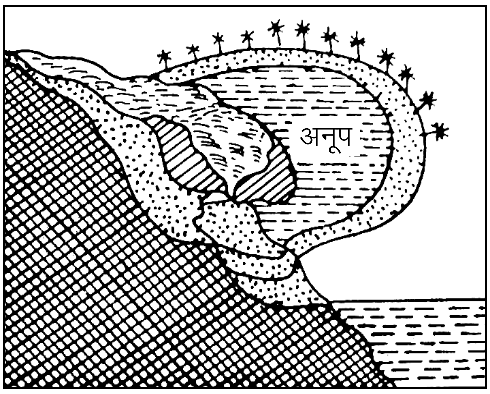

चित्र क्र. 4.14: आगासीज के अनुसार प्रवाल रचना का विकास

अगासीज का उपयुक्त मत न तो मरे के सिद्धान्त को ही संबल दे पाया, न ही एक सुस्पष्ट सिद्धान्त ही माना गया। इस मत में कल्पना एवं कई असम्भव बातों को अधिक महत्व दिया गया। अतः यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है।

5. गार्डिनर द्वारा स्थिर–स्थल सिद्धान्त की व्याख्या (Illustration of Static Landform Theory by Gardiner)– गार्डिनर ने भी मरे के सिद्धान्त का पक्ष लेते हुए इस बारे में अपना मत या व्याख्या प्रस्तुत की। गार्डिनर के मत का आधार उसके द्वारा मालद्वीप एवं लक्षद्वीप द्वीपों की प्रवाल भित्तियों का विशिष्ट अध्ययन एवं वहाँ की प्रवाल रचनाओं के स्वरूप पर की गई शोध रहा। उसने तो यहाँ तक बताया कि भारत एवं मेंडागास्कर के मध्य इन द्वीपों से होकर स्थल सम्बन्ध था। यह भाग हजारों लाखों वर्षों की लहरों की कटाव क्रिया से 250 से 350 मीटर की गहराई तक कट–छट गये एवं वहाँ अब सागर लहरा रहा है। इस प्रकार गार्डिनर ने लहरों द्वारा कटाव की विशेष क्रिया को अधिक व्यावहारिक माना जो कि आज पूर्णतः अमान्य है। लहरों को विशेष प्रभावी मानने के कारण ही गार्डिनर के सिद्धान्त को **लहरों के कटाव का सिद्धान्त** भी कहते हैं।

गार्डिनर ने 300 मीटर की गहराई पर गहन प्रवाल जीवों की कल्पना की एवं 60 मीटर की गहराई पर सतही प्रवालों को क्रियाशील माना। अतः सागर तल से जो चबूतरे 300 मीटर के आस–पास (250 से 350 मीटर) गहरे हैं, वहाँ सघन प्रवाल जीवों की क्रिया एवं लहरों द्वारा अपरदित पदार्थों के जमाव से ये चबूतरे 60

टिप्पणी

मीटर तक ऊपर उठ जाते हैं। यहीं पर साधारण या **सतही प्रवाल** अपनी रचनाएँ प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार उसने बिना विशिष्ट आधार के दोहरे प्रवाल जीवों एवं 60 मीटर से 300–350 मीटर की गहराई तक विशेष गहन प्रवाल जीवों की कल्पना प्रस्तुत की। उसने तो यह भी मत प्रकट किया कि सतही प्रवाल 60 से 150 मीटर के मध्य भी विशेष अनुकूल दशा में क्रियाशील रहते हैं।

गार्डिनर का यह मत प्रारम्भ से ही अमान्य ठहरा दिया गया। मुख्य आलोचना निम्न बिन्दुओं पर आधारित रही–

(i) गार्डिनर की 300 मीटर तक गहराई वाले प्रवाल की कार्यक्षमता को लेकर विशेष आलोचना की गई। प्रशांत द्वीप फुनाफुटी में भी सबसे गहरी खुदाई में 250 मीटर के पश्चात् भी मृत प्रवाल नहीं पाये गये। अतः इसे अमान्य ठहराया गया।

(ii) इसी भाँति लहरों द्वारा 250 से 350 मीटर तक की अपरदन क्षमता को भी नहीं माना गया। उसकी यह धारणा कि लहरों के कटाव से भारत से मेडागास्कर के मध्य का सेतुनुमा स्थल खण्ड नष्ट हो गया, मात्र हास्यास्पद बनकर रह गई। इसे सभी ने असम्भव बताया।

(iii) चूँकि यह सिद्धान्त मरे के सिद्धान्त को ही समर्थन देता था अतः वे सारी आलोचनाएँ जो मरे के सिद्धान्त के लिए हुई, इसकी भी हुई।

6. डेविस की विशिष्ट आनुभविक व्याख्या (Davis Specific Illustration)– विश्वविख्यात स्थलाकृति विज्ञानवेत्ता **विलियम मौरिस डेविस** (W- M- Davis) जिन्हें कि अमेरिका में **स्थलाकृति विज्ञान का पिता** कहा जाता है, ने अनेक क्षेत्रों में व्यावहारिक एवं तथ्यात्मक शोध प्रस्तुत कर नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसी भाँति डेविस ने प्रवाल भित्तियों का विश्व के विविध भागों में स्वयं जाकर अध्ययन भी किया। उसने प्रवाल भित्तियों के विविध एवं विशिष्ट विकास में **डार्विन व डाना के अवतलन सिद्धान्त** को विशेष महत्वपूर्ण माना। उसकी सत्यता की जाँच भी की। उसने अधिक गहरे, दरारी क्षेत्रों एवं द्वीपीय भागों की प्रवाल रचनाओं का भी निकट से अध्ययन कर इस व्याख्या को सही तो माना किन्तु उसके साथ–साथ डेली के हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्त या सागर तल के परिवर्तन के विश्वव्यापी प्रभाव को भी ऐसी व्याख्या में विशेष महत्ता प्रदान की। इस प्रकार डेविस ने उपर्युक्त **दोनों ही सिद्धान्तों** की आधारभूत बातों को ध्यान में रखते हुए इस बारे में जहाँ–जहाँ भी जो बात सत्य एवं तथ्यकारक व व्यावहारिक दिखाई दी, वहीं उसका पक्ष लिया। उसने प्रशांत व अटलाण्टिक महासागर के अनेक द्वीपों एवं हवाई द्वीप की प्रवाल रचनाओं का विशिष्ट अध्ययन कर इनका ब्योरेवार वर्णन **'प्रवाल भित्ति निर्माण की समस्याएँ'** नामक शोध पत्र एवं अन्य लेखों द्वारा जो कि अमेरिका की अनेक पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे, प्रस्तुत किया।

डेविस ने स्थिर स्थल खण्ड अथवा स्थिर सागर तल दोनों ही विचारों को सदैव अमान्य ठहराया। उसने प्लीस्टोसीन हिम युग के विभिन्न अन्तरालों में आये सागर तल के अन्तर का भी प्रवाल भित्ति के विकास के सन्दर्भ में स्पष्ट लेखा–जोखा प्रस्तुत किया। इस प्रकार डेविस ने यद्यपि अपनी ओर से कोई नई

विचारधारा प्रस्तुत नहीं की फिर भी इसके व्यावहारिक एवं स्पष्ट व शोधपूर्ण उदाहरणों सहित प्रस्तुत व्याख्याओं से प्रवाल रचनाओं के सभी पहलुओं की सप्रमाण एवं सही–सही व्याख्या प्रस्तुत की जा सकी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

4. विश्व की प्रसिद्ध बेरियर रीफ (अवरोधी प्रवाल भित्ति) स्थित है।
   (अ) इण्डोनेशिया सागर में (ब) चीन सागर में
   (स) एण्टोलिस सागर में (द) प्रवाल सागर में
5. हिमानी नियन्त्रण परिकल्पना प्रस्तुत कीः
   (अ) विलियम मौरिस डेविस ने (ब) सर जॉन मरे ने
   (स) हेली ने (द) डार्विन ने
6. स्थिर स्थल सिद्धान्त प्रस्तुत किया।
   (अ) अगासौज ने (ब) गार्डिनर ने
   (स) सर जॉन मरे ने (द) डेली ने

4.7 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. (ब)
2. (अ)
3. (अ)
4. (द)
5. (स)
6. (स)

4.8 सारांश (Summary)

जलमण्डल से तात्पर्य पृथ्वी पर उपस्थित समस्त जलराशि से है। पृथ्वी की सतह के 71% भाग पर जल उपस्थित है। उत्तरी गोलार्द्ध में जल–मण्डल तथा स्थल–गोलार्द्ध तथा स्थल–मण्डल लगभग बराबर है, परन्तु दक्षिण गोलार्द्ध में जल–मण्डल, स्थल–मण्डल से 15 गुना अधिक है। जल–मण्डल के अधिकतर भाग पर महासागरों का विस्तार है और बाँकी भाग पर सागर तथा झीलें हैं। महासागर चार है, जिनमें प्रशांत महासागर सबसे बड़ा है। बाकी तीन इस प्रकार है–आन्ध्र या

अटलाण्टिक महासागर, हिन्द महासागर और आर्कटिक महासागर। महासागरों की औसत गहराई 4000 मीटर है।

टिप्पणी

4.9 मुख्य शब्दावली (Key Terminology)

- **प्रवालः** यह एक समुद्री जैविक स्थलाकृति है, इसकी उत्पत्ति समुद्री कैल्शियम युक्त प्रवाली जीवों के मृत होने एवं इसके अवशेषों के एकत्रित होने से होती है। यह एक कटक युक्त संरचना है, जिसका विस्तार सागर नितल से समुद्र तल की ओर एक दीवार की तरह होती है।
- **द्रोणीः** द्रोणी अथवा बेसिन (Basin) शब्द का प्रयोग कई सामान्य तथा विशेष अर्थों में होता है। प्राकृतिक भूगोल में द्रोणी उस क्षेत्र को कहते है, जो किसी विशेष नदीप्रणाली के अंतर्गत आता हो अर्थात एक प्रधान नदी एवं उसकी विभिन्न सहायक नदियाँ जिस क्षेत्र से अपना जल इकट्ठा करती हैं वह द्रोणी है।

4.10 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास (Self Assessment Questions and Exercises)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. अन्ध महासागर की नितल स्थिति का वर्णन कीजिए। (विक्रम, 1992; जीवाजी, 1994)
2. प्रशान्त महासागर की तली (Bottom Relief) का सचित्र वर्णन कीजिए। (जबलपुर एवं बिलासपुर, 1992; जीवाजी, 1993, 97; इन्दौर, 1996)
3. महासागरीय गर्त किसे कहते हैं? संक्षेप में समझाइए।(जबलपुर, 1991)
4. अन्तः महासागरीय कन्दराएँ कैसे बनती हैं? (रीवा, 1990)
5. हिन्द महासागर के नितल उच्चावच का वर्णन कीजिए। (रीवा, 1990; भोपाल, 1993)
6. हिन्द महासागर की तली कि उच्चावच की विवेचना कीजिए। (इन्दौर, 1992; रायपुर, 1990)
7. उच्चतादर्शी वक्र किसे कहते हैं? (जीवाजी, 1990; भोपाल, 1992,94)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. बनावट के आधार पर महासागरीय तल को विभाजित कीजिए एवं प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (जीवाजी, 1993, 97; विक्रम, 1991)
2. अन्ध महासागर के नितल का उच्चावच समझाइए तथा उसका चित्र बनाइए। (रायपुर, 1992; जबलपुर, 1990; इन्दौर, 1991)

3. अन्ध महासागर के अन्तः समुद्री स्थलरूप की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (रीवा, 1991, 92)
4. महाद्वीपीय मग्नतट तथा ढाल की उत्पत्ति के कारण लिखित और उदाहरण दीजिए। (भोपाल, 1992)
5. टिप्पणियाँ लिखिए–
   (i) प्रशान्त एवं अन्ध महासागरों की तल की स्थलाकृति (भोपाल, 1992)
   (ii) प्रशान्त महासागर के तल का उच्चावच (जीवाजी, 1990)
   (iii) उच्चतादर्शक वक्र रेखा एवं महासागर तल की स्थलाकृति
   (iv) जलमग्न तट
   (v) महाद्वीपीय ढाल
   (vi) हिन्द महासागर की तली
6. प्रवाल भित्ति क्या है? वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
7. प्रवालों की रचना किन भौगोलिक दशाओं के अन्तर्गत होती है? प्रवाल भित्तियों के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री (Suggested Readings)

1. डॉ. रविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल प्रवर्तलिका पब्लिकेशन इलाहाबाद।
2. डॉ. एच.एन. गुप्ता एवं डॉ. शिवानंद गौतम भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल) एवं प्रसाद एण्ड सन्स पब्लिकेशन भोपाल।
3. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया भौतिक भूगोल साहित्य भवन आगरा।
4. डॉ. मामोरिया एवं सिसोदिया यूनीफाइड भूगोल साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स आगरा (उ. प्र.)।

टिप्पणी

इकाई 5 समुद्री तापमान (Oceanic Temperature)

संरचना (Structure)

5.0 परिचय

5.1 उद्देश्य

5.2 समुद्री तापमान, लवणता

5.2.1 समुद्री तापमान

5.2.2 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक

5.2.3 तापमान का क्षैतिज वितरण

5.2.4. तापमान का लम्बवत् वितरण

5.2.5 लवणता

5.2.6 सागर जल में खारापन मिलने के साधन या स्रोत

5.2.7 समुद्री जल के खारेपन की भिन्नता के कारण

5.2.8 समुद्री जल में खारीपन का वितरण

5.3 समुद्री जल का संचरणः लहरें धारायें एवं ज्वार भाटा

5.3.1 लहरें एवं धाराएँ

5.3.2 लहरें

5.3.3 धाराएँ

5.3.4 धाराओं के चलने के कारण

5.3.5 अन्ध (अटलाण्टिक) महासागर की धाराएँ

5.3.6 दक्षिणी अन्ध महासागर की धाराएँ

5.3.7 प्रशान्त महासागर की धाराएँ

5.3.8 दक्षिण प्रशान्त महासागर की धाराएँ

5.3.9 हिन्द महासागर की धाराएँ

5.3.10 दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएँ

5.3.11 धाराओं का प्रभाव एवं महत्व

5.3.12 ज्वार भाटा

5.3.13 ज्वार की उत्पत्ति

5.3.14 ज्वार–भाटा का समय

5.3.15 ज्वार–भाटा के प्रकार

5.3.16 ज्वार–भाटे का प्रभाव

5.4 ज्वार–भाटा संबन्धित सिद्धांत

5.4.1 ज्वार–भाटा उत्पत्ति के सिद्धान्त

5.4.2 ज्वारीय भित्ति

5.5 महासागर भावी संसाधन के स्रोत के रुप में

5.6 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर

5.7 सारांश

5.8 मुख्य शब्दावली

5.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय (Introduction)

इस इकाई में महासागरीय तापमान, महासागरीय जल की गति एवं उसकी सधनता का वर्णन किया गया है।

5.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य समुद्री तापमान, लवणता ज्वार भाटा, तथा समुद्री एवं महासागरीय जल के महत्व से विद्यार्थीयों को अवगत कराना है।

5.2 समुद्री तापमान, लवणता (Oceanic Temperature, Salinity)

5.2.1 समुद्री तापमान (Oceanic Temperature)

महासागर मानव के क्रियाकलापों एवं भूतल की भौतिक गतियों को अनेक प्रकार से प्रभावित करते रहे हैं। अतः महासागरों के तापमान, उनका खारापन एवं उनके भौतिक तथा विशिष्ट रासायनिक लक्षणों एवं प्रभावों का अध्ययन भौतिकी के साथ–साथ भूगोल में भी समान रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है। महासागरों के तापमान के अध्ययन से वाष्पीकरण, संघनन एवं वृष्टि के प्रकार, लक्षण एवं प्रादेशिक वितरण का ज्ञान होता है। आर्द्र पवनों के साथ प्रवाहित गुप्त ऊष्मा व नमी, आदि के भूतल पर प्रभाव को समझने का स्पष्ट आधार भी इससे प्राप्त होता है। यही नहीं, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में भूतल के अधिकांश भाग का तापमान वितरणस्वरूप भूतल एवं महासागरीय मग्नतट व चबूतरों पर विकसित सारा ही जैव–जगत (वनस्पति व प्राणी संसार) महासागरों के ताप वितरणस्वरूप से प्रभावित होते रहे हैं। आज महासागर विश्व की बढ़ती जनसंख्या की भोजन की निरन्तर बढ़ती माँग की पूर्ति का आधार बने हुए है। अनेक प्रकार की मछलियाँ, समुद्री जीव, विशेष प्रकार की वनस्पति एवं अन्य जीवों के माध्यम से विश्व के सभी महाद्वीपों व द्वीपों के निवासियों का चाहा गया भोजन प्राप्त कराने में भी सहायक हैं। महासागरों का सम्पूर्ण वनस्पति एवं प्राणी जगत प्रारूप सौर ऊर्जा से प्राप्त तापमान के वितरण–स्वरूप द्वारा ही निर्धारित होता है।

5.2.2 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Temperature of Oceanic Water)

भूतल की भाँति महासागरीय सतह के जल के तापमान का वितरण भी अनेक कारकों से प्रभावित रहता है। इसी कारण इसका क्षेत्रवार वितरण असमान एवं विषम रहता है। इसमें सामान्य या औसत वितरण विषमता एवं ऋतुवार वितरण विषमता दोनों ही प्रकार से विभिन्नता पाई जाती है। महासागरीय सतह के जल के तापमान को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

1. अक्षांश या सूर्यातप की मात्रा (Latitudes or Quantity of Insolation)– सामान्यतः भूतल पर सूर्यातप या सौर ऊर्जा का वितरण अक्षांशवार है एवं सम्पूर्ण सागर तल प्रायः समरूपी है। अतः स्थल खण्डों की भाँति समुद्र तट से दूरी या सागर तल से ऊँचा जैसे कारक महासागरों के तापमान के लिए कोई मायने नहीं रखते। सबसे अधिक सौर ऊर्जा अयनवृत्तों के मध्य के उष्ण कटिबन्ध को प्राप्त होती है, अतः **उष्ण कटिबन्धों** के सागर तल का तापमान सबसे ऊँचा रहता है। यही नहीं, शीतोष्ण कटिबन्ध के ऐसे तापमान भी उष्णकटिबन्धीय ऊँचे तापमान वाले सागर जल से ही प्रभावित रहते हैं। क्योंकि उष्ण कटिबन्ध से गर्म धाराएँ शीतोष्ण कटिबन्ध की ओर बहकर वहाँ के तापमान को अपने विशेष गुणों के अनुसार संरोधित करती रहती हैं। विषुवत् रेखा के निकट सूर्यातप सबसे अधिक प्राप्त होने से औसत तापमान 27^o सेण्टीग्रेड के आस–पास एवं अयनवृत्तों के मध्य के उष्ण कटिबन्ध के औसत तापमान 22^o से 26^o सेण्टीग्रेड के मध्य रहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध के अयनवृत्तों से ध्रुवीय भागों की ओर के औसत तापमान 45^o अक्षांश तक धीमी गति से गिरते हैं। इसी कारण अयनवृत्तों (कर्क व मकर रेखा) से 45^o उत्तर व 45^o दक्षिण अक्षांशों के मध्य के औसत तापमान सामान्यतः 14^o सेण्टीग्रेड से 22^o सेण्टीग्रेड के मध्य रहते हैं। इसके पश्चात् सौर ऊर्जा प्राप्ति में अधिक कमी आने पृथ्वी की गोलाई का प्रभाव एवं वायुमण्डल की मोटाई आदि का सौर ऊर्जा पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण एवं ठण्डी धाराओं के बढ़ते प्रभाव के कारण भी सागर के तापमान में तेजी से कमी आने लगती है। यहाँ ठण्डी धाराओं का प्रभाव क्षेत्र 50^o अक्षांश के पश्चात् तेजी से बढ़ने लगता है। शीत कटिबन्ध या ध्रुवीय वृत्तों ($66\frac{1}{2}^o$) उत्तर व दक्षिण अक्षांश से ध्रुवों की ओर के तापमान हिमांक बिन्दु के आस–पास या उससे भी कम रहते हैं। अतः यहाँ उष्णता का कोई महत्व नहीं रहता।

2. सागर जल की विशिष्टता (Speciality of Sea Water)– पानी अपने अनेक गुणों के कारण सौर ऊर्जा ग्रहण करने व तापमान के वितरण के व्यवहार में स्थल से पूर्णतः भिन्न है, क्योंकि–

(i) जल की ऊपरी सतह चमकीली होती है, अतः सौर ऊर्जा का एक भाग जलतल से परावर्तित हो जाता है।

(ii) जल को प्राप्त होने वाली शेष ऊर्जा भी पानी को लगभग 15 से 20 मीटर गहराई तक गर्म करने हेतु प्रवेश कर जाती है।

(iii) जल गतिशील रहता है, उसमें संवाहनिक धाराएँ एवं क्षैतिज धाराएँ चलती हैं।

(iv) जल की गुप्त ऊष्मा स्थल से कहीं अधिक होती है। इन सबमें से कोई भी गुण स्थल भाग में नहीं मिलता। **अतः महासागरीय जल निरन्तर एक–सी व धीमी गति से गर्म होता रहता है तथा पुनः धीमी गति से ही ठण्डा होता जाता है**। इसी कारण न तो जल के उच्चतम तापमान स्थल की भाँति 45^o सेण्टीग्रेड या अधिक पहुँच पाते हैं, न ही शीतकाल में न्यूनतम तापमान -40^o सेण्टीग्रेड की भाँति नीचे रहते हैं।

टिप्पणी

जल के तापमान (0° सेण्टीग्रेड से ऊपर किन्तु 27°–28° सेण्टीग्रेड से अधिक ऊपर अपवादस्वरूप ही लाल सागर एवं फारस की खाड़ी तटीय मरुस्थलों के कारण स्थानीय रूप से 34°–35° सेण्टीग्रेड तक ही बढ़ सकते हैं।

3. स्थल खण्डों का वितरण (Distribution of Site blocks)– पृथ्वी पर उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल खण्ड अधिक हैं, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल खण्डों की कमी है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों की तुलना में उत्तरी गोलार्द्ध के महासागर गर्मियों में सबसे अधिक गर्म (15° से 30° उत्तर अक्षांशों के मध्य) एवं शीतकाल में महाद्वीपों से चलने वाली बर्फीली हवाओं के प्रभाव से विशेष रूप से ठण्डे हो जाते हैं। इसके विपरीत, यद्यपि अण्टार्कटिका महाद्वीप बर्फ से ढँका है, फिर भी दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों का निरन्तर विस्तार रहने से वहाँ का तापमान ग्रीष्म काल में उत्तरी गोलार्द्ध से कम गर्म एवं शीतकाल में सम या शीतल रहता है। अतः यहाँ मौसमवार महासागरीय जल के तापमान में अन्तर कम पाया जाता है।

4. समुद्री धाराएँ (Oceanic Cunents)– विषुवत्‌रेखीय एवं उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में निरन्तर तापमान ऊँचा रहने से सागर काफी गहराई तक गर्म हो जाते हैं। इससे पानी हल्का व गर्म बनकर शीतोष्ण प्रदेशों की ओर प्रचलित स्थाई वायु की दिशा एवं फैरल के नियम के अनुसार, पूरब से पश्चिम की ओर बहता हुआ महाद्वीपीय तटों से टकराकर ठण्डे जल की ओर बहने लगता है। इसी के प्रभाव से उष्ण–शीतोष्ण प्रदेशों में महाद्वीपों के पूर्वी तट पर गर्म धाराएँ बहती हैं। इन्हीं गर्म धाराओं का आगे चलकर प्रभावशाली पछुआ हवाओं के प्रभाव से यहाँ का उष्ण पानी पूर्वोत्तर दिशा की ओर बहता हुआ शीत–शीतोष्ण प्रदेशों में महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर बहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल खण्ड अधिक होने से वहाँ यह प्रभाव अधिक स्पष्टता से दिखाई देता है। ऐसे प्रभाव से ही पश्चिमी यूरोप, पूर्वी संयुक्त राज्य एवं चीन का पूर्वी तट व जापान तट कठोर शीतकाल में भी शीतल बना रहता है। इसी भाँति, उत्तरी अमेरिका का अलास्का का तट तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी–पूर्वी ऑस्ट्रेलिया का तटीय भाग एवं उत्तरी न्यूजीलैण्ड उष्ण धाराओं के प्रभाव से शीतकाल में उष्ण बने रहते हैं। इसी भाँति ठण्डी धाराओं के प्रभाव से उष्ण मरुस्थलों के पश्चिमी तटवर्ती भागों का सागर जल शीतल रहता है। जब गर्म व ठण्डी धाराएँ तटीय भाग के स्पष्ट मिलती हैं तो ऐसे सागर तल पर सतह के निकट ही स्थानीय संघनन के प्रभाव से घना कोहरा छा जाता है। इनमे ऐसे सागरों में दृश्यता घट जाती है। तापमान में भी अचानक परिवर्तन आ जाता है। अतः जब गर्म धाराएँ ठण्डे सागरों की ओर बहती हैं एवं ठण्डी धाराएँ उष्ण सागरों की ओर बहती हैं, तो इसका स्पष्ट प्रभाव स्थानीय एवं प्रादेशिक रूप से देखा जा सकता है।

5. प्रचलित पवनें (Prevailing Winds)– पवनों का प्रभाव सागर तल पर स्पष्ट दिखाई देता है। पवनें न केवल उष्णकटिबन्धीय वायुमण्डल के ताप को शीतोष्ण वायुमण्डलीय प्रदेशों की ओर प्रवाहित करती हैं, अपितु जिस सागर तल से होकर बहती हैं, उसे भी उष्ण या शीतल बनाती हैं। पछुआ पवनें अयनवृत्तों का

टिप्पणी

ताप शीतोष्ण सागरों की ओर भी वितरित करती हैं। ऐसे प्रभाव से न केवल सागर तल ही प्रभावित होता है, बल्कि विक्षोभमण्डल की संघनन क्रिया में पछुआ हवा के प्रदेशों में (शीतोष्ण प्रदेश में) हिम वर्षा के स्थान पर जल वृष्टि का महत्व बढ़ जाता है। इससे भी सागर जल के तापमान ऊँचे बने रहते हैं। पवनों के प्रभाव से ही या सनातनी पवनों की दिशा के अनुसार ही गर्म या ठण्डे जल की धाराएँ दिशा–विशेष में बहती हुई महाद्वीपों के विशेष तटों को प्रभावित करती हैं।

6. हिमशिलाओं का प्रभाव (Effects of Icebags)– अण्टार्कटिका महाद्वीप एवं ग्रीनलैण्ड बर्फ से ढँके प्रदेश हैं। यहाँ से हिमखण्ड सागर तल पर दूर तक बहते रहते हैं। ऐसे हिम शैलों (आइसबर्ग) के प्रभाव से उनके आस–पास के सागर जल का तापमान काफी नीचे गिर जाता है। न्यूनफाउण्डलैण्ड के निकट, हडसन की खाड़ी में पूर्वी साइबेरिया के तटीय भागों एवं सुदूर दक्षिणी ध्रुवीय सागरों के बर्फीले तापमान का एक मुख्य कारण हिमखण्डों का ध्रुवों से 50° से 60° अक्षांशों तक बहकर आना एवं वहाँ पिघलना रहा है। अन्य कारणों में सागरों की अक्षांशीय स्थिति, स्थानीय रूप से तूफानी मौसम, सागर की गहराई में ऊँची श्रेणी का विस्तार, महासागरों की तटीय खाड़ियाँ एवं अधखुले सागरों की विशेष स्थिति, आदि मुख्य हैं।

5.2.3 तापमान का क्षैतिज वितरण (Horizontal Distribution of Temperature)

सामान्य तौर पर महासागरों के तल का तापमान अक्षांशों के अनुसार वितरित है फिर भी, इस पर विशेष रूप से उपर्युक्त कारकों का प्रभाव भी क्षेत्रीय या प्रादेशिक रूप से स्पष्टतः दिखाई देता है विषुवत् रेखा से 30° अक्षांश तक प्रायः 2° से 3° डिग्री अक्षांश पर सेण्टीग्रेड तापमान गिरता है। इसी कारण जहाँ विषुवत् रेखा के आस–पास तापमान 27° सेण्टीग्रेड रहता है, वहीं 20° अक्षांश के आस–पास तापमान 21° सेण्टीग्रेड एवं 45° अक्षांश पर 15° सेण्टीग्रेड तक रहता है। यहाँ तक पछुआ पवनों एवं उष्ण धाराओं के प्रभाव से तापमान धीमी गति से गिरता है। इसी भाँति, उपर्युक्त कारणों के प्रभाव से ही 35° से 55° अक्षांशों के मध्य पश्चिमी तट की अपेक्षा पूर्वी–तटीय सागरों के तापमान 5° से 8° सेण्टीग्रेड तक ऊँचा रहता है। उत्तरी–गोलार्द्ध में शीतकाल में यह अन्तर स्पष्टतः देखा जा सकता है। औसतन 45° के पश्चात् तापमान अधिक तेजी से गिरने लगता है एवं 65° तक तापमान तेजी से गिरकर 1° से 4° सेण्टीग्रेड के आस–पास एवं ध्रुवों पर 0° (हिमखण्ड) से 2° सेण्टीग्रेड के आस–पास रहता है। यहाँ पर भी उत्तरी अटलाण्टिक एवं उत्तरी प्रशान्त महासागरों के पश्चिमी भागों के तापमान 50° अक्षांश तक काफी नीचे रहता है, जबकि इन्हीं महासागरों के पूर्वी भागों के तापमान 5° से 10° सेण्टीग्रेड के मध्य रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों के तापमान जल की अधिकता एवं निरन्तरता के कारण अक्षांशों के अनुसार ही ध्रुवों की ओर गिरता जाता है।

टिप्पणी

सारणी क्र. 5.1: महासागरों के औसत तापमान का क्षैतिज वितरण (सेण्टीग्रेड में)

अक्षांश	अन्य महासागर	हिन्द महासागर	प्रशान्त महासागर
उत्तरी गोलार्द्ध			
60^o – 70^o	5.5^o	–	–
50^o – 60^o	8.6^o	–	5.8^o
40^o – 50^o	13.0^o	–	10.0^o
30^o – 40^o	20.5^o	–	18.5^o
20^o – 30^o	24.1^o	26.2^o	23.5^o
10^o – 20^o	26.0^o	27.2^o	26.4^o
0^o – .10^o	26.8^o	27.7^o	27.2^o
दक्षिणी गोलार्द्ध			
0^o – 10^o	25.5^o	27.5^o	26.5^o
10^o – 20^o	23.2^o	26.0^o	25.1^o
20^o–30^o	21.5^o	22.5^o	21.5^o
30^0–.40^o	17.0^o	17.2^o	17.0^o
40^0–50^o	8.5^o	8.5^o	10.0^o
50^0–60^o	1.6^o	1.6^o	4.0^o
60^0–70^o	-1.5^o	-1.5^o	-1.0^o

भूमण्डल के सम्पूर्ण महासागरों का औसत तापमान 17^o सेण्टीग्रेड रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध के महासागरों का इस औसत दशा से कुछ अधिक गर्म या 20^o सेण्टीग्रेड औसत तापमान रहता है, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध के औसत तापमान कुछ नीचे अर्थात् 15.5^o सेण्टीग्रेड अंकित किया जाता है। इसी भाँति, खुले महासागरों में सर्वोच्च तापमान 28^o सेण्टीग्रेड उत्तरी गोलार्द्ध में 5^o अक्षांश पर एवं स्थानीय रूप से बंगाल की खाड़ी में अंकित किया जाता है। **अधखुले** सागरों में सबसे गर्म सागर लाल सागर (32^o सेण्टीग्रेड) एवं फारस की खाड़ी (34^o सेण्टीग्रेड) हैं। ये प्रदेश उष्ण मरुस्थलों से घिरे रहने से भी अधिक गर्म बने रहते हैं, किन्तु ऊँचे अक्षांशों में स्थित होने से भूमध्य सागर एवं काले सागर (अधखुले सागर) का तापमान इनसे नीचा रहता है। खुले महासागरों में प्रशान्त महासागर के औसत तापमान 18^o सेण्टीग्रेड एवं अटलाण्टिक महासागर के औसत तापमान 16^o सेण्टीग्रेड रहता है। हिन्द महासागरों का विस्तार उत्तरी ठण्डे अक्षांशीय प्रदेशों में नहीं है, अतः वहाँ का तापमान 16.3^o सेण्टीग्रेड के आस–पास अर्थात् कुछ ऊँचा रहता है।

5.2.4 तापमान का लम्बवत् वितरण (Vertical Distribution of Temperature)

टिप्पणी

जिस प्रकार सागर जल के तापमान का क्षैतिजिक वितरण कई कारकों से प्रभावित रहता है, उसी प्रकार सागर जल की गहराई के अनुसार तापमान का गिरना भी सर्वत्र समान नहीं है। उस पर सामान्यतः महासागरीय धाराओं, सागर की गहराई, अक्षांशीय अन्तर एवं सागर तली के धरातल के स्वरूप का विशेष प्रभाव पड़ता है। यह संक्षेप में निम्न प्रकार से हैं–

1. महासागरीय धाराएँ (Oceanic Currents)– जल में संवाहनिक धाराएँ चलने के कारण मध्य अक्षांशों में गर्म धाराओं के प्रभाव से जहाँ–जहाँ सतह पर जल का तापमान ऊँचा रहता है, वहाँ 180 मीटर की गहराई तक ताप गिरने की दर धीमी रहती है। इसी प्रकार गर्म सागरों में सतह से 100 मीटर की गहराई तक तापमान प्रायः स्थिर या धीमी गति से गिरता है, लेकिन उष्ण प्रदेशों में जहाँ भी शीतल या ठण्डी धारा का प्रभाव रहता है वहाँ पर सतह से 20–30 मीटर के पश्चात् तापमान कुछ गहराई तक बढ़ने लगता है एवं 150 मीटर के पश्चात् पुनः गिरने लगता है। ऐसा कुछ स्थानों पर ही होता है।

2. अक्षांशीय अन्तर (Latitudinal Difference)– विषुवत् रेखा से ध्रुव की ओर जाने पर सागर की सतह का तापमान गिरने लगता है, अतः मध्यवर्ती अक्षांशों का जल शीतल व उच्च अक्षांशों में ठण्डा एवं ध्रुवीय प्रदेशों में बर्फीला रहता है। अतः गहराई बढ़ने के साथ–साथ यहाँ का तापमान धीमी गति से गिरता है, क्योंकि जहाँ विषुवत् रेखा के आस–पास सतह का तापमान 27^o सेण्टीग्रेड से 2,000 मीटर की गहराई पर 2^o सेण्टीग्रेड तक पहुँच जाते हैं, वहीं उत्तरी गोलार्द्ध में सतह का तापमान 50^o अक्षांश पर अटलाण्टिक महासागर का 8.6^o सेण्टीग्रेड रहता है, किन्तु यहाँ भी 2,000 मीटर की गहराई पर भी तापमान 1.8^0 से 2.0^o सेण्टीग्रेड तक ही रहेगा। इसी भाँति, दक्षिणी गोलार्द्ध में 30^o अक्षांश पर महासागरीय सतह का तापमान (अटलाण्टिक महासागर) 8.6^o सेण्टीग्रेड के आस–पास रहता है, वहीं 2,000 मीटर की गहराई पर भी 1.8^o सेण्टीग्रेड के आस–पास ही मिलेगा। उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ठण्डे प्रदेशों या ध्रुवीय अक्षांशों की ओर गहराई बढ़ने के साथ–साथ तापमान प्रायः स्थिर या बहुत ही धीमी गति से गिरता है, क्योंकि महासागरों के जल का तापमान किसी भी गहराई पर 1.2^o सेण्टीग्रेड से नीचे नहीं गिर सकता। अण्टार्कटिका महाद्वीप के निकट बर्फ के कारण बर्फीले क्षेत्रों का तापमान 0^o सेण्टीग्रेड से 1.5^o सेण्टीग्रेड तक गिर जाता है, वहीं अन्यत्र व यहाँ पर भी, सतह से 180 मीटर गहराई पर तापमान बढ़कर 1.2^o सेण्टीग्रेड तक अंकित किया जाता है। इसी कारण ध्रुवों के आस–पास एवं हिमशिला प्रभावित प्रदेशों में स्थाई रूप से ताप **विलोमता** की दशा पायी जाती है।

3. सागर तली का स्वरूप (Topography of Sea Bottom)– जब कोई सागर महासागर से अलग होकर भी सँकरे मार्ग (जलडमरूमध्य) से जुड़ा रहता है, वहाँ के तापमान का स्वरूप भिन्न प्रकार का रहता है। ऐसा विशेषकर उष्ण एवं उष्ण–शीतोष्ण प्रदेशों में देखा जा सकता है।

टिप्पणी

जिस गहराई तक महासागरीय तल के कटक (श्रेणी) या उभार का विस्तार है, उस गहराई पर जो तापमान रहेगा, वही तापमान आन्तरिक सागर या खाड़ी की सभी गहराई पर रहेगा, जबकि खुले महासागरों का तापमान तो निरन्तर गिरता जायेगा।

इस प्रकार, खुले महासागरों का तापमान सतह से गहराई की ओर जाने पर उष्ण सागरों में 180 मीटर तक अपेक्षतया अधिक तेजी से गिरता है। इसके पश्चात् तापमान धीमी गति से किन्तु निरन्तर 2,000 मीटर की गहराई से गिरता जाता है। 2,000 मीटर पर तापमान गिरकर 2º सेण्टीग्रेड के आस–पास प्रायः सभी महासागरों का पहुँच जाता है।

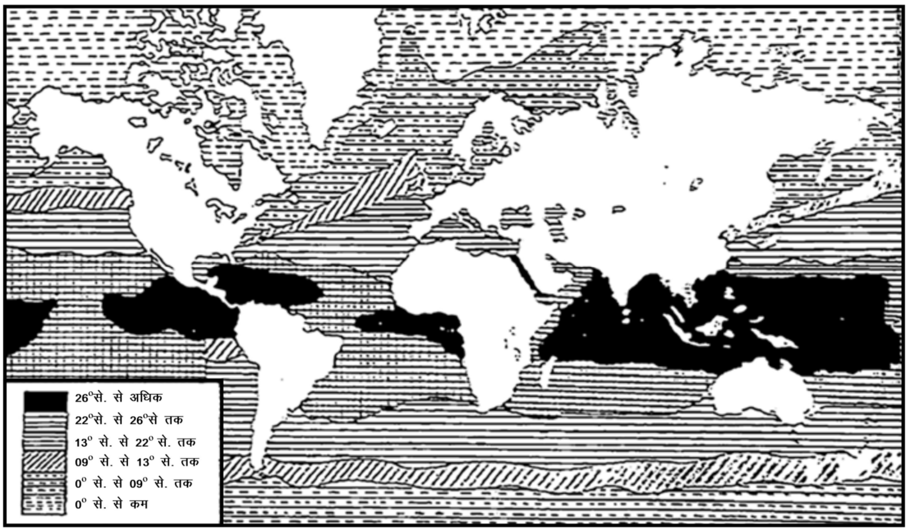

चित्र क्र. 5.1: महासागरीय जल के तापमान का वितरण

सारणी क्र. 5.2: विषुवत् रेखा पर गहराई के अनुसार महासागरीय जल का तापमान

गहराई	औसत तापमान (सेण्टीग्रेड)
सागर तल	27º
30 मीटर	24º
60 मीटर	20º
180 मीटर	16º
1,000 मीटर	4.5º
2,000 मीटर	2.0º
3,600 मीटर	1.6º
4,000 मीटर या अधिक	1.2º

टिप्पणी

इस प्रकार प्रारम्भ में 180 मीटर की गहराई तक सौर ताप की ऊष्मा या विकिरण का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष भाव रहने से एवं ताप विकिरण का अनुकूल प्रभाव रहने से तापमान अपेक्षतया कुछ ऊँचा बना रहता है। यहाँ पर जैसा कि पूर्व की सारणी में बताया गया है, सभी महासागरों में सतह पर तापमान समान न रहने से इनमें स्थानीय अन्तर पाया जा सकता है। प्रशान्त महासागर का तापमान 180 मीटर की गहराई तक भी उष्ण प्रदेशों में, 1.5° से 2° सेण्टीग्रेड ऊँचे रह सकते हैं किन्तु इसके पश्चात् 2,000 मीटर की गहराई तक पहुँचते–पहुँचते सभी महासागरों का तापमान प्रायः 2° सेण्टीग्रेड के आस–पास पहुँच जाता है। बर्फ पानी से हल्की होती है, इसीलिए महासागरीय तली में तापमान कैसा भी रहे, बर्फ नहीं पायी जा सकती। अतः 2,000 मीटर के पश्चात् तापमान सभी महासागरों में लगभग स्थिर रहता है अर्थात् 4,000 मीटर पर भी तापमान 1.2° से 1.5° सेण्टीग्रेड के आस–पास ही रहेगा। किसी भी स्थिति में, गहरे महासागरों की तली या गहरी खाइयों (Trenches) एवं गर्तो (Deeps) में तापमान 1.2° सेण्टीग्रेड से नीचे गिरना तकनीकी दृष्टि से सम्भव ही नहीं है।

4. बन्द व अधखुले सागर (Closed and Partially Closed Sea)– ऐसे सागरों में तापमान का लम्बवत् वितरण भिन्न रहता है। लाल सागर, डॉल्टक व भूमध्य सागर एवं फारस की खाड़ी, आदि जिस तल पर महासागरों से अलग होते हैं, वहाँ का तापमान आगे के सारे बन्द सागर में भी पैंदे तक आन्तरिक संवहन धाराएँ चलने से एक जैसा बना रहता है।

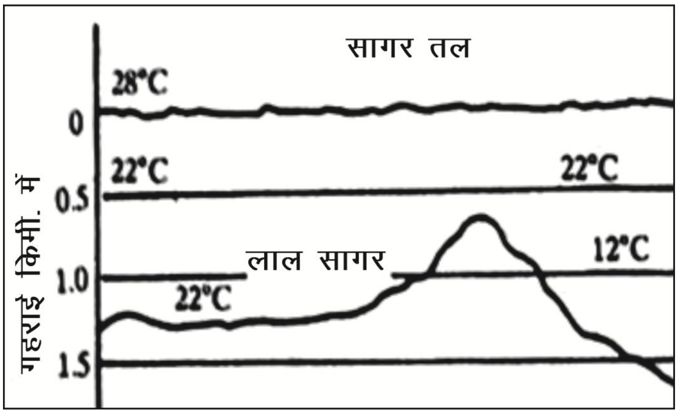

चित्र क्र. 5.2: अधखुले सागरों एवं खाड़ियों के तापमान का लम्बवत् वितरण

जैसे– लाल सागर का हिन्द महासागर से अलग होने के तल पर 22° सेण्टीग्रेड तापमान है, तो उसका लाल सागर में सभी गहराइयों पर (1,000 मीटर या अधिक तक) भी यही तापमान रहेगा, जबकि खुले हिन्द महासागर का तापमान 2,000 मीटर पर गिरकर 2° सेण्टीग्रेड तक अंकित किया जाता है। जिस आन्तरिक या बन्द सागर में गर्म धारा या गर्म वायु राशि का प्रभाव रहता है, वहाँ का तापमान अपेक्षतया ऊँचा एवं ठण्डी धारा के प्रभाव से कुछ नीचा रहता है।

महासागरीय जल के तापमान के स्वरूप या व्यवस्था का प्रभाव उसके घनत्व, गतिशीलता, सम्पूर्ण जैव–जगत का विकसित स्वरूप, मछलियाँ व जल संसाधनों की प्राप्ति, आदि पर विशेष रूप से दिखाई देता है। महासागरीय जल के ताप का निकट के स्थल खण्डों की सम्पूर्ण जैविक एवं अजैविक क्रियाकलापों पर भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

5.2.5 लवणता (Salinity)

महासागरीय जल का विशिष्ट या तीखा स्वाद ही उसका खारापन है। अतः वर्तमान में महासागरीय जल में पाये जाने वाले विविध लवणों के योग को ही 'खारापन' कहते हैं। क्या महासागर अपने निर्माण के समय से समान रूप से खारे एवं इसी संगठन (Composition) में रहे? इस प्रश्न का उत्तर आज भी विवाद का विषय है। इतना अवश्य है कि आज से लगभग सौ करोड़ वर्ष पूर्व जब महासागर प्रारम्भिक अवस्था में बने, तब उनका तापमान अधिक ऊँचा रहा होगा तथा नदियों एवं भूमिगत जल की क्षमता भी विशेष रासायनिक क्रिया होती रहने से अधिक लवण बहाकर लाने की रही होगी। तब वाष्पीकरण, संघनन एवं वर्षा भी भूतल पर आज से अधिक व्यापक हुई होगी। अतः महासागरों के खारेपन का अधिकांश स्वरूप जीवों के विकास से पूर्व ही निश्चित हो गया होगा। तभी जैव–विकास के विशेष लवण, अम्ल एवं अन्य घटकों का निश्चित निर्धारण हो गया होगा। अतः यह कहना उचित ही है कि आज से लगभग 80 से 100 करोड़ वर्ष पूर्व ही महासागरों का खारापन लगभग वर्तमान जैसा हो चुका था।

महासागरों में प्रति वर्ष विविध स्रोतों से खनिज, चट्टान, रासायनिक तत्व, सिन्धु पंक एवं वनस्पति, आदि से विविध नमक प्राप्त होता रहता है, उसका समायोजन विविध प्रकार से उपभोग–जैविक क्रियाओं, जल वनस्पति के विकास, रासायनिक क्रियाओं एवं मानव द्वारा उपभोग, आदि से होता रहता है। अतः वर्तमान में सागर जल में लवण की मात्रा में प्रायः समानुपातिक स्थिति पाई जाती है, क्योंकि नदियाँ जिन्हें कि वर्तमान में समुद्रों में खारा पानी लाने वाली प्रमुख एजेन्सी माना जाता है, वास्तव में बहुत ही थोड़ी या सूक्ष्म मात्रा में लवण लाती हैं। नदी जल में सभी प्रकार के लवण या खारेपन की मात्रा 0.18 ग्राम प्रति किग्रा. (0.18%) होती है फिर नदियों द्वारा लाये गये चूने की मात्रा खारेपन की मात्रा से कहीं अधिक होती है। यही नहीं, समुद्री लवण में क्लोराइड एवं सल्फेट का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः महासागरीय खारापन का विकास मात्र नदियों द्वारा लाये गये पदार्थों से नहीं हुआ है। इस पर वाष्पीकरण, समुद्रों में रासायनिक व जैविक जटिल क्रियाएँ एवं समुद्री जीवों का अपघटन, आदि का भी निश्चित प्रभाव पड़ता है।

खारापन की संरचना– महासागरों में अनुमानतः लाखों अरब टन नमक है। प्रारम्भ में इसे या सारे को ही खाने के नमक (NaCl) के वर्ग में लिया जाता था। महासागरों में मुख्यतः सात प्रकार के लवण या विशेष खारे पदार्थ पाये जाते हैं। इन सबकी औसत मात्रा प्रति एक किग्रा. (1,000 ग्राम) पानी में 35 ग्राम होती है। इसीलिए महासागरों का पानी विशेष खारा होता है। इसमें भी सोडियम क्लोराइड (खाने का नमक) की मात्रा लगभग 78 प्रतिशत है। नमक की मात्रा महासागर जल

के घनत्व एवं उसके अनेक अन्य गुणों एवं क्षमताओं को प्रभावित करती है। **डिटमार** (Dittma) के अनुसार, महासागरों में पाये जाने वाले समुद्री नमक का वर्तमान में विश्लेषण अग्र प्रकार से है।

टिप्पणी

इस प्रकार समुद्री जल में सबसे अधिक मात्रा में सोडियम क्लोराइड या खाने का नमक एवं सबसे कम मात्रा में मैग्नीशियम ब्रोमाइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, बहुत ही थोड़ी मात्रा में अन्य अनेक प्रकार के पदार्थ भी पाये जाते है, क्योंकि महासागरीय जल में अति सूक्ष्म मात्रा में भूतल के सभी तत्व अवश्य पाये जाते हैं।

सारणी क्र. 5.3ः समुद्री जल का खारापन

क्र.	नमक	ग्राम प्रति किग्रा. पानी	कुल खारेपन का प्रतिशत
1.	सोडियम क्लोराइड (खाने का नमक) (Sodium Chloride)	27.213	77.75
2.	मैग्नीशियम क्लोराइड (Magnesium Chloride)	3.807	10.88
3.	मैग्नीशियम सल्फेट (Magnesium Sulphate)	1.658	4.74
4.	कैल्शियम सल्फेट (Calcium Sulphate)	1.260	3.60
5.	पोटेशियम सल्फेट (Potasium Sulphate)	0.863	2.46
6.	कैल्शियम कार्बोनेट (Calcium Carbonate)	0.123	0.35
7.	मैग्नीशियम ब्रोमाइड (Magnesium Bromide)	0.076	0.22
	योग	35.000 या 35%	100.00

इसी कारण अनुकूल परिस्थिति में गहरे सागरों की तली पर (बेसिनों में) संग्रहित धातु पिण्ड के सघन घोल पाये जाते हैं। यही नहीं, डू पॉण्ट जैसी कई कम्पनियाँ महासागरीय जल के परिष्करण द्वारा अनेक प्रकार की दवाइयाँ, रसायन एवं अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त करती रही हैं। महासागरों में खारीपन का उपयुक्त प्रति किग्रा. अर्थात् 35% मात्र औसत दशा है। कई खुले सागरों में इससे कुछ कम या कुछ अधिक मात्रा में भी खारापन पाया जाता है। इसी भाँति कई अधखुले सागरों व अन्तर्देशीय खारे जलाशयों में इससे कहीं कम अथवा कई गुना अधिक खारापन भी पाया जा सकता है।

5.2.6 सागर जल में खारापन मिलने के साधन या स्रोत (Source of Salinity in Sea Water)

महासागरों का खारापन वर्तमान स्थिति में किस विधि से पहुँचा, इस बारे में स्पष्ट मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का एवं भू–विज्ञानवेत्ताओं का मानना है कि महासागर

प्रारम्भ से ही इसी प्रकार से खारे रहे होंगे अर्थात् सागरों में जब संघनन क्रिया के विकास के परिणामस्वरूप जल संग्रहित होने लगा, तो पृथ्वी की ऊपरी प्राथमिक चट्टानों में ही ऊपरी मैल (Slag) के रूप में जो पदार्थ वनस्पति–विहीन था, उसमें ही लवणता के तत्व अधिक रहे होंगे। यही नहीं, तापमान ऊँचे रहने तथा नग्न भूमि होने से भी ऐसे गँदले जल में अनेक प्रकार के भारी पदार्थों के साथ–साथ घुलनशील नमक अधिक तेजी से एकत्रित हुआ होगा तथा तब पानी में रासायनिक क्रिया एवं पानी में एकत्रित चट्टानों को विश्लेषित करने की क्षमता भी अधिक रही होगी। अतः लगभग सौ करोड़ वर्ष पूर्व जब महासागर बने, तब ही कुछ करोड़ वर्षों में ही उनके खारेपन का स्वरूप वर्तमान स्थिति में पहुँच गया होगा।

दूसरी ओर, अन्य वर्ग के विद्वानों का मानना है कि महासागरीय जल में नदियों एवं अन्य माध्यमों से जो चट्टानें व रसायन प्राप्त होते रहते हैं, उन्हीं के निरन्तर एकत्रित होते रहने से ही सागरों का खारापन बढ़ता जा रहा है। उसकी यह वृद्धि धीमी गति से किन्तु निरन्तर जारी है, परन्तु अभी तक सागर जल की पिछले डेढ़ सौ वर्षों में निरन्तर जाँच की जाती रही है। उसके अनुसार सागर जल के खारेपन में विश्वव्यापी औसत वृद्धि का कहीं प्रमाण नहीं मिल सका है–

1. नदियाँ (Rivers)– नदियों एवं भूमिगत जल नलिकाओं का अन्तिम प्रवाह महासागर में एकत्रित होता रहता है। नदियों के जल के द्वारा चूना, अनेक प्रकार के खनिज व रसायन पदार्थ प्रति वर्ष करोड़ों टन की मात्रा में समुद्र में एकत्रित किये जाते हैं, किन्तु इसमें चूना व चूना मिश्रित लवणों की अधिकता होती है, जबकि सागर जल में चूने का मिश्रण मात्र 0.12 ग्राम प्रति किग्रा. ही है। इसके दूसरी ओर यहाँ कुल लवणता 35 प्रतिशत ही पायी जाती है एवं इसमें भी सबसे अधिक सोडियम क्लोराइड पाया जाता है। अतः कैल्शियम की इस प्राप्ति से खारापन बढ़ने में विशेष या उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। फिर अधिकांश चूना तो प्रवाल एवं चूनामय पंक (Ooze) भी उपभोग करते रहते हैं। अतः उसकी भी सागर जल में वृद्धि नहीं हो पाती।

2. समुद्री लहरें (Oceanic Waves)– समुद्री लहरें तटवर्ती भागों एवं निमग्न तट पर फैली चट्टानों की बराबर काँट–छाँट करती रहती हैं। ऐसा करते समय चट्टानों में पाये जाने वाले लवण, क्षार, चूना एवं अन्य घुलनशील पदार्थ खारे पानी में घुलते जाते हैं। इस विधि से भी सागर जल में अनेक प्रकार का खारापन स्थानीय रूप से प्राप्त होता रहता हैं क्योंकि अनेक चट्टानों में क्लोराइड, फॉस्फेट, सल्फेट एवं कार्बोनेट व अन्य यौगिक के रूप में जमाव पाये जाते हैं। ये निरन्तर सागर जल में घुलते जाते हैं। तटीय लहरों के प्रभाव से सोडियम, कैल्शियम एवं सल्फेट यौगिकों की प्राप्ति अधिक होती है।

इसके अतिरिक्त, **पवनों** द्वारा उड़ाकर लाई गई बालू भी सागर जल में मिलकर अपने घुलनशील तत्व सागर जल में समा देती है। मरुस्थलीय प्रदेशों में तूफानी मौसम के समय अपार मात्रा में मिट्टी का प्रवाह होता रहता है, अतः तब सागर जल को भी अधिक मात्रा में मिट्टी या बालू प्राप्त होती रहती है। इसी भाँति ज्वालामुखी विस्फोट द्वारा अपवादस्वरूप ही कहीं–कहीं तटीय प्रदेशों, द्वीपों एवं सागर तली के ज्वालामुखियों से अनेक प्रकार के पदार्थ गैस व ठोस रूप में प्राप्त

होते रहते हैं। ज्वालामुखी धूल, राख, मलवा एवं गैसों से भी लवणता प्राप्त होने में सहायता मिलती है।

टिप्पणी

5.2.7 समुद्री जल के खारेपन की भिन्नता के कारण (Reasons for Difference in Salinity of Sea Waters)

यद्यपि सभी समुद्र खारे हैं, किन्तु उनमें खारेपन की वास्तविक मात्रा सभी ओर समान नहीं है। कई बार एक ही अधखुले सागर के भिन्न–भिन्न भागों में भी खारापन समान नहीं पाया जाता। अतः इसका वितरण–स्वरूप औसत दशाओं से पर्याप्त भिन्न भी मिल सकता है। इसे प्रभावित करने वाले मुख्य कारक निम्न हैं–

1. वाष्पीकरण (Evaporation)– समुद्री जल में खारीपन की वृद्धि में वाष्पीकरण की क्रिया का एक महत्वपूर्ण योगदान है। वाष्पीकरण के द्वारा समुद्री जल वाष्प बनकर उड़ता रहता है और शेष जल में नमक की मात्रा बढ़ती रहती है। इससे खारीपन में वृद्धि होती है। वाष्पीकरण उच्च तापमान, वायु की शुष्कता, वायु की तीव्र गति, आकाश की दशा, कोहरा, आदि तथ्यों से प्रभावित होता है। इसी कारण अयनवृत्तीय प्रदेशों में, जहाँ कि उपर्युक्त सभी दशाएँ आदर्श रूप में मिलती हैं, वाष्पीकरण भी सबसे ऊँची दर पर होता रहता है। इसी कारण अयनवृत्तीय प्रदेशों के समुद्री जल में अपेक्षाकृत अधिक खारापन मिलता है, जबकि ध्रुवों के निकट वाष्पीकरण सबसे कम होने के कारण ही वहाँ सबसे कम खारापन मिलता है।

2. हवाएँ (Winds)– हवाओं की शुष्कता एवं तीव्रता का समुद्री जल के खारीपन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। गर्म एवं शुष्क हवाएँ वाष्पीकरण अधिक करती हैं जिसके परिणामस्वरूप गर्म एवं शुष्क हवाओं वाले क्षेत्र में मिलने वाले समुद्रों के जल में खारीपन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। यदि हवा गर्म व शुष्क है और अधिक तेज गति से चल रही है, तो समुद्री जल का वाष्पीकरण अधिक होगा। यही कारण है कि कर्क और मकर रेखाओं के निकटवर्ती समुद्री भागों में गर्म एवं शुष्क हवाओं के परिणामस्वरूप, खारीपन में अधिकता देखने को मिलती है। इसी भाँति, भूमि से सागर की ओर बहने वाली तेज पवनें समुद्री जल की ऊपरी तह को बहाकर ले जाती हैं, जो अधिक खारीपन लिये होती हैं और नीचे का कम खारी जल ऊपर आ जाता है जिससे खारीपन में स्थानीय रूप मे कमी हो जाती है।

3. समुद्री धाराएँ (Ocean Currents)– समुद्री धाराएँ भी समुद्री जल के खारीपन की मात्रा को प्रभावित करती हैं। सामान्य रूप से समुद्री जल की ऊपरी सतह में नीचे की सतह की अपेक्षा अधिक खारापन होता है। समुद्री धाराएँ ऊपरी सतह को बहाकर ले जाती हैं जिससे ऐसे स्थानों पर खारापन कम हो जाता है और यह गर्म धाराएँ जहाँ भी ऊपर की सतह को लेकर पहुँचती हैं, वहाँ खारीपन की मात्रा बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अन्ध महासागर के उत्तरी भाग से गल्फस्ट्रीम नामक गर्म धारा खारा जल अपने साथ बहाकर उत्तरी महासागर में ले जाती है जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी अन्ध महासागर में खारीपन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

4. स्वच्छ जल की आपूर्ति (Supply of Fresh Water)– सागरों में वर्षा, हिम पिघलने वाली नदियों, आदि के माध्यम से स्वच्छ जल प्राप्त होता रहता है। विषुवत्‌रेखीय प्रदेशों में एवं महाद्वीपीय तटों पर, जहाँ भी अधिक वर्षा होती है या बड़ी नदियाँ सागर में प्रवेश करती हैं, ऐसे सभी क्षेत्रों या प्रदेशों में सागर जल का खारापन कम होने लगता है। ध्रुवीय प्रदेशों से बाहर हिम शिलाओं के पिघलने से भी स्वच्छ जल प्राप्त होता है। अतः इससे भी खारीपन में स्थानीय रूप में कमी आती है।

5.2.8 समुद्री जल में खारीपन का वितरण (Distribution of Salinity in Ocean Water)

सागर जल में खारीपन की औसत दशा के वितरण के अध्ययन से स्पष्ट है कि सबसे कम खारापन ध्रुवीय देशों में पाया जाता है। इसके बाद खारीपन की मात्रा के आधार पर भूमध्यरेखीय क्षेत्र आते हैं। इससे अधिक खारीपन कर्क रेखा और मकर रेखा के निकटवर्ती भागों में स्थित समुद्री जल में मिलता है जिसका कारण कम वर्षा, गर्म, शुष्क एवं तीव्र हवाओं का प्रचलन, स्वच्छ आकाश एवं उच्च तापमान का मिलना है किन्तु खारीपन का वितरण खुले महासागरों, अधखुले सागरों या स्थल से घिरे सागरों एवं अन्तर्देशीय जलाशयों में विविध एवं विषमरूपी है–

1. खुले महासागरों में खारापन (Salinity in the Open Seas)– खुले समुद्रो (Open Seas) में सबसे अधिक खारापन उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा के आस–पास मिलता है। यहाँ समुद्री जल में खारीपन की मात्रा 35 ग्राम प्रति किग्रा., जल (35%) है। इन दोनों क्षेत्रों से ध्रुवों एवं भूमध्य रेखा की ओर खारीपन की मात्रा कम होती जाती है, लेकिन भूमध्य रेखा की अपेक्षा यह ध्रुवों पर अधिक कम होती है। विषुवत् रेखा के आस–पास के महासागरों में खारापन 34% रहता है जो कि अयनवृत्तीय खुले सागरों से कम है। इसके कम होने का प्रमुख कारण विषुवत्‌रेखीय प्रदेश में वर्षभर भारी वर्षा एवं इन प्रदेशों में सदावाहिनी विशाल नदियों (अमेजन, कांगो), आदि के द्वारा भारी मात्रा में स्वच्छ जल की प्राप्ति रहा है। इसके साथ–साथ अधिक समय तक आकाश में बादल छाये रहने एवं वायुमण्डल में निरन्तर ऊँची नमी बने रहने से वाष्पीकरण भी सीमित ही हो पाता है। समुद्रों में सबसे कम औसत खारापन ध्रुवीय प्रदेशों में 30%, तक पाया जाता है, क्योंकि यहाँ पर वाष्पीकरण नहीं के बराबर होता है, तापमान शून्य के आस–पास रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में सर्दियों में बर्फ जमी रहती है एवं गर्मियों में बर्फ के पिघलने से एवं नदियों के जल से अपेक्षाकृत स्वच्छ जल की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। इसी भाँति दक्षिणी गोलार्द्ध में अण्टार्कटिका से प्राप्त हिमशिलाओं के पिघलने से गर्मियों में भी खारापन नहीं बढ़ पाता।

खुले महासागरों में, उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में सारगासो सागर व निकट के क्षेत्रों में यहाँ की विशेष स्थिति के कारण खारापन अधिक पाया जाता है। यहाँ पर जल स्थिर व शान्त रहता है। स्थानीय विशेष सारगासो घास के कारण यह सागर जल निकट के अटलाण्टिक महासागर के जल से नहीं मिल पाता। यहाँ प्रायः प्रतिचक्रवातीय दशाएँ भी पाई जाती हैं। अयनवृत्त (कर्क रेखा) के

निकट होने से यहाँ के तापमान ऊँचे, वायु शुष्क एवं आकाश प्रायः मेघरहित रहता है। ये सभी दशाएँ ऊँचे वाष्पीकरण व कम जल प्राप्ति से ऊँचे खारीपन के विकास हेत् आदर्श दशाएँ हैं। अतः खुले सागरों में सबसे ऊँचा खारापन सारगासो सागर में 30% रहता है।

टिप्पणी

2. अधखुले सागरों में खारापन (Salinity in Partially Enclosed Seas)– ऐसे सागर जो कि महाद्वीपों से अधिकांश भागों की ओर से घिरे रहते हैं एवं एक ओर से महासागरों से जुड़े रहते हैं, उनका खारापन खुले सागरों की तुलना में पूर्णतः भिन्न होता है। ऐसे अधखुले सागर प्रायः जलडमरूमध्य (Strait) द्वारा समुद्रों से जुड़े रहते हैं। सामान्यतः 10° से 40° अक्षांशों के मध्य के ऐसे सागरों का खारापन भी तापमान की भाँति ऊँचा रहता है। ऊँचे खारापन का आदर्श उदाहरण भूमध्य सागर, लाल सागर एवं फारस की खाड़ी हैं। पश्चिमी भूमध्य सागर का खारापन जहाँ 37% रहता है, वहीं पूर्वी भूमध्य सागर का खारापन 39% हो जाता है। काला सागर में अनेक नदियों के मिलने से अधिक मात्रा में स्वच्छ जल की प्राप्ति से खारापन कम 18% से 20% तक गिर जाता है। इसके दूसरी ओर, हिन्द महासागर एवं स्वेज नहर के मध्य एवं शुष्क प्रदेश में स्थित लाल सागर का खारापन मरुभूमि से घिरे रहने से उत्तरी भाग में भूमध्य सागर से भी अधिक 41% हो जाता है, किन्तु दक्षिण की ओर अदन के निकट इसका खारापन घटकर 37% तक रह जाता है। अधखुले सागरों में सबसे अधिक खारापन यहीं पर उत्तरी हिन्द महासागर (अरब सागर) में स्थित **फारस की खाड़ी** का रहता है। यह प्रदेश भी कर्क रेखा के निकट है, यहाँ पर मरुस्थलीय दशाएँ पाई जाती हैं। इस प्रदेश में कोई बड़ी नदी भी नहीं मिलती। अतः यहाँ का खारापन 48% तक पहुँच जाता है। यहाँ का शान्त समुद्र, स्वच्छ आकाश, ऊँचे तापमान एवं निरन्तर वाष्पीकरण आदि सभी कारक ऊँचे खारीपन की दशा के लिए आदर्श स्थिति में सहायक रहते हैं। इसी तरह मैक्सिको की खाड़ी के दक्षिणवर्ती भाग का खारापन 38% रहता है, जबकि उत्तरी भाग में वर्षा होने व नदियाँ मिलने से खारापन 32% के आस–पास ही रहता है।

टिप्पणी

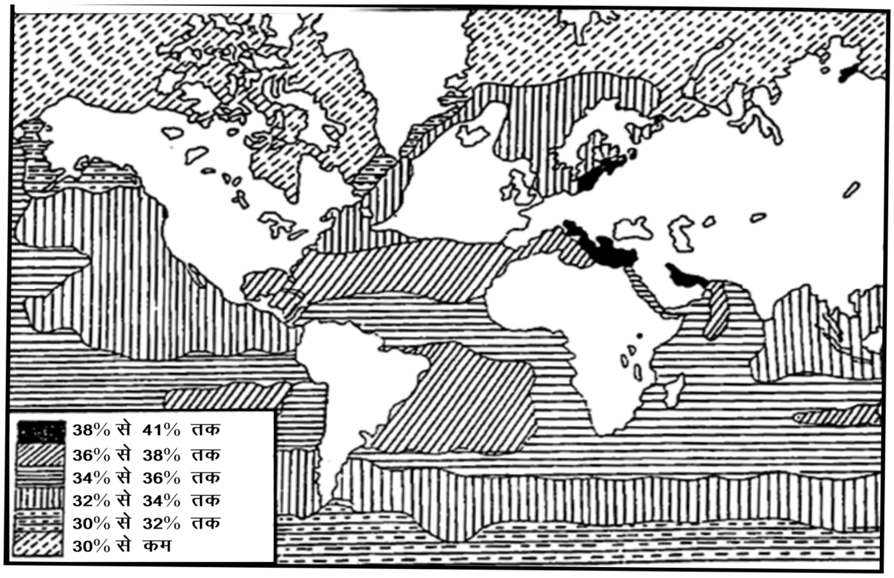

चित्र क्र. 5.3: महासागरीय जल में खारेपन का वितरण

ध्रुवीय प्रदेश की ओर से अधखुले सागरों में खारापन सामान्यतः नीचा रहता है। इसका उत्तम उदाहरण बाल्टिक सागर है। बाल्टिक सागर के दक्षिणवर्ती भाग का खारापन महासागरीय जल का आधा या 18% ही रहता है, वहीं उत्तरी बाल्टिक सागर या बोत्सनिया की खाड़ी का खारापन पुनः तेजी से गिरकर 6% तक एवं नदियों के मुहाने के निकट व फिनलैण्ड एवं समीपवर्ती खाड़ी में इससे भी कम अर्थात 2% पाया जाता है। यहाँ का जल लगभग स्वच्छ जल जैसा होने लगता है। कनाडा के उत्तरी टापुओं की मध्यवर्ती खाड़ियों का स्वागत भी काफी नीचे रहता है।

3. बन्द सागरों या अन्तर्देशीय जलाशयों का खारापन (Salinity of Enclosed or Inland Seas and Water Bodies)– आन्तरिक सागरों या झीलों का खारापन स्थानीय प्रदेशों की परिस्थिति के अनुसार कम–ज्यादा हो सकता है। शुष्क या मरुस्थली प्रदेशों एवं जिन आन्तरिक सागरों में बड़ी नदियाँ नहीं गिरतीं, उनका खारापन प्रायः ऊँचा पाया जाता है। कई बार शुष्क प्रदेशों की बड़ी झील या सागर में दोहरा खारापन भी पाया जाता है। इसका उत्तम उदाहरण कैस्पियन सागर है। इसके उत्तरी भाग में वोल्गा, यूराल, ऐम्बा, आदि नदियाँ आकर मिलती हैं, अतः उत्तरी कैस्पियन सागर का खारापन मात्र 12% से 14% ही रहता है। यह भाग अवसाद जमा होते रहने से छिछला भी है, जबकि दक्षिणवर्ती भाग में खारापन तेजी से बढ़कर 170% को भी पार कर जाता है। पश्चिमी एशिया के दो अन्तर्देशीय जलाशयों का खारापन विश्व में सबसे अधिक है–

(i) यहाँ टर्की की प्रसिद्ध **वॉन झील** जो कि पठारी भाग पर स्थित है, का खारापन 230% एवं

(ii) इस्राइल एवं जोर्डन की सीमा पर स्थित **मृत सागर** का खारापन इससे कुछ अधिक 238% पाया जाता है। ऐसे सागरों के जल का घनत्व भी अन्य सागरों से ऊँचा रहता है। यहाँ का खारापन विशेष ऊँचा रहने का कारण शुष्क दशाएँ, ऊँचे तापमान, वाष्पीकरण एवं स्वच्छ जल की आपूर्ति का

टिप्पणी

अभाव आदि मुख्य हैं। इसी प्रकार, विश्व की अन्य प्रसिद्ध खारी झीलों में पश्चिमी संयुक्त राज्य की **साल्ट झील** एवं दक्षिणी अमेरिका की **टिटीकाका झील** हैं। इनका खारापन 200% से कुछ अधिक पाया जाता है। सागरों में समान खारेपन के जल क्षेत्रों को जोड़ने वाली रेखा को समलवण रेखा (Isohalines) कहते हैं। इन समलवण रेखाओं में भी 35% रेखा का विशेष महत्व है, अतः इसे अधिक गहरा बनाया जाता है। इसी भाँति अधिक खारे पानी का घनत्व एवं तापमान दोनों ऊँचे रहते हैं। मृत सागर एवं वॉन झील का खारापन विशेष ऊँचा रहने से उसमें मनुष्य आसानी से नहीं डूब पाता।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

1. सर्वाधिक खारापन वाले सागर स्थित हैं।
   (अ) 5º उत्तर व 5º दक्षिणी
   (ब) 20º–40º उत्तर अक्षांशों के मध्य
   (स) 10º–30º अक्षांशों के मध्य
   (द) दोनों गोलार्द्धों में 40º–60º अक्षांशों के मध्य
2. विश्व के सबसे अधिक खारे सागर का नाम है।
   (अ) साल्ट लेक (ब) लाल सागर
   (स) मृत सागर (द) सांभर झील

5.3 समुद्री जल का संचरण: लहरें, धारायें एवं ज्वार भाटा (Movements of Sea Water: Waves, Currents and Tides)

5.3.1 लहरें एवं धाराएँ (Waves and Currents)

महासागरीय जल कभी भी स्थिर नहीं रहता। जल की गतियाँ अनेक कारणों से प्रभावित होकर बहुरूपी एवं जटिल होती हैं। हवा चलने से जल में **लहरें** या **तरंगें** उठती हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा एवं सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से जल में लम्बवत् गति होने से **ज्वारीय लहरें** उठती हैं। महासागरों के भौतिक एवं रासायनिक लक्षणों, जैसे– तापमान, खारापन, घनत्व, बर्फ की मात्रा, आदि में अन्तर आने एवं पृथ्वी की गतियों के प्रभाव से हवाओं या पवनों के प्रभाव से जल गर्म प्रदेशों से नदियों की भाँति सागर तल पर शीतोष्ण प्रदेशों की ओर बहता है। इसे **गर्म धारा** कहते हैं। इसी भाँति, ध्रुवों से भी ठण्डे पानी की धाराएँ चलती हैं। इस प्रकार महासागरीय जल के तल पर निम्न तीन प्रकार की गतियाँ विकसित होती हैं–

(i) लहरें (Waves),

(ii) धाराएँ (Currents) तथा

(iii) ज्वार-भाटा (Tides)

5.3.2 लहरें (Waves)

जल की सतह पर पवनों के चलने से उसमें दोलन होने लगता है अर्थात् इसमें पानी अस्थिर होकर हिलने–डुलने लगता है, इसी से जल ऊपर उठता एवं नीचे गिरता प्रतीत होता है।

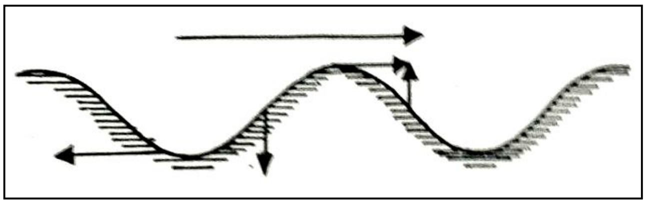

चित्र क्र. 5.4: लहर का पार्श्व चित्र

इस प्रभाव से पानी लहरदार **लम्बे तीर से लहर की दिशा तथा छोटे तीरों से कणों की गति प्रदर्शित की गयी है,** इसे ही **लहर या तरंग** कहते हैं। ऐसी लहर के ऊपरी भाग को **शीर्ष या ऊपरी सिरा** (Crest) एवं निचले भाग को **गर्त या द्रोणी** (Trough) कहते हैं। जब ऐसी गति बार–बार एक व्यवस्था से होती है, तो ऐसा लगता है मानो पानी आगे बढ़ रहा हो, जबकि लहरों में वास्तव में पानी ऊपर–नीचे अवश्य हिलता–डुलता या दोलन करता है, उसमें आगे बढ़ने की क्रिया नहीं होती जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

लहरों में पानी की स्थिरता की जाँच अर्थात् लहरों का पानी आगे नहीं बढ़ता, इसकी जाँच हेतु पानी की लहरों के बीच कार्क या लकड़ी का टुकड़ा फेंककर भी निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि वह कार्क या लकड़ी का टुकड़ा मात्र ऊपर–नीचे होता रहेगा किन्तु अपना स्थान नहीं छोड़ेगा। दो लहरों के शीर्ष के बीच की दूरी को **लहर की लम्बाई** और लहर के शीर्ष व गर्त के बीच के अन्तर को **लहर की ऊँचाई** कहते हैं।

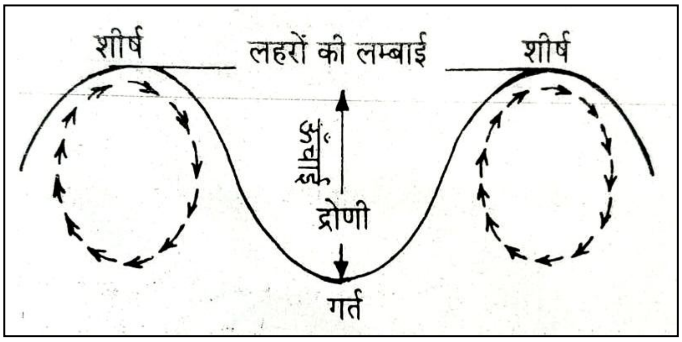

चित्र क्र. 5.5: लहरों में जल का दोलन एवं लहरों की ऊँचाई तथा लम्बाई

टिप्पणी

सागर में सामान्य लहरें उठने का कारण प्रधानतः पवनें हैं। अतः जितनी तेज गति से पवनें चलेंगी एवं जितनी बाधा कम होगी, उतनी ही अधिक ऊँची लहरें उठेंगी। इसी कारण, तूफान एवं हरीकेन या उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के समय जब पवनें 150 से 200 किमी. की गति से बहती हैं, तो ऊँची–ऊँची लहरें 3 से 5 मीटर तक उठती हैं यदि ऐसी पवनें अधिक समय तक निरन्तर बहती रहें, तो लहरें और भी ऊँची उठेंगी। ऊँची लहरों के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहले तो, ज्यों–ज्यों लहरों की ऊँचाई बढ़ती जायेगी, उनकी लम्बाई सापेक्षतया कम होती जायेगी अर्थात् ऐसी लहर बार–बार तट से भयंकर शोर मचाती टकरायेंगी क्योंकि लहर का सामान्यतः जितना भाग उभार के समय जल से बाहर रहता है. उतना ही भाग जल के भीतर भी रहता है। इस प्रकार, जब ऐसी लहर तट से टकराती है, तो वह लहर तेजी से टूटने लगती है, लहर टूटते समय भयंकर आवाज भी करती है। टूटती हुई लहर का ऊपरी हिस्सा पूरी भयंकरता या वेग के साथ तट के भीतर की ओर दूर तक बढ़कर तबाही मचाता है। इसी भाँति नीचे का टूटा हुआ धड़ बहुत तेज गति से गहरे सागर की ओर दौड़ता है। ऐसे में वह तट के निकट के सभी सामान या वस्तुओं (व्यक्ति, पशु, कचरा व अन्य सामान) को अपने साथ काफी गहराई तक बहा ले जाता है। इस प्रकार, चक्रवात के उत्पात के साथ–साथ लहरों के उत्पात एवं टूटने से भी तटीय भागों में अपार हानि होती है, मानो **प्रलय** मच गयी हो। ऐसी टूटी लहर को **सर्फ** कहते हैं। सागर में विकसित तरंग स्वरूप को **विकसित लहर (स्वेल)** कहते हैं। महासागरों में अन्य कारणों से गतिशीलता आने से भी लहरें चल सकती हैं। जैसे– तट के निकट अथवा **सागर तल में भूकम्प आने से** अथवा **ज्वालामुखी विस्फोट** से भयंकर या विनाशकारी लहरें चलती हैं। इन्हें **सुनामी** कहते हैं। इसी प्रकार, तट के निकट भूस्खलन से भी स्थानीय सागर या खाड़ी में लहर उठ सकती हैं।

5.3.3 धाराएँ (Current)

जिस प्रकार भूमि पर नदियों में पानी बहता है, उसी भाँति महासागरों में भी कई कारणों से प्रभावित होकर विशेष दिशा एवं विशेष मार्ग में जब विशेष गुण वाला (ठण्डा या गर्म) पानी बहने लगता है, तो उसे **धारा** (Current) कहते हैं। धाराएँ महासागर की सबसे महत्वपूर्ण प्रभावशाली एवं सभी सागरों में व्याप्त गति है।

मॉन्कहाउस (F.J. Monkhouse)– महोदय ने समुद्री जलधारा की परिभाषा करते हुए लिखा है, महासागर की सतह भी विशाल जलराशि की एक निश्चित दिशा में होने वाली सामान्य गति को महासागरीय धारा कहते हैं।

(The general movement of mass of surface water in a fairly defined direction is known as ocean Current)

विषुवत् रेखा के आस–पास के सागरों का गर्म पानी निश्चित चक्रीय व्यवस्था में प्रत्येक महासागर के हजारों किमी. मार्ग में चक्कर लगाकर प्रवाहित होता है। इसी तरह, ध्रुवों की ओर से भी ठण्डा या बर्फीला पानी निम्न अक्षांशों की ओर बहने लगता है। ठण्डा पानी भारी होने से जब भी गर्म पानी की धारा से मिलता है, तो यह गर्म धारा से नीचे फैल जाता है।

टिप्पणी

इस प्रकार, **तापमान की दृष्टि** से धाराएँ दो प्रकार की होती हैं– **गर्म धारा एवं ठण्डी धारा**। इसमें भी जब गर्म धारा ठण्डे प्रदेशों में बहने के बाद पृथ्वी की गति एवं पवनों की दिशा, आदि के प्रभाव से पुनः गर्म प्रदेशों की ओर बहने लगती है, तो अयनवृत्तीय मरुस्थलों के तट की उष्णता की तुलना में इस धारा का जल ठण्डा रहता है। अतः इसे भी ठण्डी धारा ही कहते हैं। वैसे यह जल ध्रुवीय ठण्डी धाराओं की भाँति बर्फीला नहीं होता। इस प्रकार, दोनों प्रकार की ठण्डी धाराओं के भेद को भी समझना आवश्यक है।

अपने आकार एवं गति की दृष्टि से धाराएँ तीन प्रकार की होती हैं–

(i) ड्रॉफ्ट या प्रवाह (Drift)– जब किसी धारा का पानी काफी चौड़ाई में बहुत धीमी गति से बहता है एवं ऐसे बहाव की दिशा वायु की दिशा के अनुसार होती है, तो उसे **प्रवाह** (Drift) कहते हैं। सामान्यतः जब गर्म धारा का पानी निरन्तर बहते हुए सुदूर उत्तरी शीत–शीतोष्ण प्रदेशों में फैलकर बहने लगता है, तो उसे प्रवाह (Drift) कहा जाता है, जैसे– **उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह** अथवा दक्षिणी गोलार्द्ध का **पछुआ पवन प्रवाह**, आदि। इसकी गति प्रति घण्टा 2 से 4 किमी. के आस–पास रहती है।

(ii) धारा (Current)– यद्यपि महासागरों में बहने वाले सभी प्रकार के पानी को **धारा** कहते हैं, फिर भी धारा के अपने लक्षण होते हैं। धारा में पानी की गति 3 से 5 किमी. तक होती है। ऐसा गर्म पानी 8 से 15 मीटर गहराई तक प्रभावकारी हो सकता है, जबकि ठण्डी धारा का प्रवाह कुछ अधिक गहराई तक ठण्डे प्रदेशों में मिलता है। धारा प्रायः निश्चित सीमा में एवं निश्चित दिशा में ही बहती है। गर्म धारा की अपेक्षा ठण्डी धारा धीमी गति से बहती है।

(iii) स्ट्रीम (Stream)– जब विशेष अनुकूल कारणों से एक से अधिक समरूपी धाराओं या प्रवाहित जल मिलकर अधिक सक्रिय एवं प्रभावी धारा के रूप में बहता है, तो उसे स्ट्रीम कहते हैं। विश्व की सबसे विख्यात स्ट्रीम **'खाडी की धारा या गल्फ स्ट्रीम'** है। इसी तरह, क्यूरोसिवो धारा में भी स्ट्रीम के गुण कुछ कम दूरी तक पाये जाते हैं। इसका मार्ग सँकरी धारा वाला, अधिक ऊँचे तापमान युक्त एवं विशेष गहराई तक 15 से 20 मीटर तक सागर जल के तापमान को प्रभावित करने वाला होता है। इसमें पानी के बहाव की गति 5 से 9 किमी. प्रति घण्टा तक होती है। गल्फ स्ट्रीम का स्पष्ट प्रभाव न केवल न्यूफाउण्डलैण्ड के आस–पास ही दिखाई देता है, बल्कि इसका प्रभाव सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोपीय तट एवं पूर्वी तथा उत्तरी–पूर्वी अटलाण्टिक महासागर में देखा जा सकता है, जबकि क्यूरोसिवो धारा में स्थानीय रूप से कहीं–कहीं स्ट्रीम के गुण पाये जाते हैं, किन्तु इसका प्रभाव गल्फ की भाँति व्यापक नहीं पाया जाता।

5.3.4 धाराओं के चलने के कारण (Reasons for Oceanic Currents)

धाराओं के चलने के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। इस बारे में सर्वप्रथम महान् भूगोलवेत्ता अलेक्जेण्डर हम्बोल्ट ने वैज्ञानिक आधार पर धाराओं के चलने का कारण उनके भौतिक गुणों में भिन्नता (तापमान, घनत्व आदि) को बताया। पृथ्वी की सतह पर धाराओं की विशिष्ट व्यवस्था के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. पृथ्वी की दैनिक गति (Daily Rotation of Earth)— पृथ्वी अपनी कीली पर पश्चिम से पूरब की ओर विषुवत् रेखा पर लगभग एक हजार किमी. प्रति घण्टा की गति से चक्कर लगाती है। इसके प्रभाव से भूतल का जल या तरल जल पूरब से पश्चिमी भाग की ओर पवनों की दिशा की भाँति बहने या प्रवाहित होने लगता है। उत्तरी गोलार्द्ध में ये धाराएँ। दाहिनी ओर एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर कुछ इसी प्रकार में मुड़ती हैं, जैसे कि व्यापारिक पवनें सीधी न चलकर तिरछी होकर बहने लगती हैं। विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर निश्चित दिशा में धाराओं को मुड़ने के लिए इनके मार्ग में महाद्वीपीय बाधा का आना अनिवार्य माना जा सकता है।

2. महासागरीय जल के तापमान की भिन्नता (Difference in Temperature of Oceanic Waters)— तापमान की भिन्नता से भी सागर जल में गतिशीलता विकसित होती है। जहाँ विषुवत् रेखीय खण्ड में पानी गर्म होता है, तो वह हल्का होकर सतह पर फैलने लगता है, तब पृथ्वी की दैनिक गति के प्रभाव से पूरब से पश्चिमी भाग की ओर बहता हुआ महाद्वीपों के तट से प्रभावित होकर ध्रुवीय प्रदेशों की ओर बहने लगता है।

इसके विपरीत, ध्रुवीय प्रदेशों का बर्फीला पानी भारी होने से जब निचले अक्षांशों की ओर बहने लगता है, तो गर्म पानी के सागरों एवं गर्म धाराओं के प्रभाव से नीचे बैठने लगता है। इस विधि से सागर जल में धाराओं के बहने में विशेष सहायता मिलती है।

3. महासागरीय जल में लवणता एवं घनत्व की भिन्नता (Salinity and Difference in Density of Sea Water)— महासागरों के सभी भागों में खारापन समान नहीं रहता। अधिक खारे पानी का घनत्व स्वच्छ जल से अधिक बना रहता है। अतः वह भारी होने से नीचे बैठने लगता है और ठण्डे पानी के सम्पर्क में आकर भारी व ठण्डा होता जाता है, जबकि कम खारा पानी हल्का होता है और वह सतह पर बहने लगता है। इसी कारण, भूमध्य सागर का पानी अधिक खारा एवं अधिक घनत्व वाला होने से, वहाँ जिब्राल्टर जलडमरूमध्य की ओर से कम खारी व हल्का अटलाण्टिक महासागर का पानी भूमध्य सागर की ओर प्रवाहित होता है। स्वेज नहर बनने से, वहाँ से जल उससे भी अधिक खारे लाल सागर की ओर भी प्रवाहित होता है। इन अधिक खारे सागरों का तापमान भी ऊँचा रहने से, वहाँ वाष्पीकरण अधिक होते रहने से, जल की मात्रा में या जल में सापेक्षतः कमी आने से भी ऐसी धारा का प्रवाह आवश्यक हो जाता है। इसी तरह, विषुवत् रेखीय अपेक्षतया कम खारे पानी अयनवृत्तीय अधिक खारे पानी की ओर धारा के रूप में

बहता है। बाद में, पछुआ हवाओं के प्रभाव से भी यह धारा पूरब की ओर मुड़ जाती है। इसी भाँति, कम खारे जल की ध्रुवीय ठण्डी धारा अधिक खारे जल की ओर बहती है, इससे ध्रुवीय ठण्डी धाराओं की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी

4. वाष्पीकरण एवं वर्षा (Evaporation and Rainfall)– अयनवृत्तीय सागरों में वाष्पीकरण सबसे अधिक होता है एवं यहाँ वर्षा भी न्यूनतम होती है। अतः इन प्रदेशों में जल की कुछ कमी होने लगती है। इसके दूसरी ओर, निकटवर्ती विषुवत् रेखीय प्रदेशों में निरन्तर बादल छाये रहने से एवं नमी अधिक रहने से, वहाँ वाष्पीकरण भी अपेक्षतया कम होता है। वहीं यहाँ प्रतिदिन पर्याप्त वर्षा भी हो जाती है। विषुवत् रेखीय प्रदेशों में इसी कारण जल की मात्रा अधिक रहती है। वह पानी अपेक्षतया कम खारा एवं ऊँचे तापमान वाला होने से भी हल्का होकर यहाँ से उत्तर–दक्षिण के कम पानी वाले अयनवृत्तीय प्रदेशों की ओर निश्चित दिशा व निश्चित मार्ग में बहने लगता है। भूमध्य सागर का जल भी अधिक खारा रहता है। इसका एक मुख्य कारण कम वर्षा एवं स्वच्छ आकाश रहने से अधिक वाष्पीकरण होते रहना भी है।

5. वायुदाब एवं सनातनी पवनें (Atmospheric Pressure and Prevailing Winds)– वायुदाब का प्रभाव जल की सतह एवं पवनों की दिशा व गति पर निर्णायक रूप में बना रहता है। जहाँ पर स्थाई उच्च वायुदाब की पेटियाँ पाई जाती हैं, वहाँ के सागरों का तल सापेक्षतः कुछ नीचा रहता है, जबकि जहाँ स्थाई निम्न वायुदाब की पेटियों का विस्तार है, वहाँ का जलस्तर कुछ ऊँचा बना रहता है। इस कारण से भी पानी निम्न वायुदाब वाले ऊँचे तल से उच्च वायुदाब वाले निचले तल की ओर बहने लगता है। इसी भाँति निम्न वायुदाब वाले विषुवत्रेखीय प्रदेशों में वर्षा भी अधिक एवं वर्षभर हो पाती है। इससे भी पानी की धाराएँ निम्न वायुदाब वाले विषुवत्रेखीय प्रदेश से उच्च वायुदाब वाले अयनवृत्तीय प्रदेश की ओर बहने लगती हैं

स्थायी वायुदाब की पेटियों की भिन्नता का निर्णायक प्रभाव सनातनी पवनों को जन्म देता है। अतः सनातनी पवनें सागर तल पर जिस दिशा में निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं, जल की धाराएँ भी अन्य कारण अनुकूल होने पर नियमित रूप से उसी दिशा के अनुरूप बहने लगती हैं। क्यूरोसिवो, गल्फस्ट्रीम, ब्राजील की धारा एवं पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की धाराओं की दिशा प्रारम्भ से आखिर तक सनातनी पवनों की दिशा के अनुसार ही निर्धारित रही हैं। सनातनी पछुआ पवनों के प्रभाव से ही गल्फस्ट्रीम धारा एवं क्यूरोसिवो की धारा पूरब की ओर एवं अपने–अपने महासागरों में उत्तरी अक्षांशों की ओर बहने लगती हैं। पछुआ पवनों के प्रभाव से ही दक्षिणी गोलार्द्ध के सभी महासागरों में 45^o से 65^o अक्षांशों के मध्य की धाराएँ पश्चिम से पूरब की ओर बहती हैं।

टिप्पणी

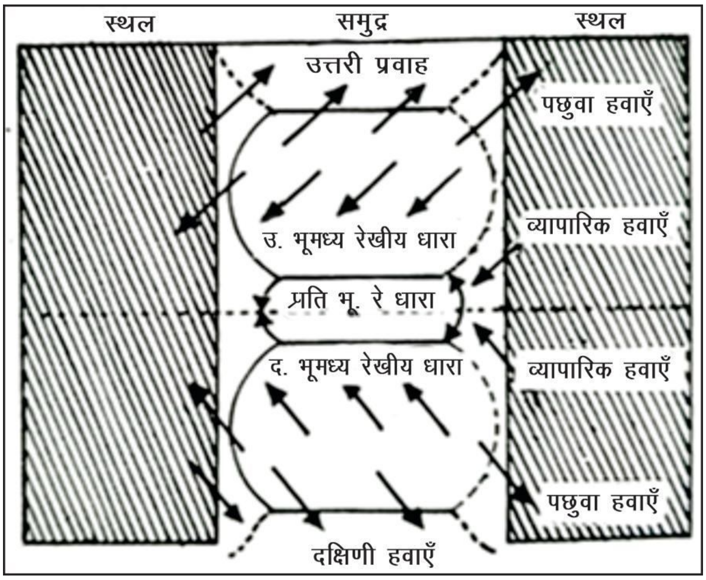

चित्र क्र. 5.6: धाराओं के प्रवाह मार्ग पर सनातनी पवनों का प्रभाव

6. सागरीय तल में सन्तुलन बनाये रखना (Maintaining Balance in Oceanic Bottom)– कुछ धाराएँ सामान्य प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध **प्रतिकूल** दिशा में भी चलती हैं, जैसे कि प्रति–विषुवत्रेखीय धारा (Anti-equatorial Current) इसका मुख्य कारण विषुवत् रेखीय प्रदेश में जब ऊपर वर्णित कारणों के प्रभाव से गर्म धाराएँ पूरब से पश्चिम की ओर बहती हैं तो पश्चिमी तट पर जल अधिक एवं पूर्वी तट पर जल कम होने लगता है, इस कमी को सन्तुलित करने के लिए उत्तरी एवं दक्षिणी विषुवत् रेखीय धारा के मध्य में विपरीतगामी अर्थात् पश्चिम से पूरब की ओर विषुवत् रेखीय धारा उत्पन्न होती है। इसी तरह सागर तल में सन्तुलन बनाये रखने के लिए ही अटलाण्टिक महासागर से जिब्राल्टर जलडमरूमध्य से भूमध्य सागर की ओर जल बहने लगता है।

7. महाद्वीपों के तट की दिशा एवं आकृति (Coastal Direction and Shape of Continents)– यह कारण यद्यपि धाराओं की उत्पत्ति में सहायक नहीं है, किन्तु सागर की धाराओं की दिशा बदलने में इसका प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण बना रहता है, क्योंकि महाद्वीप सागर में चलने वाली धाराओं के लिए स्थाई एवं प्रभावी बाधा है। महाद्वीपों की या बड़े द्वीपों की आकृति एवं तट रेखा की दिशा के अनुसार ही धाराओं को अपनी दिशा बदलनी होती है। मैक्सिको की खाड़ी की वृत्तीय आकृति के कारण ही खाड़ी की धारा को उसी के अनुसार बहना पड़ता है। अतः अन्ध महासागर एवं प्रशान्त महासागर की गर्म धाराएँ जब पश्चिम की ओर महाद्वीपीय तट से टकराती हैं, तो तटीय आकृति के अनुसार ही उत्तर व दक्षिण 132 दिशा में मुड़कर ध्रुवों की ओर बहने लगती हैं। इसी भाँति ब्राजील के नुकीले तट से टकराने से ही दक्षिणी विषुवत्रेखीय धारा दो शाखाओं में बँटकर सामान्य नियम का अपवाद होकर भी उसकी एक शाखा का पानी पुनः दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी भाग में मध्य अमेरिका के तट के सहारे उत्तर की ओर बहकर उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा में मिलकर गल्फस्ट्रीम को अधिक प्रभावशाली बना देता है। इसी प्रकार उत्तरी प्रशान्त ड्रिफ्ट अलास्का के तट से टकराकर दो भागों में बँट जाती

है। इसमें से उत्तरी भाग की ओर की अलास्का की धारा गर्म धारा कहलाती है, जबकि यही पानी जब दूसरी शाखा द्वारा पुनः दक्षिण की ओर बहने लगता है, तो यह कैलिफोर्निया की ठण्डी धारा कहलाती है।

8. ऋतु परिवर्तन या मौसमी परिवर्तन (Climatic Changes)– ऋतु परिवर्तन के अनुसार अधिकांश महासागरों की धाराओं के मार्ग में स्थाई वायु पेटियों की भाँति स्थान परिवर्तन होता है, जबकि मानसूनी प्रदेशों में ऋतु परिवर्तन के अनुसार धाराओं की दिशा ही पूर्णतः बदल सकती है। भारतीय उपमहाद्वीपीय मानसूनी व्यवस्था के विकास के कारण ही, उत्तरी हिन्द महासागर में ग्रीष्मकाल में जब दक्षिणी–पश्चिमी मानसून प्रवाहित होते हैं तो मानसूनी प्रवाह भी तट पर पश्चिम से पूरब की ओर बहती है। सर्दियों में जब मानसून उत्तर–पूरब दिशा से चलती है, तो मानसूनी प्रवाह ग्रीष्मकाल में ठीक विपरीत दिशा में पूरब से पश्चिम की ओर बहता है। इसी प्रकार सूर्य की ग्रीष्मकालीन एवं शीतकालीन स्थिति के परिवर्तन से स्थाई पवनों के उत्पत्ति क्षेत्र भी उसी के अनुसार खिसकते रहते हैं अर्थात् जनवरी में यह पेटियाँ या पवनें दक्षिण की ओर एवं जुलाई में उत्तर की ओर खिसकती हैं। इन सब गतियों का महासागरीय धारा व्यवस्था पर भी उसी के अनुसार प्रभाव दिखाई देता है।

9. महासागरीय तल की आकृति (Shape of Bottom Oceanic)– शीतोष्ण प्रदेशों की ओर बहने वाली गर्म धाराएँ जब महासागरों में पूरब दिशा की ओर बहने लगती हैं, तो मार्ग में जहाँ भी महासागरों की तली से उभरी हुई आकृतियाँ, विशेष ऊँची श्रेणियाँ पायी जाती हैं, वहीं पर धाराओं की गति पर भी उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही प्रभाव से मध्य अटलाण्टिक श्रेणी को पार करते समय पहले गल्फस्ट्रीम की गति कुछ मन्द हो जाती है। इसके पश्चात् यह पुनः ढालू पूर्वी भाग की ओर तेज होकर फिर से सामान्य होने लगती है। विषुवृत्तीय प्रदेशों में ऐसी महासागरीय तली की श्रेणियों का प्रभाव प्रायः नगण्य बना रहता है। विश्व के सभी महासागरों में उपर्युक्त कारणों के प्रभाव से निम्न अक्षांशों से गर्म धाराएँ और उच्च अक्षांशों या ध्रुवीय प्रदेशों से ठण्डी धाराएँ चलती हैं। इसमें अन्ध महासागर की धारा व्यवस्था एक आदर्श स्वरूप स्थापित करती है।

5.3.5 अन्ध (अटलाण्टिक) महासागर की धाराएँ (Currents of Atlantic Ocean)

अन्ध महासागर में स्पष्टतः धारा प्रवाह के दो क्षेत्र या व्यवस्था उत्तरी व दक्षिणी दिशा में बनते हैं। अतः उसी के अनुसार यहाँ उन्हें धाराओं के अनुसार समझाया गया है।

उत्तरी अन्ध महासागर की धाराएँ (Northern Currents of Atlantic Ocean)

1. उत्तरी विषुवत्‌रेखीय गर्म धारा (Northern Equatorial Current Warm)– यह धारा पश्चिमी अफ्रीका के गिनी तट के निकट से प्रारम्भ होकर पूरब से पश्चिम की ओर बहती हुई उत्तरी ब्राजील, कैरेबियन सागर एवं मध्य अमेरिकी तट तक पहुँचती है। अतः यह व्यापारिक पवनों की दिशा के अनुसार बहती रहती है। गिनी की खाड़ी की विशेष स्थिति के कारण यह धारा उत्तर–पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। इसमें पश्चिमी अफ्रीका के विस्तार के कारण

उत्तर का पानी भी पश्चिम की ओर आकर मिलता है। इसके साथ–साथ आगे वर्णित दक्षिणी विषुवत्‌रेखा की गर्म धारा का एक हिस्सा भी ब्राजील के उत्तरी–पूर्वी तट से टकराकर पुनः उत्तर की ओर प्रवाहित होता हुआ मैक्सिको की खाड़ी के निकट उत्तरी विषुवत्‌रेखीय धारा में मिलकर इसे अधिक प्रभावशाली बना देता है।

2. गल्फस्ट्रीम (Gulf Stream)– यह धारा विश्व की सबसे विशेष प्रभावशाली धारा है। प्रारम्भ में जब उत्तरी विषुवत् रेखीय गर्म धारा का पानी एवं दक्षिणी विषुवत् रेखीय गर्म धारा का एक भाग मिलकर मध्य अमेरिका व पश्चिमी द्वीप समूह की ओर से मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करने लगती है, तब यह तीन शाखाओं में बँटी हुई होती है–

(i) एण्टीलिस की धारा,

(ii) मैक्सिको की खाड़ी की धारा एवं

(iii) फ्लोरिडा की धारा।

फ्लोरिडा जल संयोजक के निकट जहाँ के सँकरे मार्ग से पानी तेज गति से बहकर आगे बढ़ता है, वहीं पर प्रायद्वीप के पूरब में क्यूबा की ओर से भी गर्म पानी आकर इसमें मिल जाता है। इस प्रकार, इस शक्तिशाली गल्फस्ट्रीम (खाड़ी की गर्म सरिता) का विकास 18° उत्तरी अक्षांश के उत्तर में होता है। इस प्रकार, यह **गर्म धाराओं का एक संयुक्त स्वरूप होने से ही विशेष शक्तिशाली है।** प्रारम्भ में, यह फ्लोरिडा के पूर्वी तट से उत्तर की ओर पूर्वी संयुक्त राज्य के तट के निकट से बहती है। धीरे–धीरे यह उत्तर से उत्तर–पूरब दिशा में मुड़ने लगती है। यह तट से 50 से 120 किमी. दूर बहती है।

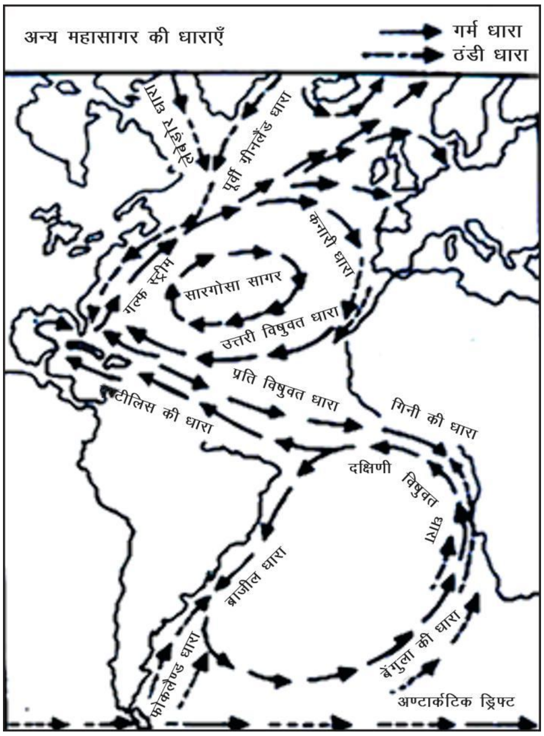

चित्र क्र. 5.7: अन्ध महासागर की धाराएँ

प्रारम्भ में, इस धारा में पर्याप्त उष्णता रहती है। इसी कारण 20° से 35° उत्तरी अक्षांशों तक इसका तापमान दक्षिण में 26° सेण्टीग्रेड एवं उत्तरी भाग की ओर 16° सेण्टीग्रेड के मध्य रहता है। दक्षिणी भाग में इसकी चौड़ाई मात्र 30 से 50 किमी. एवं उत्तरी भाग में यह बढ़कर 140 किमी. हो जाती है। 40° उत्तरी अक्षांश से यह तट से अधिक दूर एवं पूर्वी दिशा में मुड़ने के साथ यहीं पर न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट ठण्डी लैब्राडोर धारा के सीधे सम्पर्क में आती है।

इससे इसके तापमान में पर्याप्त गिरावट आती है। इन दोनों धाराओं के मिलने से यहाँ घना कोहरा भी उत्पन्न होता रहता है। इन्हीं अक्षांशों में पछुआ पवनें भी पूरब को धकेलती हैं।

अतः यह पूरब में तेजी से फैलकर चौड़ी होती जाती है एवं इसकी गति भी घटने लगती है। यहीं पर आगे चलकर इसे उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह के नाम से पुकारते हैं।

3. उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह (North Atlantic Currents)– 40° व 45° अक्षांशों से ही गल्फस्ट्रीम की गति कम होने लगती है एवं उसकी गति धीमी पड़ने के साथ–साथ उसकी चौड़ाई भी बढ़ जाती है। यहाँ इसकी दिशा बदलकर पछुआ हवाओं के अनुसार पूरब–उत्तर पूरब में हो जाती है। यहीं से इसे **उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह** कहते हैं। इसकी दिशा एवं अवाह मार्ग पर मध्य अटलाण्टिक श्रेणी (महासागरीय तली की श्रेणी) का भी प्रभाव पड़ता है। यह धारा आगे चलकर तीन शाखाओं में बँट जाती है। पश्चिमी शाखा आइसलैण्ड से पश्चिम व पूर्वी ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी तट के निकट की ठण्डी धारा से टकराकर समाप्त हो जाती है। मुख्य शाखा ब्रिटेन व पश्चिमी यूरोपीय तट से होती हुई नार्वे की ओर गई है। यहाँ इसे **नार्वे की गर्म** धारा कहते हैं। इसी की दक्षिणवर्ती शाखा जिसे कि **पछुआ पवन प्रवाह** (West Wind Drift) कहते हैं, पश्चिमी यूरोपीय तट के निकट बहती हुई स्पेन के तट के पास से दक्षिण की ओर तट के सहारे बहने लगती है। यह धारा यहाँ ठण्डे सागरों से पुनः गर्म सागर की ओर बहने लगती है। अतः यह **किनारी की ठण्डी** धारा कहलाती है। यहाँ पर स्थल से जल की ओर व्यापारिक पवनें चलने से सागर के नीचे का ठण्डा जल भी सतह पर आकर इसकी ठण्डक को बढ़ा देता है। अन्ततः यह पानी पुनः उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा में मिल जाता है।

सारगैसो सागर (Sargaso Sea)– उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में 29° से 40° उत्तरी अक्षांश एवं 33° से 75° पश्चिमी देशान्तरों के मध्य जल का एक बड़ा शान्त क्षेत्र है। इसका नामकरण यहाँ पायी जाने वाली मारगोसा नामक घास के आधार पर हुआ। सारगोसा पुर्तगाली भाषा के सारगोसम से लिया गया है जिसका अर्थ सागरीय घास होता है। इस सागर के जल में अटलाण्टिक महासागर की सर्वाधिक लवणता पायी जाती है। यहाँ जड़रहित सागरीय घासें बहुतायत से मिलती हैं, इससे सागरीय यातायात में बाधा उत्पन्न होती है।

4. लेब्राडोर की धारा (Currents of Labrador)– ग्रीनलैण्ड के दोनों तटों व लेब्राडोर तट से दक्षिणी भाग की ओर इसी नाम से ठण्डे पानी की धारा बहने लगती है। इसी तरह बेफिन की खाड़ी से बर्फीला पानी लेब्राडोर के तट से

टिप्पणी

होकर दक्षिण की ओर बहता है। अतः यहाँ की इस सम्पूर्ण बर्फीली जलधारा को **लेब्राडोर की ठण्डी धारा** कहते हैं। इसमें हिम शिलाएँ भी होती हैं। इस धारा का ठण्डा पानी सेण्ट लॉरेन्स की खाड़ी एवं वहाँ से पूर्वी तट के सहारे 35° उत्तरी अक्षांश तक फैल जाता है, क्योंकि यहाँ गल्फस्ट्रीम तट से अधिक दूर होती जाती है। यहाँ गर्म एवं ठण्डी धाराएँ न्यूफाउण्डलैण्ड द्वीप के निकट मिलती है। इन दोनों के तापमान में बहुत अधिक अन्तर रहने से यहाँ कोहरा फैल जाता है। इसका नौ–परिवहन पर बहुत बुरा असर पड़ता है, क्योंकि घने कोहरे में बर्फ की शिलाएँ दिखाई नहीं देती और फिर उनका 90% हिस्सा पानी में डूबे रहने से भी उनका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। अतः यहाँ कई बार जहाज टकराकर डूब चुके हैं। यह प्रदेश विश्व का माना हुआ मछली पकड़ने का क्षेत्र (ग्राण्ड बैंक आदि भी यहीं है) भी बन गया है।

5.3.6 दक्षिणी अन्ध महासागर की धाराएँ (Southern Atlantic Ocean Currents)

1. दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय गर्म धारा (Southern Equatorial Warm Currents)– यह धारा मध्य अफ्रीका के तट से अन्ध महासागर में व्यापारिक हवाओं के प्रभाव से पूरब से पश्चिम दिशा में बहती है। आगे चलकर यह उत्तरी–पूर्वी ब्राजील के तट पर सेन रॉक–अन्तरीप से टकराकर दो शाखाओं में बँट जाती है। इसकी एक शाखा उत्तरी ब्राजील के तट से मैक्सिको की खाड़ी की ओर प्रवाहित होती हुई गल्फस्ट्रीम में मिल जाती है। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर **ब्राजील की गर्म धारा** के नाम से इस देश के पूर्वी तट पर दक्षिण–पश्चिमी दिशा में बहती है।

2. विपरीतगामी विषुवत्‌रेखीय धारा (Counter Equatorial Current)– जब अन्ध महासागर से उत्तरी व दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय धाराएँ पश्चिमी दिशा की ओर जल प्रवाहित करके ले जाती हैं, तो पूर्वी तट पर जल की कमी होने से वहाँ का तल घटने लगता है। इसी को पूरा करने के लिए उपयुक्त दोनों विषुवत्‌रेखीय धाराओं के बीच में जल सन्तुलन के लिए पश्चिम से पूरब की ओर अर्थात् उल्टी दिशा में बहने लगता है। अतः इसे विपरीतगामी विषुवत्‌रेखीय धारा कहते हैं। जब यह धारा गिनी के तट के निकट बहने लगती है, तो इसे **गिनी की धारा** भी कहते हैं। यह भी गर्म धारा है और विषुवत्‌रेखीय प्रदेश में ही बहती है।

3. ब्राजील की धारा (Brazil Current)– दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय धारा का जो दक्षिणी भाग पूर्वी ब्राजील के तट पर बहता। है, उसे ही ब्राजील की धारा कहते हैं। यह भी गर्म धारा है एवं लाप्लाटा के मुहाने तक बहती है। इसका प्रारम्भ में ही विभाजन हो जाने से यह अधिक प्रभावशाली नहीं है। इसी कारण, अर्जेण्टीना के उत्तरी तट पर जब यह ठण्डी फॉकलैण्ड धारा में मिलती है, तो घना कोहरा पैदा नहीं होता। दोनों के तापमान में भी विशेष अन्तर नहीं रहता। यहीं पर ब्राजील की धारा पछुआ पवनों के प्रभाव से पूरब की ओर बहने लगती है।

4. दक्षिणी अटलाण्टिक धारा (South Atlantic Current)– दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में पश्चिम से पूरब दिशा की ओर यह शीतोष्ण धारा बहती

है। अतः जब ब्राजील की धारा फॉकलैण्ड की धारा से टकराती है, तो वह भी पछुआ हवा के प्रभाव से इसी प्रवाह के साथ–साथ पूरब की ओर बहने लगती है। अतः इसे **'दक्षिणी अटलाण्टिक की धारा या पश्चिमी पवन प्रवाह कहते हैं।'** इसी के दक्षिणवर्ती भाग को **अण्टार्कटिक प्रवाह** भी कहते हैं। यह बहुत अधिक ठण्डी एवं तेज गति से बहने वाली धारा है। ठण्डी धारा के निकट बहने एवं अण्टार्कटिक प्रदेश निकट होने से यह धारा शीघ्र ठण्डी होने लगती है।

5. बेंगला की धारा (Bengula Current)– जब ब्राजील की गर्म धारा पछुआ हवाओं के प्रभाव से दक्षिणी अटलाण्टिक की गर्म धारा के नाम से बहने लगती है, तो ठण्डे पानी के सम्पर्क में आने व ध्रुवीय अक्षांशों की ओर बहने से इसका पानी शीघ्र शीतल होने लगता है। यही पानी पूरब में दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट से टकराकर पुनः उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगती है। चूँकि यह शीतल हुआ जल जब पुनः निम्न अक्षांशों या मकर रेखा के उष्ण प्रदेश में बहने लगता है, तो इसका प्रभाव ठण्डा या शीतल रहने से इसे **बेंगुला या अंगोला की ठण्डी धारा** कहते हैं, क्योंकि यहाँ यह अंगोला के तट के निकट दक्षिण से उत्तर की ओर के गर्म प्रदेशों में बहती है एवं यहाँ पर पवनें भी स्थल से जल की ओर चलती हैं, इससे भी तटीय सागरों का सतह से नीचे का ठण्डा पानी ऊपर आकर शीतल प्रभाव को बढ़ा देता है। आगे चलकर यही धारा कांगो के तट के निकट विषुवत्रेखीय धारा में मिल जाती है।

6. फॉकलैण्ड की धारा (Falkland Current)– दक्षिणी अमेरिका के सुदूर दक्षिणवर्ती तट से जल अण्टार्कटिक ठण्डी ड्रिफ्ट (प्रवाह) से टकराता है तो उसका एक भाग फॉकलैण्ड द्वीप के पूरब से उत्तर की ओर बहने लगता है। इसे ही फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा कहते हैं। यह धारा फॉकलैण्ड से उत्तर में अर्जेण्टीना की ओर पूर्वी तट के सहारे बहती है। इसी कारण वहाँ पेटागोनिया का अर्द्ध–शुष्क व ठण्डा प्रदेश पाया जाता है। यह धारा आगे चलकर लाप्लाटा के मुहाने से दक्षिण में बाहिया ब्लांका के निकट ब्राजील की गर्म धारा से टकराता है। यहाँ इसका ठण्डा पानी गर्म पानी से नीचे डूबता जाता है। यहीं से ब्राजील की गर्म धारा भी पछुआ पवनों के प्रभाव से पूर्वी दिशा की ओर निरन्तर बढ़ती जाती है। यहाँ ब्राजील की गर्म धारा भी कमजोर होती है एवं **फॉकलैण्ड** की धारा भी विशेष बर्फीली नहीं रहती। इसलिए इन दोनों के मिलने से यहाँ कोहरा नहीं उठता, न ही नौपरिवहन में कोई स्थानीय बाधा आती है।

7. अण्टार्कटिक प्रवाह (Atlantic Flow)– दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में दक्षिणी अटलाण्टिक धारा या पछुआ प्रवाह से दक्षिणवर्ती भाग में पछुआ हवाओं के सहारे बर्फीला पानी बहता है। यह 50^o से 60^o अक्षांशों के मध्य अण्टार्कटिका की हिम शिलाओं के प्रभाव से विशेष ठण्डा बना रहता है। फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा यहीं से टेराडेल फ्यूगो के निकट से उत्तर की ओर बहती है। इस धारा के मार्ग में पूरब की ओर बहते हुए बाधा नहीं रहने एवं दहाड़ता पचासा नामक तूफानी पछुआ पवनों के प्रदेश में बहने से इस प्रवाह की गति अधिक तेज बनी रहती है।

टिप्पणी

5.3.7 प्रशान्त महासागर की धाराएँ (Pacific Oceanic Currents)

यद्यपि प्रशान्त महासागर सबसे विशाल है, फिर भी, यहाँ पर अटलाण्टिक महासागर की भाँति उत्तरी एवं दक्षिणी भागों में स्पष्टतः दो विशेष धारा व्यवस्था स्थापित होती हैं। अतः यहाँ भी इसी व्यवस्था के आधार पर भिन्न धाराओं का वर्णन किया गया है।

उत्तरी प्रशान्त महासागर की धाराएँ (North Pacific Ocean Currents)

1. उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा (North Equatorial Currents)– यह गर्म धारा विषुवत् रेखा के निकट से पूर्वी प्रशान्त महासागर में मध्य अमेरिकी तट से प्रारम्भ होती है, शीघ्र ही इससे कैलिफोर्निया की धारा का भी पानी मिलता जाता है। यह गर्म धारा सम्पूर्ण प्रशान्त महासागर को पार कर पूर्वी द्वीप समूह से उत्तर में फिलीपीन्स तट के निकट पहुँचती है। यहाँ से दो भागों में बँट जाती है। मुख्य भाग उत्तर की ओर एवं दक्षिणी भाग इण्डोनेशिया की ओर मुड़कर बहने लगता है। उत्तरी भाग ही क्यूरोसिवो की गर्म धारा का प्रधान अंग है, जो कि फारमोसा में इसी नाम से पुकारा जाता है। दक्षिणवर्ती भाग इण्डोनेशिया के द्वीपों से टकराकर पुनः पूरब की ओर मुड़कर बहने लगता है। इस विषुवत्रेखीय धारा की दिशा एवं मार्ग में मौसम के अनुसार 5^{o} उत्तर से 10^{o} उत्तर अक्षांश के बीच परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि ग्रीष्मकाल में यह धारा कुछ अधिक उत्तर की ओर बहने लगती है। मध्य प्रशान्त के द्वीपों में भी इसका पानी फैलता जाता है।

2. क्यूरोसिवो की धारा (Kuroshio Currents)– जब उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा फिलीपीन्स के द्वीपों के निकट व्यापारिक पवनों के क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो यह एशिया महाद्वीप के तट के सहारे–सहारे उत्तर की ओर मुड़ जाती है। इसी समय कालीमन्तन एवं वियतनाम के मध्य के दक्षिणी चीन सागर की ओर से भी इस धारा में गर्म पानी आकर मिलता है। दक्षिणी चीन सागर में यह पानी दक्षिणी प्रशान्त की दक्षिणी विषुवत्रेखीय धारा का पानी उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के तट से होकर इण्डोनेशिया की ओर बहता हुआ सुमात्रा द्वीप एवं मलय प्रायद्वीप से टकराकर एवं उत्तर की ओर मुड़कर चीन सागर में प्रवेश करता है। इस प्रकार 20^{o} से 25^{o} अक्षांशों के मध्य यह धारा पर्याप्त प्रभावशाली धारा के रूप में उत्तर–पूरब उत्तर दिशा में चापाकार मार्ग में प्रायः उत्तर की ओर बहने लगती है। यहाँ से इसे **क्यूरोसिवो की धारा** कहते हैं। जापान तट से टकराने से पूर्व इस धारा का एक भाग पूर्वी चीन सागर से पीले सागर में प्रवेश कर वहाँ से कोरिया तट से पुनः जापान सागर में अतिरिक्त गर्म पानी के साथ कोरिया जल संयोजक की ओर से प्रवेश करता है। यहाँ इसे सुशीमा की धारा कहते हैं। यह धारा पश्चिमी जापान से सखालिन द्वीप के पश्चिमी भाग तक प्रभावी रहती है। मुख्य क्यूरोसिवो की धारा दक्षिणी जापान एवं होंशू द्वीप के तट पर बहती हुई 38^{oo} उत्तरी अक्षांश के पश्चात् पछुआ हवाओं के प्रभाव से धीरे–धीरे पूरब की ओर मुड़कर मुख्य उत्तरी प्रशान्त महासागर में बहने लगती है। होकैडो तट के निकट इस गर्म धारा से क्यूराइल नामक ठण्डी धारा आकर मिलती है। इस प्रकार, सुशीमा एवं क्यूरोसिवो का उत्तरी एवं क्यूराइल धारा के मिलने से होकैडो के दोनों ओर हल्का कोहरा पैदा

होता है। **क्यूरोसिवो धारा** का मार्ग प्रभाव उत्तरी चीन सागर के तट, कोरिया तट एवं सम्पूर्ण जापान सागर के तटों के लिए एवं पूर्वी जापान के तट को विशेष उष्ण बनाकर यहाँ के निवासियों की कार्यक्षमता में निरन्तर वृद्धि करता रहता है। यह धारा 15° उत्तरी अक्षांश से 35° उत्तरी अक्षांशों के मध्य विशेष प्रभावकारी एवं गल्फस्ट्रीम के समान ही शक्तिशाली बनी रहती है। अतः इसे **क्यूरोसिवो स्ट्रीम** भी कहा जाता है।

3. उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह (North Pacific Ocean Flow)– जब पछुआ हवाओं के प्रभाव से क्यूरोसिवो धारा का पानी पूरब की ओर मुड़कर उत्तरी प्रशान्त महासागर में बहने लगता है, तो वह अधिक चौड़ाई में फैल जाता है। अतः इसकी गति एवं शक्ति दोनों में ही कमी आने लगती है।

यहीं इसे '**उत्तरी प्रशान्त प्रवाह**' कहते हैं 150° पूर्वी देशान्तर से 140° पश्चिमी देशान्तर तक (70° देशान्तर दूरी में) यह प्रवाह पूरब दिशा की ओर होता है। 140° पश्चिमी देशान्तर के निकट यह प्रवाह दो भागों में बँट जाता है। इसकी भौतिक दशाओं एवं गर्म जल की गहराई, आदि में भी तब काफी परिवर्तन आता जाता है। इसकी एक छोटी धारा उत्तर की ओर मुड़कर अलास्का तट के सहारे

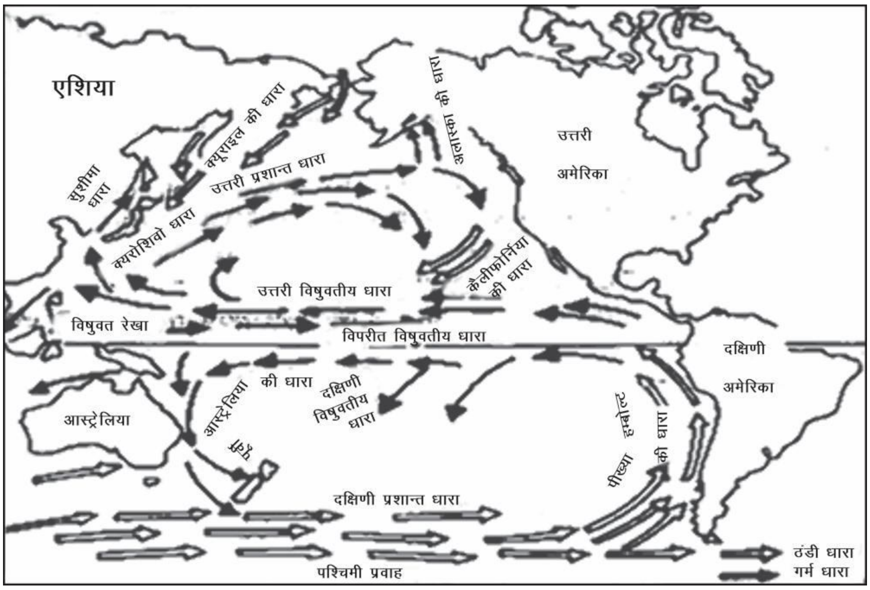

चित्र क्र. 5.8: प्रशान्त महासागर की धाराएँ

बहती हुई एक अण्डाकार मार्ग बनाकर पुनः इसी प्रवाह में 160° पश्चिमी देशान्तर के आस–पास मिल जाती है। इसे **अलास्का की गर्म धारा** कहते हैं। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण अलास्का तट पर हल्का गर्म प्रवाह रहता है। उत्तरी प्रशान्त प्रवाह का अधिकांश पानी वेंकूवर के निकट से दक्षिण की ओर बहने लगता है। इसी समय अलास्का के तट की ओर से भी इसमें पानी आकर मिल जाता है। यह सम्पूर्ण जलधारा पश्चिमी संयुक्त राज्य के तट की ओर शीतल धारा के रूप में **कैलीफोर्निया की ठण्डी धारा** के नाम से पुकारी जाती है।

टिप्पणी

4. कैलीफोर्निया की धारा (California Currents)– यह ठण्डी धारा प्रशान्त महासागर के उत्तरी भागों से दक्षिण की ओर अर्थात् ठण्डे सागरों से उष्ण सागर एवं कर्क रेखा की ओर बहती है। अतः इसमें सुदूर उत्तरी अक्षांशों का शीतल जल यहाँ के लिए ठण्डा बन जाता है। इसी कारण, पश्चिमी संयुक्त राज्य के तट पर 35° उत्तरी अक्षांश से 20° उत्तरी अक्षांशों के मध्य यह कैलीफोर्निया की ठण्डी धारा के नाम से पुकारी जाती है। इस धारा का अधिकांश भाग संयुक्त राज्य के कैलीफोर्निया के तट एवं मैक्सिको के कैलीफोर्निया प्रायद्वीप के तट पर बहता हुआ 20° अक्षांश से दक्षिण में पुनः व्यापारिक पवनों के प्रभाव से पश्चिम की ओर मुड़कर उत्तरी विषुवत् रेखा की गर्म धारा में मिल जाती है। यहाँ यह पुनः उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा के गुण ग्रहण कर लेती है। कैलीफोर्निया के तट पर स्थलीय व्यापारिक पवनें चलने से एवं नमी के अभाव में सागर जल शीतल बना रहता है। यहाँ सागर का नीचे का ठण्डा पानी भी ऊपर की ओर आकर मिलता रहता है। इससे भी यह धारा अधिक ठण्डी रहती है।

5. क्यूराइल की धारा (Kurile Current or Oyashio Current)– यह ठण्डी जलधारा ध्रुवीय पवनों के कारण दक्षिण–पश्चिम दिशा में बेरिंग सागर, कमचटका प्रायद्वीप एवं ओखोटस्कं सागरों के तटीय भाग व क्यूराइल द्वीप समूह के चारों ओर बहती हुई दक्षिण में सखालिन व होकैडो तक अपना शीतल प्रभाव तटवर्ती सागरों में बनाये रखती है। यहाँ पर इसे **आयोसीवो की धारा** कहते हैं। क्यूराइल द्वीप एवं सखालिन के मध्य पानी फैल जाने के कारण इसका कठोर व ठण्डाई प्रभाव घटने लगता है। यहाँ पर 45° उत्तरी अक्षांश के निकट यह होकैडो एवं उत्तरी जापान में क्यूरोसिवो की मुख्य धारा एवं सुशीमा की धारा से टकराती है। यद्यपि क्यूराइल की धारा में बर्फ की शिला नहीं होती, न ही पानी भी पूरी तरह बर्फीला रहता है, फिर भी क्यूरोसिवो के गर्म प्रभाव के कारण यहाँ सामान्य कोहरे की दशा पाई जाती है। यह प्रदेश वर्तमान में विश्व के प्रमुख मत्स्य पकड़ने एवं मत्स्य–फार्मिंग प्रदेशों में से है। क्यूराइल की धारा बेरिंग जल सन्धि से प्रारम्भ होने से इसे **बेरिंग की ठण्डी धारा** एवं बाद में ओखोटस्क सागर से बहने से रूसी इसे **ओखोटस्क की ठण्डी धारा** के नाम से पुकारते रहे हैं।

5.3.8 दक्षिण प्रशान्त महासागर की धाराएँ (South Pacific Ocean Currents)

दक्षिणी प्रशान्त महासागर की चौड़ाई बहुत बढ़ जाने एवं पश्चिम में बिखरे हुए स्थल खण्ड व मार्ग में द्वीपों की श्रृंखला मिलने से यहाँ की चक्रीय व्यवस्था में बाधाएँ आती रही हैं। यहाँ की मुख्य गर्म व ठण्डी धाराएँ निम्नलिखित हैं–

1. दक्षिणी विषुवत्रेखीय धारा (South Equatorial Currents)– उत्तरी पेरू एवं इक्वेडोर के तट से गर्म पानी पश्चिमवर्ती दिशा में बहने, साथ ही 120° पश्चिमी देशान्तर के अनेक स्थानों पर यह बीच–बीच में दक्षिणवर्ती मार्ग ग्रहण करता जाता है। सम्भवतः इसका कारण मार्ग में पड़ने वाली द्वीपों की श्रृंखला है, क्योंकि इनसे टकराकर पानी विशाल एवं विशेष चौड़े प्रशान्त महासागर के इस भाग में बार–बार दक्षिणवर्ती मार्ग ग्रहण कर लेता है। ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी व उत्तरवर्ती

टिप्पणी

प्रायद्वीप के निकट यह गर्म धारा दो शाखाओं में बँट जाती है। उत्तरवर्ती शाखा इण्डोनेशिया सागर एवं मुण्डा चबूतरे पर बहती हुई सुमात्रा द्वीप से पुनः उत्तर की ओर मुड़कर क्यूरोसिवो धारा की ओर बहने लगती है एवं फिलीपीन्स के तट के निकट यह धारा उत्तरवर्ती क्यूरोसिवो में मिल जाती है। दक्षिणवर्ती शाखा ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के सहारे पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की गर्म धारा के नाम से बहने लगती है। इस प्रकार दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय गर्म धारा कमजोर व छिछली धारा है।

2. प्रतिगामी विषुवत्‌रेखीय या एल-निनो की धारा (Counter Equatorial or El-Nino Currents)– जब उत्तरी व दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय धाराएँ पश्चिम में पूर्वी द्वीप समूह के निकट पहुँचती हैं, तो न्यूगिनी एवं फिलीपीन्स द्वीपसमूह के मध्य पानी का एक भाग दोनों धाराओं के मध्य से पूरब की ओर बहने लगता है जिससे कि पूर्वी प्रशान्त के विषुवत्‌रेखीय तट पर पानी में आने वाली कमी को दूर कर पुनः जल तल में सन्तुलन बनाये रखा जा सके। इसी भाँति, इक्वेडोर से पीरू के तट के मध्य भी यही धारा पुनः उत्तर–दक्षिण दिशा में बहने लगती है। दिसम्बर में जब पवनों की पेटियाँ दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर खिसकती हैं, तब यह गर्म धारा मध्यवर्ती पीरू की ठण्डी धारा को दक्षिण की ओर धकेल देती है। इससे पीरू का तट वहाँ की ग्रीष्म ऋतु में अधिक गर्म व शुष्क पवनों के प्रभाव में आ जाता है। इसका मछली संसाधन पर विशेष बुरा प्रभाव पड़ता है। स्थानीय विशेष स्थिति के कारण कई बार उत्तरी पीरू एवं इक्वेडोर तट के निकट पानी चक्राकार घूमकर भी बहने लगता है। ऐसा विशेष स्थानीय दशा में ही हो पाता है। अतः पूर्वी भाग में इसे हो **एल-निनो की गर्म धारा** भी कहते हैं।

3. पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की धारा (East Australia Currents)– दक्षिणी विषुवत्‌रेखीय धारा के पानी का एक भाग 160° पूर्वी देशान्तर के निकट दक्षिणवर्ती मार्ग लेकर पूर्वी ऑस्ट्रेलिया के तट के निकट बहने लगता है। यहाँ पर न्यूसाउथ–वेल्स प्रान्त के तट पर अर्थात् 30° दक्षिण अक्षांश के निकट स्थानीय कारणों से और भी गर्म पानी का प्रवाह आकर इस धारा में मिल जाता है। अतः विक्टोरिया एवं टस्मानिया के पूर्वी तट पर यह गर्म धारा पर्याप्त प्रभाव 40° एवं 45° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य इसका पानी पछुआ हवाओं के प्रभाव से पूर्वी भाग में मिलता है। यही गर्म पानी न्यूजीलैण्ड तट के चारों ओर विशेष मार्ग ग्रहण कर बहता है। इसके प्रभाव से उत्तरी न्यूजीलैण्ड के द्वीप के तापमान विशेष उत्साहवर्धक एवं दक्षिणी द्वीप का पूर्वी भाग अपेक्षतया उष्ण बना रहता है।

4. दक्षिणवर्ती पछुआ पवन प्रवाह (Southern Westerlies Wind Flow)– पूर्वी ऑस्ट्रेलिया की जो धारा टस्मानिया के पूरब से पूर्ववर्ती भाग में बहने लगती है, वह सर्वप्रथम न्यूजीलैण्ड के दक्षिणवर्ती द्वीप से टकराकर दो भागों में बँट जाती है। एक शाखा पश्चिमी न्यूजीलैण्ड के तट पर एवं दूसरी पूर्वी न्यूजीलैण्ड के तट की ओर बहती है। उत्तर की ओर मुड़ने वाली शाखा भी आकलैण्ड प्रायद्वीप (उत्तरी द्वीप) का चक्कर लगाकर पुनः दक्षिण–पूरब में मुड़कर मुख्य पछुआ पवन प्रवाह धारा में मिलकर 45° से 60° दक्षिणी अक्षांश के मध्य पूरब दिशा में बहने लगती है। यहीं यह विशेष ठण्डी दक्षिणवर्ती अण्टार्कटिका धारा या दक्षिणी प्रशान्त प्रवाह में घुल–मिलकर ठण्डी धारा के रूप में बहने लगती है।

टिप्पणी

5. पीरू या हम्बोल्ट की धारा (Peru or Humbolt Current)– यह ठण्डी धारा प्रारम्भ में उत्तरी अण्टार्कटिका प्रवाह के एक भाग के रूप में दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम में दक्षिणवर्ती पीरू एवं उत्तरी चिली के तट के निकट उत्तर में मुड़ने से प्रारम्भं होती है। प्रारम्भ में यह धारा अधिक ठण्डी होती है, किन्तु यह शक्तिशाली न रहकर छिछली व अपेक्षतया कमजोर रहती है। मध्यवर्ती पीरू के निकट पूर्वी प्रशान्त की ओर से इस धारा में दक्षिणी विषुवत्रेखीय धारा की ऊपर वर्णित मध्यवर्ती प्रशान्त की ओर जो पानी दक्षिण दिशा में घूम जाता है, वही पुनः पछुआ पवनों के प्रभाव से 35° से 40° दक्षिणी अक्षांश के मध्य पूरब की ओर बहता हुआ शीतोष्ण जल के रूप में मध्य चिली के तट पर इस धारा में मिल जाता है। यहाँ से यह धारा शीतोष्ण प्रदेशों से उष्ण प्रदेशों की ओर बह रही होती है, अतः यह ठण्डी धारा या शीतल जल वाली धारा कहलाती है। इसका सर्वप्रथम प्रामाणिक वर्णन महान् भूगोलवेत्ता हम्बोल्ट ने किया, अतः इसे **पीरू या हम्बोल्ट की ठण्डी धारा** कहते हैं। इस धारा में अतिरिक्त जल मिलने से अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावकारी तो बनी रहती है, किन्तु इसमें दक्षिणी विषुवत्रेखा का गर्म पानी मध्यवर्ती प्रशान्त से ही पुनः पूरब की ओर घूमकर पीरू के तट पर मिलकर इसे शीतोष्ण बना देता है। इसी कारण उत्तरी चिली से मध्यवर्ती पीरू तट तक के तटीय प्रदेशों में अटाकामा मरुस्थल पाया जाता है।

6. दक्षिणी प्रशान्त या अण्टार्कटिका प्रवाह (Southern Pacific or Antarctica Current) – यद्यपि यह जल प्रवाह दक्षिणवर्ती अक्षांशों में पश्चिम से पूरब दिशा की ओर ही बहता है, किन्तु अपने से ठीक उत्तरवर्ती भाग के पछुआ पवन प्रवाह से विपरीत गुण वाला एवं विशेष ठण्डा रहता है। इसका कारण अण्टार्कटिका महाद्वीप की ओर से बहकर आने वाले विशाल हिम शिलाखण्डों का प्रभाव है। अतः यह अधिक ठण्डा एवं दक्षिणी भाग की ओर 60° दक्षिण अक्षांश से अण्टार्कटिक तट के मध्य तक विशेष रूप से बर्फीला रहता है। शीतकाल में यह भाग बर्फ से जम जाता है। इस प्रकार दक्षिणी प्रशान्त महासागर में वृहद् पैमाने पर किन्तु जटिल व्यवस्था वाली चक्रीय जल प्रवाह की विशेष संशोधित स्थिति पाई जाती है। इन धाराओं का इसी कारण तटीय भागों पर प्रभाव सीमित ही बना रहता है।

5.3.9 हिन्द महासागर की धाराएँ (Indian Ocean Currents)

जहाँ अटलाण्टिक एवं प्रशान्त महासागर दोनों गोलार्द्धों में ध्रुवीय वृत्तों के उस पार तक फैले हैं, वहीं हिन्द महासागर का विस्तार सम्पूर्ण दक्षिणी गोलार्द्ध में तो है, किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में यह अर्द्धोष्ण कटिबन्ध या कर्क रेखा तक ही फैला है। फिर भारतीय उपमहाद्वीप की विशेष विकसित मानसून प्रणाली का भी उत्तरी हिन्द महासागर की धारा व्यवस्था पर पूरा प्रभाव पड़ता है। अतः उत्तरी हिन्द महासागर में धारा प्रणाली दक्षिणी हिन्द महासागर से पूर्णतः भिन्न है। यह व्यवस्था मानसून प्रणाली से प्रभावित रहने से **मानसून प्रवाह** (मानसून ड्रिफ्ट) कहलाती है।

उत्तरी हिन्द महासागर की मानसून प्रवाह व्यवस्था– उत्तरी हिन्द महासागर में मानसूनी पवनों की दिशा धाराओं की दिशा को भी निर्धारित करती है–

टिप्पणी

1. शीतकालीन मानसून प्रवाह (Winter Monsoon Current)– शीत ऋतु में मानसूनी पवनों की दिशा उत्तर–पूर्वी व्यापारिक पवनों की दिशा में ही रहती है। इसी के प्रभाव से भारतीय उपमहाद्वीप के तट पर पूरब से पश्चिमी भाग की ओर धारा बहती है। यह धारा बंगाल की खाड़ी से प्रारम्भ होकर दक्षिणी प्रायद्वीप एवं अरब प्रायद्वीप के निकट बहती हुई सोमालिया के तट के निकट दक्षिण में मुड़कर विषुवत् रेखा की ओर मुड़ जाती है। इससे पानी का प्रवाह विपरीत दिशा में पश्चिम से पूरब की ओर बहता हुआ सुमात्रा के तट से पुनः उत्तर में मुड़कर चक्र पूरा करता है

इस प्रकार, शीतकाल में उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा नहीं चलती, जबकि **विपरीतगामी विषुवत्रेखीय धारा** प्रभावशाली ढंग से चलती है। इस ऋतु में उत्तर–पूर्वी मानसूनी पवनें धीमी गति से चलती हैं। अतः इस ऋतु का मानसून प्रवाह भी मन्द गति से बहता है।

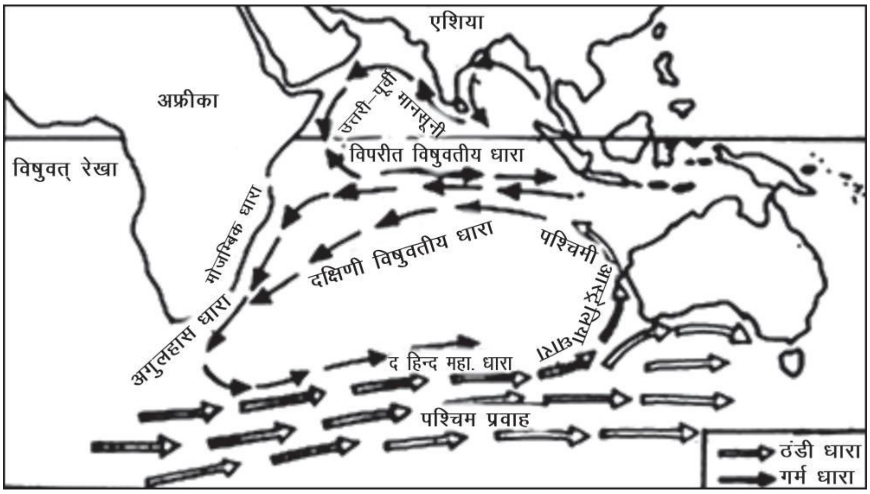

चित्र क्र. 5.9: हिन्द महासागर की धाराएँ (शीत ऋतु)

2. ग्रीष्मकालीन मानसून प्रवाह (Summer Monsoon Current)– ग्रीष्मकाल में दक्षिणी–पश्चिमी मानसूनी पवनें उत्तरी हिन्द महासागर में तेज गति से बहती हैं। इस समय सोमालिया एवं सऊदी अरब के तट की ओर से सागर का जल भी प्रायद्वीपीय भारतीय तट के सहारे–सहारे पश्चिम से पूरब की ओर प्रवाह के रूप में बहता हुआ बांग्ला देश व म्यांमार तट से होकर सुमात्रा की ओर बहने लगता है। यहीं से यह प्रवाह विषुवत् रेखा के सहारे पुनः पूरब से पश्चिम दिशा की ओर बहकर सोमालिया के तट तक एक धारा के रूप में बहता है। इस प्रकार ग्रीष्म काल में **उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा** की दिशा में ही यह प्रवाह विषुवत्रेखा के निकट बहता है। अतः इस समय विपरीतगामी विषुवत्रेखीय धारा विकसित नहीं हो पाती। इसी कारण, यह व्यवस्था पूर्णतः विकसित मानसूनी प्रवाह व्यवस्था पर ही आधारित है।

टिप्पणी

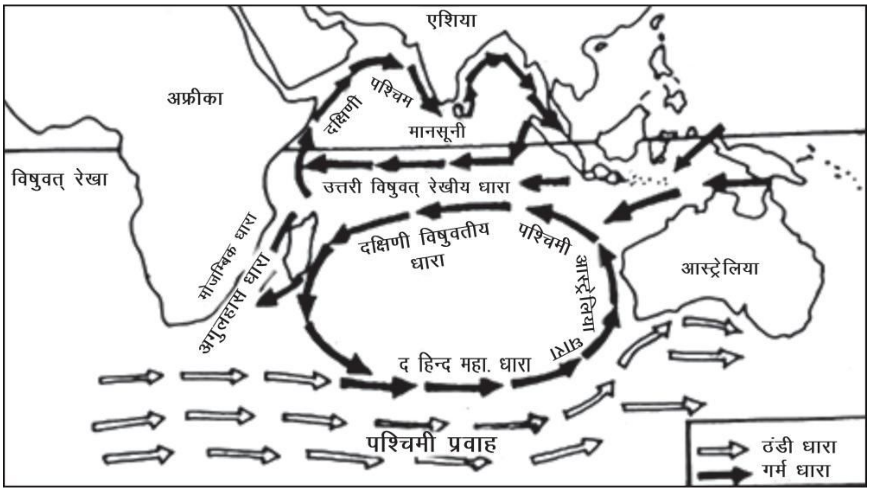

चित्र क्र. 5.10: हिन्द महासागर की धाराएँ (ग्रीष्म ऋतु)

ग्रीष्मकाल में दक्षिण–पूर्वी मानसून जून से अक्टूबर के प्रारम्भ तक प्रभावी रहता है एवं इस ऋतु में पवनें भी शक्तिशाली रहती हैं, अतः इस मौसम का मानसून प्रवाह अधिक प्रभावी रहता है। यह एक प्रकार से नियमित धारा की भाँति गतिशील बना रहता है।

5.3.10 दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएँ (South Indian Ocean Current)

दक्षिणी हिन्द महासागर की प्रमुख धाराएँ निम्नलिखित हैं–

1. उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा (North Equatorial Current)– पूर्वी द्वीप समूह की ओर से महासागरीय जल विषुवत्रेखा से दक्षिण में मन्द गति से पूरब से पश्चिम की ओर बहता है। यह पानी 10° दक्षिणी अक्षांश के आस–पास बहता हुआ ओबाम्बिक तट व मैडागास्कर द्वीप के निकट दो भागों में बँटकर दक्षिण की ओर मुड़ जाता है। यह गर्मधारा है।

2. मैडागास्कर की धारा (Madagascar Current)– मैडागास्कर के उत्तरी तट से टकराकर उत्तरी विषुवत्रेखीय धारा (गर्म) का एक भाग इस द्वीप के पूर्वी तट के सहारे उत्तर से दक्षिण की ओर धीमी गति से बहता है। कम पानी व धीमी गति के कारण यह धारा विशेष प्रभावशाली नहीं हो पाती।

3. मोजाम्बिक या मैलागासी की धारा (Mozambique or Malagasy Current)– मैडागास्कर द्वीप या मालागासी देश एवं मोजाम्बिक दोनों के मध्य के सँकरे मार्ग से होकर उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा का अधिकांश पानी मुख्य अफ्रीका महाद्वीप के तट की ओर दक्षिण दिशा में बहता है। इस प्रकार यह धारा मोजाम्बिक जलमार्ग से होकर बहती है। सँकरे जल मार्ग से बहने एवं पानी की अधिकता के कारण यह धारा शक्तिशाली रहती है एवं इस जलमार्ग की निरन्तर सफाई होती रहती है। जब यह धारा इस जल मार्ग से बाहर निकलती है, तो यह मैलागासी या मैडागास्कर द्वीप की पूर्वी तटीय धारा से आकर मिल जाती है। इसी समय दक्षिणी अफ्रीकी तट की ओर अगुल्हास की धारा भी दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हुई

इससे आकर मिलती है। अतः इस सम्मिलित प्रभाव से अर्थात् सनातनी पछुआ हवाओं के प्रभाव से इसका पानी पूरब की ओर बहने लगता है।

4. अगुल्हास की गर्म धारा (Agulhas Warm Current)– जब मोजाम्बिक एवं मैडागास्कर धाराएँ आपस में मिल जाती हैं, तो यह शक्तिशाली **अगुल्हास की धारा** कहलाती है। यह धारा दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट पर बहती हुई अगुल्हास अन्तरीप के निकट दक्षिणी गोलार्द्ध की पछुआ प्रवाह के सम्पर्क में आकर शीतोष्ण धारा बनने लगती है। इसके साथ ही, इसकी दिशाएँ भी तेजी से दक्षिण–पश्चिम से बदलकर पूरब की ओर बदलती जाती हैं। यह धारा दक्षिणी अफ्रीकी तट के लिए विशेष लाभकारी रही है, क्योंकि इसमें मैडागास्कर एवं मोजाम्बिक की धाराओं का गर्म पानी भी मिलता रहता है।

5. दक्षिण हिन्द महासागरीय प्रवाह (South Indian Ocean Current)– मोजाम्बिक व अगुल्हास की धारा पछुआ पवनों के प्रभाव से तेजी से पूरब की ओर मुड़कर बहने लगती है, तो दक्षिणी हिन्द महासागर के शीतल जल के सम्पर्क में आने के कारण यह धारा कम गर्म (शीतोष्ण) हो जाती है। अतः यह उत्तरी अटलाण्टिक या उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह या धाराओं की भाँति गर्म नहीं रहती। अतः दक्षिणी हिन्द महासागर की धारा जब महासागर पार कर पूरब में ऑस्ट्रेलिया के पश्चिम तट से टकराकर उत्तर में बहने लगती है, तो विशेष ठण्डी रहती है।

6. पश्चिमी ठण्डा प्रवाह (Western Cold Current)– दक्षिणी हिन्द महासागर में 50° दक्षिणी अक्षांश से दक्षिणी ध्रुवीय वृत्त के मध्य गुजरती हुई तूफानी गति से पछुआ पवनें चलती हैं। इन क्षेत्रों में इसी कारण महासागरीय जल भी तेज गति से या निर्बाध गति से सम्पूर्ण दक्षिणी हिन्द महासागर में पश्चिम से पूरब की ओर प्रवाह या धारा के रूप में बहता रहता है। यह धारा निरन्तर बर्फीले अण्टार्कटिका महाद्वीप की हिम–चट्टानों से एवं बर्फीली पूर्वी ध्रुवीय पवनों के प्रभाव से विशेष ठण्डी बनी रहती है। यह सागर सर्दियों में तो 2 से 4 माह तक प्रायः हिम–मण्डित रहता है, तब यहाँ बर्फीले तूफान कई–कई दिन तक चलते रहते हैं। इस बर्फीले जल वाले धारा प्रवाह को ही पश्चिमी ठण्डा प्रवाह कहते हैं। यह प्रवाह पूरब में प्रशान्त महासागर से एवं पश्चिम में अटलाण्टिक महासागर से जुड़ा हुआ है।

7. पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया की धारा (Western Australian Current)– जब दक्षिणी हिन्द महासागर का शीतोष्ण जल पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के दक्षिणी तट से टकराकर पुनः उत्तर में विषुवत्‌रेखीय अक्षांशों की ओर बहने लगता है, तब यह पानी ठण्डे प्रदेशों से उष्ण प्रदेशों की ओर बहने से शीतल प्रभाव वाला हो जाता है। यही नहीं, इन अयनवृत्तीय प्रदेशों में पृथ्वी के अन्य भागों की भाँति स्थल खण्डों के पश्चिमी भागों में भूमि से पानी की ओर पवनें चलने से तटीय भागों के निकट नीचे का शीतल जल ऊपर सतह पर आने लगता है। इन्हीं सब कारणों से पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के तटीय भाग के सागर में दक्षिण से उत्तर की ओर ठण्डी धारा बहती है। यह धारा व्यापारिक पवनों के प्रभाव से पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी तट पर पश्चिमी भाग की ओर मुड़कर पुनः विषुवत्‌रेखीय धारा में मिल जाती है।

5.3.11 धाराओं का प्रभाव एवं महत्व (Effects and Important of Currents)

टिप्पणी

धाराओं का विशेष प्रभाव सभी प्रवाहित तटों पर पड़ता है। जब गर्म धारा उष्ण व अर्द्धोष्ण प्रदेशों के तटों पर बहती है, तो वह वहाँ पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर तटों को गर्म व असहनीय दशा वाला क्षेत्र बना देती है। इसी प्रकार जब शीत–शीतोष्ण तटों के निकट ठण्डी धारा बहती है, तो तट अधिक ठण्डे या कठोर जलवायु वाले बने रहते हैं। धाराओं का उत्तम प्रभाव शीतोष्ण प्रदेशों के तट पर गर्म धारा के बहने से पड़ता है। इसके अतिरिक्त, धाराएँ मानव जीवन, जलवायु, सागरों की वनस्पति एवं तटीय जैव–जगत, आदि को भी निम्नानुसार प्रभावित करती हैं–

1. कोहरे की उत्पत्ति (Formation of Mist)– जहाँ भी गर्म व ठण्डी धाराएँ मिलती हैं, वहाँ घना कोहरा पैदा होता है, जैसा कि गल्फस्ट्रीम एवं लेब्राडोर धारा के मिलने से उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका एवं दक्षिणी पूर्वी कनाडा के तट पर उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव जल यातायात में विशेष घातक बना रहता है, क्योंकि इस घने कोहरे के कारण जहाजों के हिम शिलाओं से अथवा आपस में टकराने का डर बना रहता है। जब गर्म व ठण्डी धारा के तापमान में सामान्य से थोड़ा अन्तर रहता है तो वहाँ छिछला कोहरा ही पैदा होता है। ऐसी दशा में, प्रातःकालीन कोहरे व नमी के प्रभाव से तटीय भागों के आस–पास सर्दियों में पाला नहीं पड़ पाता। जैसा कि ब्राजील की गर्म धारा एवं फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा मिलने से प्रदेश के निकट के तटीय भागों की ओर के पहाड़ी ढाल प्रायः पाले रहित रहते हैं।

2. मछली संसाधन पर प्रभाव (Effects on Fish Resources Current)– जब भी गर्म व ठण्डी धाराएँ मिलती हैं, तो वहाँ पर अधिक तेजी से वनस्पति एवं जीव प्लेंक्टन का विकास होता है। बदलते तापमान मछलियों एवं तटीय भागों की छिछले तट की सागरीय वनस्पति के विकास में विशेष सहायक रहते हैं। इससे समुद्री जीवों और मछलियों के लिए ऐसे क्षेत्रों में पर्याप्त भोजन श्रृंखला एवं भोजन जाल (Food Chain and Food Web) का विकास हो जाता है। इसी कारण यहाँ पर मछलियों की तेजी से वृद्धि होने लगती है। साथ ही, ठण्डे पानी की मछलियाँ गर्म धाराओं के मिलन क्षेत्रों में नदी के मुहाने के निकट अण्डे देने विशेष रूप से आती रहती हैं। इसी कारण उत्तरी अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों पर एवं जापान सागर व पूर्वी जापान तट पर मछलियों के **अक्षय भण्डार** पाये जाते हैं। ठण्डे जल की सामन मछलियाँ शीतोष्ण जल में अण्डे देने बड़ी संख्या में आती हैं और लौटते समय बड़े झुण्डों में मिलती एवं आसानी से पकड़ी जाती हैं।

3. तापमान पर प्रभाव (Effects on Temperature)– जब गर्म धारा शीतोष्ण सागरों व शीतोष्ण तट पर बहती है, तो वहाँ के तटीय सागर एवं तट के निकट के भू–भाग का तापमान सर्दियों में भी ऊँचा बना रहता है। ऐसे सागर तट उन्हीं अक्षांशों से अन्य सागरों व स्थल खण्डों की तुलना में गर्म रहते हैं एवं सागर सर्दियों में कम जमता है। पश्चिमी यूरोपीय तट न्यूजीलैण्ड के द्वीप एवं होंशू द्वीप सर्दियों में पर्याप्त उष्ण एवं उत्साह बढ़ाने वाली जलवायु वाले प्रदेश बने रहते हैं। पश्चिमी यूरोपीय तटवर्ती सागर तो वर्षभर गर्म धारा के प्रभाव से यातायात के लिए खुला रहता है, जबकि इन्हीं अक्षांशों में स्थित लेनिनग्राद, स्टॉकहोम,

ब्लाडीवोस्टक एवं हैकोडेट बन्दरगाह सर्दियों में कुछ सप्ताह तक बर्फ से जमे रहते हैं, क्योंकि यहाँ पर गर्म धाराओं का प्रभाव नहीं पहुँचता। ऐसी गर्म धारा के तटीय प्रदेशों के निवासी भी अधिक उत्साही एवं लम्बे समय तक काम करने पर भी कम थकने वाले होते हैं।

इसके विपरीत, उष्ण प्रदेशों में जिस तटीय भाग पर ठण्डी धारा बहती है, वहाँ उष्ण मरुस्थल पाये जाते हैं, क्योंकि ऐसे तट पर पवनें भूमि से समुद्र की ओर चलती हैं। अतः वह शुष्क होती हैं, ऐसी शुष्क पवनें जब सागर तल पर बहती हैं ,तो नमी ग्रहण कर लेती हैं, अतः इनके प्रभाव से कभी–कभी तट पर कोहरा भी फैल जाता है या जल समीर चलने पर कभी–कभी बूंदा–बाँदी भी हो सकती है। इससे इस शुष्क व उष्ण मरुभाग में मौसम थोड़े समय के लिए सुहावना बन सकता है। फिर भी, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह तो मात्र भू–चक्रीय वायु प्रवाह एवं जल प्रवाह का संयोग ही है कि ऐसी चक्रीय व्यवस्था स्थापित करते समय पछुआ पवनों एवं व्यापारिक पवनों के दिशा मार्गों से प्रभावित होकर सभी उष्ण मरुस्थलीय तटीय प्रदेशों पर ऐसी ठण्डी धाराएँ बहती हैं।

4. वायु में नमी व वर्षा पर प्रभाव (Humidity and Effects on Rainfall)– जब शीतोष्ण प्रदेशों में बहने वाली गर्म धाराओं वाले सागरों पर पछुआ पवनें बहती हैं, तो वे भी उष्ण रहकर अधिक मात्रा में नमी ग्रहण कर लेती हैं। ऐसी संतृप्त व उष्ण पवनें जब ठण्डी पवनों से या पहाड़ी भाग से टकराकर ऊपर उठती हैं या चक्रवातीय रचना करती हैं, तो वहाँ सर्वत्र अच्छी वर्षा हो जाती है। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी तट, अलास्का व कनाडा के पश्चिमी तट पर 200 से 400 सेमी. वर्षा का होना एवं पश्चिमी यूरोपीय तटीय प्रदेशों में 80 से 200 सेमी. वर्षा का होना, इसी कारण सम्भव हो पाया है। इसके विपरीत, ठण्डी धाराओं के कारण तटीय प्रदेश शुष्क बने रहते हैं, क्योंकि यहाँ पवनें भूमि से सागर की ओर चलती हैं।

5. परिवहन एवं व्यापार पर प्रभाव (Effects on Transport and Trade)– आधुनिक युग के यन्त्रों से चलने वाले जलयानों के विकास से पहले मध्य युग में पालदार जहाजों को समुद्री परिवहन में ऐसी धाराओं से विशेष सहायता मिलती थी। अरब सागर की मानसूनी पवनों एवं मानसूनी प्रवाह की दिशा का लाभ उठाकर ही, भारत एवं अफ्रीका व पश्चिम एशिया के मध्य नियमित नौ–वहन होता रहता था। इसी प्रकार, वर्तमान में संयुक्त राज्य अमेरिका से यूरोप की ओर जाने वाले जहाज पछुआ प्रवाह में चलकर ईंधन बचाते हैं एवं अपनी गति भी बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार, शीतोष्ण प्रदेशों के बन्दरगाह गर्म धारा के प्रभाव से सर्दियों में नहीं जम पाते। अतः वहाँ वर्षभर व्यापार एवं नौ–वहन सम्भव है। रूस के प्रशान्त तट के बन्दरगाह शीत ऋतु में 3 से 4 माह जम जाते हैं, अतः ऐसे सागरों में सर्दियों में व्यापार मन्द रहता है।

5.3.12 ज्वार भाटा (Tides)

अति प्राचीन काल से ही समुद्र तटवासी यह जानते थे कि समुद्र में विशेष समय पर पानी के लहर की भाँति ऊपर उठने का सीधा सम्बन्ध चन्द्रमा की कलाओं से है। इसी कारण, प्रत्येक पूर्णिमा व अमावस्या को पानी की लहरें सबसे ऊँची उठा

टिप्पणी

करती हैं। वर्तमान में चन्द्रमा एवं सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से समुद्र तल में निश्चित समय पर आने वाले परिवर्तन को ही **ज्वार–भाटा** कहा जाता है। समुद्र का जल प्रायः लहर की भाँति उठता है। अतः इसे ज्वारीय लहर कहते हैं। इसमें आगे बढ़ती हुई तरंग को या जल–स्तर के ऊपर उठने को ज्वार (Flow of the Tide) कहते हैं, एवं जब ज्वारीय तरंग पुनः लौटने लगती है, तो उसे भाटा (Ebb) कहते हैं। इस प्रकार, ज्वार भाटा महासागरीय जल की महत्वपूर्ण गतियों में से एक है। सर **जॉन मरे के अनुसार, सूर्य एवं चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से औसत सागर तल में जो प्रति दिन नियमित रूप से ऊपर–नीचे होने की क्रिया होती रहती है, उसे ही ज्वार–भाटा (Tides) कहते हैं**। यूनान काल में **प्लिनी व पीथियस** नामक विद्वानों ने ज्वार–भाटा आने के बारे में प्रामाणिक विवरण सर्वप्रथम प्रस्तुत किये।

5.3.13 ज्वार की उत्पत्ति (Origin of Tides)

यद्यपि ज्वार की उत्पत्ति में चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का अपना महत्व है। सूर्य पृथ्वी से हजारों गुना बड़ा तो है, पर वह पृथ्वी से 14 करोड़ किमी. दूरी पर है, जबकि चन्द्रमा पृथ्वी से कहीं छोटा है एवं भौम पुत्र (पृथ्वी पुत्र) भी कहलाता है। फिर भी, यह पृथ्वी से मात्र 3.84 लाख किमी. ही दूर है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभावी रूपता पर पिण्डों की आपसी दूरी का उनके आकार से भी कहीं अधिक महत्व है। इसी कारण, सूर्य की तुलना में ज्वार भाटा की क्रिया पर पृथ्वी के निकट स्थित चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण का ही वास्तविक प्रभाव महत्वपूर्ण रहा है। यही नहीं, पृथ्वी के जो भाग चन्द्रमा से ठीक नीचे आते हैं, वहाँ का सागर तल चन्द्र तल से मात्र 377.6 हजार किमी. ही दूर है, जबकि पृथ्वी का इससे ठीक विपरीत या पीछे का भाग चन्द्र तल से 390.4 हजार किमी. दूरी पर होगा। इस प्रकार पृथ्वी का जो भाग चन्द्रमा के सबसे निकट है, उस ओर दिन में एक बार चन्द्र ज्वार आयेगा, किन्तु वास्तव में समुद्र तल पर प्रति दिन दो बार ज्वार आता है। इसके लिए चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के साथ–साथ पृथ्वी की एक और पृथ्वी शक्ति भी काम करती है। इसे **अपकेन्द्रीय बल** (Centrifugal Force) कहते हैं। इस शक्ति के प्रभाव में वस्तुओं को बाहर की ओर प्रसारित होने में सहायता मिलती है अर्थात् यह शक्ति प्रत्येक अक्षांश पर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के ठीक विपरीत प्रभाव डालती है। इसी के प्रभाव से चन्द्रमा के ठीक विपरीत भाग वाले पृथ्वी के जल तल को बाहर की ओर ऊपर उठने में सहायता मिलती है (चित्र क्र. 5.12), इस प्रकार प्रति दिन दो बार ज्वार आता है। जब महासागर के एक भाग का पानी ऊपर उठता है, तो जल के सन्तुलन के रूप में उससे आगे वाले भाग का सागर जल का तल नीचे चला जाता है।

टिप्पणी

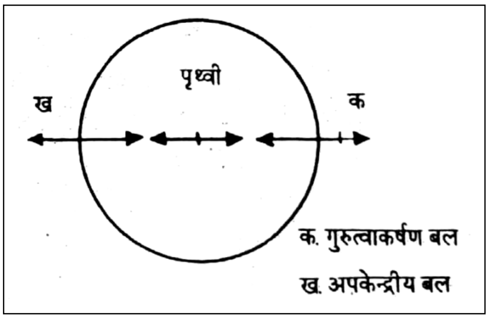

चित्र क्र. 5.11: ज्वार पैदा करने वाले बल (शक्ति)

यही कारण है कि ज्वार के कुछ समय पश्चात् **भाटा** आता है। इस प्रकार दिन में दो बार ज्वार एवं दो बार भाटा आता है।

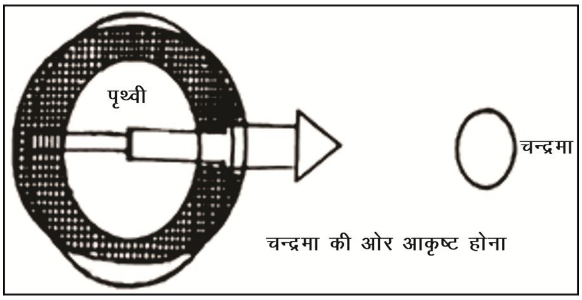

चित्र क्र. 5.12: चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से ज्वार की उत्पत्ति

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि **गुरुत्वाकर्षण एवं अपकेन्द्रीय बल** दोनों के प्रभावों से ही पृथ्वी के सागर तल पर प्रति दिन दो बार ज्वार एवं दो बार भाटा आता है। पृथ्वी के केन्द्र पर चन्द्रमा का **गुरुत्वाकर्षण एवं अपकेन्द्रीय बल** विपरीत दिशा में सम प्रभावी होने से पृथ्वी की केन्द्रीय स्थिति अपरिवर्तित रहती है। इसी कारण, सिर्फ सागर का जल ही ज्वारीय लहर के रूप में ऊपर–नीचे उठता व घटता रहता है।

5.3.14 ज्वार–भाटा का समय (Time of Tide)

पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है तथा चन्द्रमा पृथ्वी एवं सूर्य दोनों की परिक्रमा करता है। ज्वार–भाटा चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण आता है। यदि चन्द्रमा अपनी जगह स्थिर होता, तो प्रति दिन ज्वार–भाटा ठीक एक ही समय पर आता, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा 27 दिन 7 घण्टे 43 मिनट और $11\frac{1}{2}$ सेकण्ड में पूरी करता है। चन्द्रमा और पृथ्वी 24 घण्टे में एक चक्कर पूरा करती है। इस प्रकार, जब कोई स्थान 24 घण्टे बाद उसी स्थान पर आता है तो चन्द्रमा अपनी कक्षा पर एक दिन की यात्रा अर्थात् अपनी परिक्रमा का 1/28 भाग पूरा कर लेता है और उस दिन उतनी दूर आगे खिसक जाता है। पृथ्वी के उस भाग को चन्द्रमा के निकट पहुँचने में 52 मिनट का समय अधिक लगता है। इस प्रकार ज्वार 52 मिनट देर से आता है अर्थात् ज्वार 24 घण्टे 52

मिनट बाद आता है। इस प्रकार, दिन में दो ज्वारों के मध्य 12 घण्टे 26 मिनट का अन्तर रहता है।

टिप्पणी

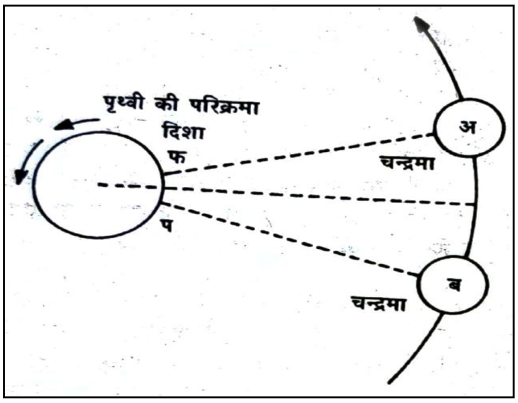

चित्र क्र. 5.13ः पृथ्वी की परिक्रमा

चित्र के अनुसार, यदि चन्द्रमा की स्थिति 'अ' बिन्दु पर है, तो ज्वार पृथ्वी के 'प' बिन्दु पर आयेगा। पृथ्वी 24 घण्टे बाद पुनः 'प' स्थान पर पहुँच जायेगी, किन्तु इतने समय में चन्द्रमा 'ब' बिन्दु पर पहुँच जायेगा जो पृथ्वी के 'फ' बिन्दु से लम्बवत् है। अतः 'प' स्थान को चन्द्रमा के निकट आने में 52 मिनट अतिरिक्ति समय लगता है। उपर्युक्त 'प' 'फ' वृत्त का लगभग $\frac{1}{28}$ भाग है। इसे तय करने मे 52 मिनट लगेंगे। इसमें कहीं–कहीं अपवाद भी पाये जाते हैं। जैसे– **इंग्लैण्ड** के दक्षिणी तट पर दिन में दो के स्थान पर **चार बार ज्वार आता है**, क्योंकि यहाँ पर प्रति दिन ज्वारीय लहरें दो बार इंग्लिश चेनल की ओर से एवं दो बार उत्तरी सागर की ओर से अलग–अलग समय पर पहुँचती हैं।

5.3.15 ज्वार–भाटा के प्रकार (Types of Tide)

सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी की विभिन्न स्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार के ज्वार उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त, चन्द्रमा तथा पृथ्वी की कक्षा, पृथ्वी की सूर्य और चन्द्रमा से दूरी तथा पृथ्वी के कक्ष के झुकाव के कारण ज्वार की चन्द्रमा अवस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। ज्वार अग्र प्रकार के हैं–

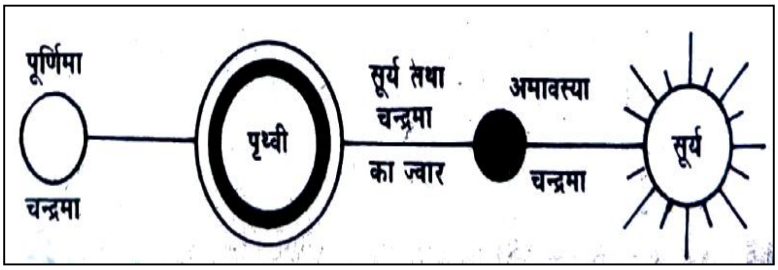

चित्र क्र. 5.14ः वृहद् ज्वार

1. वृहद् अथवा दीर्घ ज्वार (Spring Tide)– पृथ्वी पर चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों की आकर्षण शक्ति कार्य करती है, लेकिन सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा, पृथ्वी के अधिक समीप है। अतः सूर्य की आकर्षण शक्ति पृथ्वी के लिए बहुत कम है। जब सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी तीनों एक सीध में होते हैं अर्थात् जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों पृथ्वी के एक ओर होते हैं, तो उसे **युति** कहते हैं और जब पृथ्वी, सूर्य एवं चन्द्रमा के बीच आ जाती है, तो इसे **वियति** कहते हैं। युति की स्थिति अमावस्या तथा वियुति की स्थिति पूर्णिमा को होती है। सूर्य पृथ्वी एवं चन्द्रमा तीनों के एक सीध में होने से चन्द्रमा एवं सूर्य के संयुक्त आकर्षण बल के कारण दीर्घ ज्वार अनुभव किया जाता है। वृहद् ज्वार महीने में दो बार आता है।

2. लघु ज्वार (Neap Tide)– जब सूर्य और चन्द्रमा एक सीधी रेखा में न होकर समकोण की स्थिति में होते हैं तो उनका आकर्षण सागर जल को भिन्न दिशाओं की ओर आकर्षित करता है।

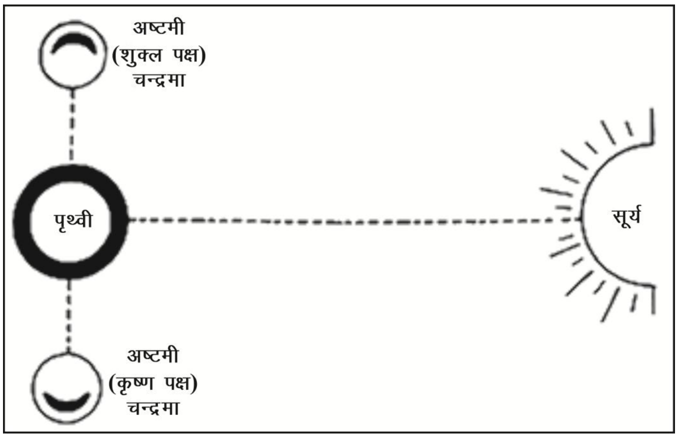

चित्र क्र. 5.15: लघु ज्वार

यह स्थिति प्रत्येक माह की शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष की सप्तमी एवं अष्टमी को होती है। ऐसी स्थिति में, सूर्य एवं चन्द्रमा पृथ्वी के केन्द्र के साथ 90^o का कोण बनाते हैं। इस समकोणीय स्थिति के कारण सूर्य और चन्द्रमा पृथ्वी के सागरीय जल को अपनी–अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अतः जल का उभार कम होने से लघु ज्वार उत्पन्न होता है। लघु ज्वार महीने में दो बार आता है।

3. अयनवृत्तीय और विषुवत्रेखीय ज्वार (Tropical and Equatorial Tides)– सूर्य की भाँति चन्द्रमा की भी पृथ्वी के साथ उत्तरायण एवं दक्षिणायण स्थिति होती रहती है। परिक्रमण करता हुआ चन्द्रमा महीने में एक बार विषुवत् रेखा के उत्तर तथा एक बार दक्षिण में होता है। जब चन्द्रमा का झुकाव उत्तर की ओर अधिकतम होता है, तो वह कर्क रेखा पर लम्बवत् होता है तथा यहाँ ज्वार केन्द्र होता है। इसी प्रकार, दक्षिणायण अवस्था में चन्द्रमा मकर रेखा पर लम्बवत् होता है जिससे ज्वार आता है। इस प्रकार, उत्तरायण अवस्था में कर्क रेखा पर उच्च ज्वार तथा दक्षिणायण अवस्था में मकर रेखा पर अपेक्षाकृत निम्न ज्वार उत्पन्न होते हैं। विषुवत् रेखा के उत्तर–दक्षिण आने वाले ज्वार–भाटा की ऊँचाइयों

टिप्पणी

में सामान्य ज्वार–भाटा से विभिन्नता पायी जाती है। इसे ज्वार की दैनिक असमानता कहते हैं। माह में एक बार कर्क रेखा पर तथा दूसरी बार मकर रेखा पर चन्द्रमा का अधिकतम झुकाव रहता है। ऐसी स्थिति में, ज्वार की अधिकतम असमानता रहती है। ऐसा ज्वार **अयनवृत्तीय ज्वार** कहलाता है। जब चन्द्रमा विषुवत् रेखा पर लम्बवत् होता है, तो ज्वारीय असमानता समाप्त हो जाती है। इस समय आने वाले ज्वार को **विषुवत्रेखीय ज्वार** कहा जाता है।

4. भूमि उच्च तथा भूमिनिम्न ज्वार (Apogean and Perigean Tides)– चन्द्रमा पृथ्वी के चतुर्दिक अण्डाकार परिभ्रमण पथ पर चक्कर लगाता है। अतः वह किसी समय पृथ्वी के निकट तथा किसी समय पृथ्वी से दूर होता है। चन्द्रमा की पृथ्वी से निकटतम दूरी (3,56,000 किलोमीटर) की स्थिति को **उपभू** (Perigee) अथवा निम्न तथा अधिकतम दूरी (4,07,000 किलोमीटर) की स्थिति को **अपभू** (Apogee) अथवा उच्च कहते हैं। चन्द्रमा के समीप होने पर ज्वार की ऊँचाई अधिक, किन्तु उसके दूर होने पर कम हो जाती है। चन्द्रमा की समीपीय स्थिति में आने वाले ज्वार को निम्न या **उपभू (Perigean) ज्वार** तथा अधिकतम दूरी वाले ज्वार को उच्च या **अपभू (pogean) ज्वार** कहा जाता है। जब कभी दीर्घ ज्वार तथा उपभू (निम्न भूमि) एक साथ आते हैं, तो ज्वार की ऊँचाई असामान्य हो जाती है तथा जब अपभू (उच्च भूमि) तथा लघु ज्वार एक साथ आते हैं तो ज्वार–भाटा का जल–तल अत्यन्त कम हो जाता है।

5. दैनिक ज्वार (Diurnal Tides)– जब किसी स्थान पर 24 घण्टे 52 मिनट के अन्तर से ज्वार आता है, तो उसे दैनिक ज्वार–भाटा कहा जाता है। इस प्रकार के ज्वार की स्थिति चन्द्रमा की झुकाव गति के कारण होती है। दैनिक ज्वार–भाटा पर सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की स्थिर गतियों का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के ज्वार मैक्सिको की खाड़ी, फिलीपाइन द्वीप समूह, अलास्का तथा चीन के तट पर आते हैं।

6. अर्द्ध–दैनिक ज्वार (Semi-diurnal Tides)– किसी एक स्थान पर दो बार आने वाले ज्वार को अर्द्ध–दैनिक ज्वार कहा जाता है। यह 12 घण्टे 26 मिनट बाद आता है। अर्द्ध–दैनिक ज्वार–भाटा में ऊँचाइयाँ तथा नीचाइयाँ क्रमशः बराबर रहती हैं। ये ज्वार–भाटा अटलाण्टिक महासागर में प्रमुख रूप से आते हैं।

जब किसी सागर में दो बार ज्वार–भाटा आता है तथा दोनों की ऊँचाई तथा नीचाई में अन्तर रहता है, तो उसे मिश्रित ज्वार–भाटा कहा जाता है। हिन्द तथा प्रशान्त महासागर में एक दैनिक तथा दूसरा अर्द्ध–दैनिक ज्वार–भाटा आता है, जबकि अटलाण्टिक महासागर में अर्द्ध–दैनिक ज्वार–भाटा आता है।

5.3.16 ज्वार–भाटे का प्रभाव (Effects of Tides)

ज्वारीय लहर का तटीय सागरों एवं महासागरों में विशेष प्रभाव पड़ता है। ज्वारीय लहर सामुद्रिक यातायात में सहायक होकर बन्दरगाह–विशेष की उपयोगिता बढ़ा सकती है। किसी नदी के मुहाने में जब ज्वारीय लहर प्रवेश करती है, तो उस नदी के पानी की गहराई बढ़ जाती है। इसी से वहाँ बड़े जहाज नदी के मुहाने में प्रवेश कर नदी तट के अन्तर्देशीय बन्दरगाह तक पहुँच सकते हैं एवं जब ऐसी लहर पुनः

लौटती है, तो निश्चित समय पश्चात् पुनः लौटा जा सकता है। इन लहरों के द्वारा नदियों के मुहानों व कटे–फटे तटों के निकट का कूड़ा–करकट दूर सागर में फेंक दिया या बहा दिया जाता है। समुद्री तट (Beach) की भी प्रति दीर्घ ज्वार के समय सफाई हो जाती है एवं वहाँ का वातावरण पुनः मनोहारी बन जाता है। इस प्रकार, **समुचित ज्वारीय लहर तटों के बीच एवं बन्दरगाहों के विकास में विशेष सहायक रहते हैं**। वर्तमान में ज्वारीय लहर से **ऊर्जा** भी पैदा की जाने लगी है। भारत में भी, गुजरात के तट पर इस ओर विशेष प्रयास किये जा रहे हैं। विश्व में सबसे ऊँची **ज्वारीय लहर या ज्वारीय भित्ति** संयुक्त राज्य में फण्डी की खाड़ी में 70 फीट (21 मीटर) ऊँची उठती है। इसी प्रकार पली तट पर स्थित कलकत्ता के विभिन्न डाक यार्डों में ज्वारीय भित्ति 7 से 15 फीट (2.1 से 4.5 मीटर) तक ऊपर उठ जाती है। इससे बन्दरगाहों के डॉकयार्डों की बड़े जहाजों को रोकने की क्षमता भी बढ़ जाती है और यहाँ निरन्तर काम होता रहता है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

3 क्यूरोसिवो धारा प्रवाहित होती है।

(अ) अन्ध महासागर में (ब) प्रशान्त महासागर में

(स) हिन्द महासागर में (द) आर्कटिक महासागर में

4 सारगासो सागर स्थित है।

(अ) प्रशान्त महासागर में (ब) दक्षिणी ध्रुव में

(स) भूमध्य सागर के पास (द) अन्ध महासागर के मध्य में

5 कौनसी दो धाराओं के मिलने से सबसे अधिक कोहरा उठता है?

(अ) क्यूरोसिवो व लेब्रेडोर (ब) ब्राजील व अगुल्हास

(स) गल्फस्ट्रीम व लेब्रेडोर (द) बेंगुला व हम्बोल्ट

5.4 ज्वार–भाटा संबन्धित सिद्धान्त (Theory Relatiry Tides)

5.4.1 ज्वार–भाटा उत्पत्ति के सिद्धान्त (Theory of Origin Tides)

पृथ्वी अथवा आकाशीय पिण्ड वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस बारे में यद्यपि प्राचीन काल से ही ज्ञान था, फिर भी, इसका व्यवस्थित एवं तर्कसंगत वर्णन प्राचीन गणितज्ञों या नक्षत्रशास्त्रियों ने ही सर्वप्रथम देने का प्रयास किया। इस बारे में, भास्कराचार्य एवं आर्यभट्ट के वर्णन विशेष प्रशंसनीय रहे, किन्तु इस ओर उनके ग्रन्थों पर विशेष शोध नहीं की जा सकी। अतः आज भी इन विद्वानों

टिप्पणी

का नाम गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त में मात्र संदर्भ के रूप में आता है। चन्द्रमा व पृथ्वी अन्य आकाशीय पिण्डों की भाँति विशिष्ट नियम के अधीन आकर्षण शक्ति रखते हैं, इसका वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं विशेष सूत्रों सहित वर्णन सर्वप्रथम सन् 1687 में **सर आइजक न्यूटन** ने प्रस्तुत किया। न्यूटन ने अपने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पिण्डों के आपसी आकर्षण का सम्बन्ध इनकी दूरी, आकार, आदि के आधार पर विशेष नियमों द्वारा उन्हें विस्तार से समझाया। इसी सन्दर्भ के आधार पर उसने चन्द्रमा के आकर्षण से सागर तल के ऊपर उठने या ज्वार–भाटा के तथ्य पर भी प्रकाश डाला। बाद में **प्रो. ह्येवेल** ने इसके लिए सन् 1842 में नवीन विचार प्रस्तुत किये। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में **प्रो. हेरिस** ने अपना संशोधित एवं विशेष प्रसिद्ध स्थायी तरंग सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ज्वार–भाटा उत्पत्ति के बारे में वर्तमान में निम्न। तीन सिद्धान्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं–

1. सम–सन्तुलन सिद्धान्त (Equilibrium Theory)– यह सिद्धान्त सर आइजक न्यूटन ने ज्वार–भाटा की क्रिया को सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप से विशेष नियमों के द्वारा समझाने के लिए प्रतिपादित किया था। न्यूटन ने वैज्ञानिक जगत् में गुरुत्वाकर्षण की महत्वपूर्ण धारणा प्रदान कर अपनी अनोखी प्रतिभा को आगे बढ़ाया। इसी आधार पर, ज्वार–भाटा क्रिया समझने के लिए ही न्यूटन ने सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। इस सिद्धान्त के अनुसार, पृथ्वी एवं चन्द्रमा की आपसी न्यूनतम एवं अधिकतम दूरी दोनों आकाशीय पिण्डों के आकार के अनुसार है। पृथ्वी का व्यास लगभग 12,800 किमी. है, अतः जो भाग चन्द्रमा के ठीक सामने वाले हैं, वे भाग चन्द्रमा के विशेष निकट होंगे। पृथ्वी का केन्द्र इससे 6,400 किमी. की दूरी पर एवं पृथ्वी का चन्द्रमा के सामने वाले भाग से उसके ठीक विपरीत स्थिति वाला भाग, स्पष्टतः चन्द्रतल के ठीक नीचे वाले भाग पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव अधिक प्रबल रहेगा।

इस गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव ठोस पृथ्वी एवं पृथ्वी के केन्द्र पर नगण्य बना रहता है क्योंकि सम्पूर्ण ठोस पृथ्वी तक इकाई जैसा व्यवहार करती है। दूसरी ओर, जल मण्डल में स्थानीय रूप से दोलन लहरें व धाराएँ एवं अन्य सभी गतियाँ कई कारणों से सम्भव होती रहती हैं। इसी कारण, चन्द्रमा की अपने से ठीक नीचे वाले जल भाग पर या समुद्रों पर आकर्षण शक्ति का निश्चित प्रभाव पड़ता है। वहाँ गुरुत्व बल के अनुरूप ज्वारीय लहर ऊपर उठेगी। इसे न्यूटन ने विशेष नियम, प्रयोग एवं सूत्र का प्रयोग करके भी सिद्ध किया। न्यूटन के समय तक, अपकेन्द्रीय बल की सही–सही सार्थकता या प्रभावी रूप की व्याख्या नहीं की जा सकी थी। इसीलिए न्यूटन ने बताया कि सम्पूर्ण ठोस पृथ्वी किंचित या थोड़ी अपने स्थान से चन्द्रमा की ओर खिंचती है। इस प्रभाव के कारण, चन्द्रमा से विपरीत स्थिति वाले भाग में कुछ रिक्तता आती है। अतः वहाँ सागर जल आस–पास के स्थानों से एकत्रित हो जाता है। इसी कारण, एक साथ दो स्थानों पर अर्थात् चन्द्रतल से ठीक नीचे वाले पृथ्वी के भागों पर एवं पृथ्वी के ऐसे भाग से ठीक विपरीत या प्रति–ध्रुवित भाग में ज्वार–भाटा आता है।

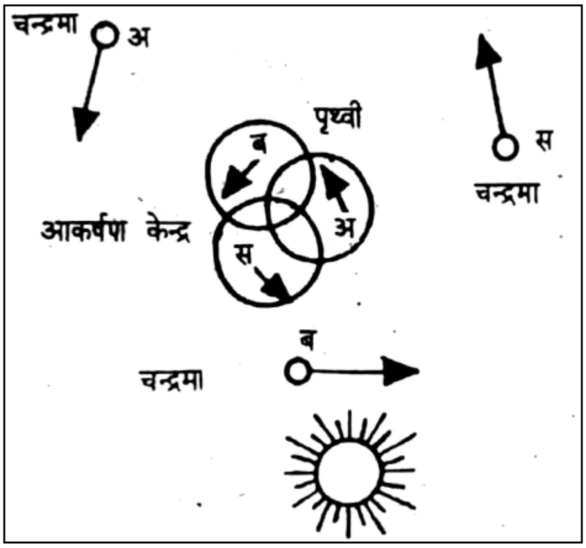

चित्र क्र. 5.16: पृथ्वी के अन्तः सम्बन्धित बल एवं गतियाँ

किन्तु वर्तमान में इस ज्वार–क्रिया को अधिक सही व तर्कसंगत विधि से समझाया जाता है, क्योंकि अब यह सर्वमान्य तथ्य है कि पृथ्वी की सतह पर जहाँ चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का ज्वार आने में विशेष प्रभाव पड़ता है, वहीं विपरीत भाग में उसी समय ज्वार आने का कारण **अपकेन्द्रीय बल** (Centrifugal Force) है। जहाँ चन्द्रमा वाले भाग की ओर चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है, वहीं पृथ्वी के सभी अक्षांशीय क्षेत्रों में अपकेन्द्रीय बल का प्रभाव समान बना रहता है। अतः पृथ्वी के केन्द्र पर चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण कुछ घट जाता है। यहाँ यह अपकेन्द्रीय बल के बराबर हो जाता है। अतः पृथ्वी का केन्द्र ज्वारीय क्रिया एवं चन्द्रमा के गुरुत्व बल से अप्रभावित रहता है। चन्द्रमा से ठीक विपरीत स्थिति वाला भाग, इस समय प्रतिध्रुवित स्थिति वाले दूसरे भाग से 12,800 किमी. अधिक दूरी पर होता है। अतः यहाँ चन्द्रमा का गुरुत्व बल और भी घट जाता है, जबकि अपकेन्द्रीय बल इस भाग की ओर भी सामान्य रूप से उतना ही बना रहता है। इस कारण, दूसरी ओर अपकेन्द्रीय बल अधिक प्रभावी बन जाता है। अपकेन्द्रीय बल के सृजन की व्याख्या को **पी. लेक** की पुस्तक 'Physical Geography' में अधिक विस्तार से समझाया गया है। इस विचारधारा के अनुसार, पृथ्वी व चन्द्रमा के मध्य का एक केन्द्र है जहाँ कि गुरुत्वाकर्षण शून्य रहता है। यह केन्द्र पृथ्वी की सतह से 1,000 किमी. गहराई पर चन्द्रमा के ठीक सामने वाले भाग में है। यहीं से पृथ्वी व चन्द्रमा की गति एवं उनकी विपरीतगामी दिशा स्थिति स्थापित होने से अपकेन्द्रीय बल विकसित होता है। ऐसे अपकेन्द्रीय बल के प्रभाव से ही चन्द्रमा से विपरीत स्थिति वाले पृथ्वी के भागों में भी ज्वार आता है। इसी कारण, एक ही समय पर विपरीत भागों के दो स्थानों पर ज्वार व भाटा आता है।

आलोचना (Criticism)

सर आइजक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की विद्वानों ने निम्न आधारों पर आलोचना की है–

टिप्पणी

(i) पृथ्वी पर जल एवं स्थल दोनों होने से चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति का प्रभाव उतना सक्रिय नहीं हो सकता है जितना कि केवल जलीय भाग पर। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही होता, तो ज्वारीय तरंग चन्द्रमा का अनुसरण करती हुई पृथ्वी के चारों ओर घूम जाती तथा प्रत्येक देशान्तर पर समान रूप से उत्पन्न होती, किन्तु ऐसा न होने से इनमें अन्तर पाया जाता है।

(ii) ज्वारीय तरंगें सागर तल की बनावट से भी प्रभावित होती हैं। सागर की विभिन्न उच्चावच रचना हवा की गहराइयों के कारण तरंगों के विस्तार, गति एवं दिशा में अन्तर आना स्वाभाविक है।

(iii) ज्वारीय तरंगों के अतिरिक्त सागरों में अन्य प्रकार की गतियाँ भी होती हैं, जो ज्वारीय तरंगों के मार्ग में कुछ सीमा तक अवरोध उत्पन्न करती हैं।

(iv) पृथ्वी का आकार चौरस न होकर गोल है। अतः ज्वारीय तरंगों के लिए किसी नियम को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है।

(v) ज्वारीय तरंगें चन्द्रमा की ऊँचाई के साथ–साथ निश्चित समय पर पृथ्वी पर परिक्रमा नहीं कर सकती हैं।

(vi) सर जॉर्ज एअरी ने बताया कि सन्तुलन सिद्धान्त का महत्व केवल आकर्षण शक्तियों एवं ज्वारोत्पादक शक्तियों का अस्तित्व बनाने में है। केवल गुरुत्वाकर्षण बल के आधार पर पृथ्वी पर ज्वार–भाटा की उत्पत्ति की व्याख्या करना गलत होगा।

निष्कर्ष (Conclusion)

न्यूटन का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सार्थकता को सिद्ध करने हेतु प्रतिपादित किया गया। इसी के सन्दर्भ में, सन्तुलन सिद्धान्त की विशेष नियमों एवं सूत्रों के अधीन व्याख्या भी दी गई। यह नियम के सूत्र आज भी अपनी सीमाओं में सत्य हैं। जो भी ऊपर वर्णित आलोचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी तो नियमों की विसंगतियाँ हैं, अतः ऐसे सब होना तो स्वाभाविक ही माना जाना चाहिए। इसी भाँति उस समय तक गुरुत्वाकर्षण के साथ–साथ अपकेन्द्रीय बल की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकी थी। इससे भी सन्तुलन सिद्धान्त में स्वाभाविक रूप से कुछ कमियाँ रहीं। फिर भी, यह सिद्धान्त ज्वार–भाटा घटना की क्रियाशीलता की आधारभूत व्याख्या एवं विशेष नियमों में इस क्रिया को समझाने का सार्थक प्रयास माना जा सकता है।

2. प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त (Progressive Wave Theory)– यह न्यूटन के सिद्धान्त का व्यवहारिक एवं संशोधित रूप है, क्योंकि पृथ्वी की सतह पर सर्वत्र समान रूप से बल का विस्तार नहीं है। जलमण्डल यद्यपि भूतल के 71 प्रतिशत भाग पर विस्तृत है, फिर भी, महाद्वीपीय विस्तार की विशेष प्रकृति के कारण वह कहीं–कहीं ही निरन्तर विस्तृत है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए **विलियम हेवेल** ने 1842 में अपना यह तर्कसंगत सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

यदि पृथ्वी पर सर्वत्र जल होता, तो चन्द्रमा के आकर्षण से स्थानों के अनुसार देशान्तरवार ज्वारीय तरंग बढ़ती जाती। चूँकि निरन्तर जलमण्डल का विस्तार केवल उत्तरी ध्रुवीय सागर एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में 55° अक्षांश के पश्चात् से अण्टार्कटिका महाद्वीप के मध्य में ही पाया जाता है, अतः इन्हीं सीमित पट्टियों में ही देशान्तरों के सहारे पूरब से पश्चिम दिशा की ओर मुख्य ज्वारीय तरंग (लहर) बढ़ती जाती है। यहाँ भी हॉर्न अन्तरीप (दक्षिणी अमेरिका) की बाधा उत्पन्न होती है। यह ज्वारीय तरंग इसी भाँति, पृथ्वी का चक्कर पूरा करने पर 180° देशान्तरों में दो भागों में विभक्त हो जाती है। फिर भी, मुख्य ज्वारीय तरंग प्रगति करती हुई विश्व का चक्कर लगाती है। उत्तरी ध्रुवीय सागर में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। यहाँ पर **हेवेल** ने महाद्वीपीय अवरोधों को ध्यान में रखते हुए मुख्य ज्वारीय तरंग पर उसके प्रभाव को विशेष रूप से समझाया है। जब ज्वारीय तरंग दक्षिणी अफ्रीका की तमाशा अन्तरीप से टकराती है, तो मुख्य **ज्वारीय तरंग से द्वितीयक (Secondary) तरंग की उत्पत्ति होती है**। इसकी पश्चिमी शाखा अटलाण्टिक महासागर में प्रवेश करती है। यह अफ्रीका महाद्वीप के तट के सहारे–सहारे अटलाण्टिक महासागर के मध्यवर्ती एवं उत्तरी भाग की ओर बढ़ती जाती है। इसी भाँति जब मुख्य तरंग प्रगति करती हुई हॉर्न अन्तरीप से टकराती है, तो इसकी पश्चिमी शाखा या **द्वितीयक शाखा लहर** (Secondary Wave) महाद्वीपीय तट के सहारे प्रशान्त महासागर में प्रगति करती हुई प्रसारित होती जाती है। इसी तरंग या लहर से पश्चिमी प्रशान्त व पश्चिमी अटलाण्टिक महासागरों में भी नियमित रूप से ज्वारीय लहरें उठती व फैलती है। जहाँ प्रधान लहर पूर्णतः चन्द्रमा के आकर्षण से ही नियन्त्रित रहती है, वहीं उनसे निकली द्वितीयक लहरें स्वतन्त्र होकर आगे प्रसारित होकर तटों व महासागरीय लक्षणों के अनुसार प्रभावी होती रहती हैं।

इस प्रकार **हेवेल** ने पूर्व की मान्यता को अधिक बुद्धिमत्ता या व्यावहारिकता से स्पष्ट कर ज्वार–भाटा की क्रिया को समझाया है। उसका यह सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से मान्य रहा किन्तु बाद में अनेक स्थानों पर निरीक्षण के कारण जो परिणाम प्राप्त होने लगे, उसका स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त से हो पाना स्पष्ट नहीं हो पाया अतः इस सिद्धान्त की अनेक आधारों व तथ्यों के द्वारा आलोचना की जाने लगी।

आलोचना (Criticism)

(i) इस सिद्धान्त के अनुसार, प्रधान तरंग की तुलना में उससे अलग हुई द्वितीयक लहर उतनी ही प्रभावी नहीं होनी चाहिए। साथ ही, लहरों के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार भी प्रधान लहर से स्वतन्त्र रूप से अलग होने के पश्चात् द्वितीयक लहर आगे बढ़ने के साथ–साथ सुदूर प्रदेशों में पहुँच जाने पर कम प्रभावी होती जानी चाहिए, जबकि वास्तविकता यह है कि उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में ज्वारीय लहर दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर से अधिक समय तक एवं पूर्णतः प्रभावी बनी रहती है।

(ii) उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में अलग–अलग स्थानों पर एक ही समय पर ज्वार आता है एवं उसी समय पर दो क्षेत्रों में उच्च ज्वार की स्थिति देखी जाती है जो कि इस सिद्धान्त के विपरीत है।

(iii) इंग्लैण्ड के तट पर प्रति दिन चार बार ज्वार आता है, जो कि इस सिद्धान्त द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

(iv) जब मुख्य लहर (तरंग) से निकलकर सहायक तरंग स्वतन्त्र रूप से प्रगति करती हई दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ती जाती है, तो उसमें समय भी लगता है। फिर भी, इस चिन्तन के विरुद्ध अर्जेण्टाइना के दक्षिणी तट पर जिस समय दीर्घ ज्वार आता है, उसी समय ग्रीनलैण्ड व लेब्राडोर तट पर भी दीर्घ ज्वार आता है। यह तथ्य पूर्णतः इस सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(v) इसी प्रकार, उत्तरी अटलाण्टिक एवं उत्तरी प्रशान्त महासागरों में एक ही अक्षांश पर, एक ही समय पर दैनिक व अर्द्ध–दैनिक ज्वारीय लहरें उत्पन्न होती हैं, जबकि प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के द्वारा इसे समझना सम्भव नहीं है।

3. स्थावर या स्थिर तरंग सिद्धान्त (Stationary Wave Theory)– इस सिद्धान्त का विकास एवं प्रतिपादन प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिकी विद्वान **डॉ. हेरिस** ने किया। डॉ. हेरिस ने विश्व के तीन महासागरों में होने वाले ज्वार– भाटा विकास क्रम का स्वयं अनेक स्थलों पर अध्ययन किया। इससे उन्होंने सम्पूर्ण ज्वार भाटा–प्रक्रिया पर नवीन विधि से चिन्तन करते हुए महासागरों में घटित इस क्रिया को आधार मानकर उसको विशिष्ट प्रकार से समझाने का प्रयास किया। उसने अनेक प्रकार से प्रयोगशाला में इस निमित्त प्रयोग भी किये। अपने परिणामों के आधार पर ही, उसने पूर्व के प्रचलित सिद्धान्तों से हटकर स्थिर तरंग सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। अतः यह सिद्धान्त प्रगतिशीत तरंग सिद्धान्त से पूर्णतः भिन्न है। उसने बताया कि प्रत्येक महासागर के विशिष्ट नाभिक केन्द्र पर स्थिर तरंगों का विकास होता है एवं उसी के द्वारा प्रत्येक क्षेत्र के भिन्न–भिन्न स्थानों पर ज्वारीय लहर विकसित होती रहती है।

इस सिद्धान्त में, यद्यपि इन तथ्यों को तो स्वीकार किया गया है कि महासागरों में दैनिक व अर्द्ध–दैनिक ज्वार एवं उसके पश्चात् भाटा उत्पन्न होने का आधारभूत कारण तो चन्द्रमा व सूर्य की निहित गुरुत्वाकर्षण शक्ति एवं अपकेन्द्रीय बल ही है, फिर भी, पृथ्वी पर महाद्वीपों की विशिष्ट व्यवस्था एवं महासागरों में ज्वारीय लहर में आने वाली बाधाओं, अन्य भू–भौतिकी कारणों, महासागरीय तल की रचना तथा अनेक प्रकार से आये अवरोधों के कारण महासागरों में प्रायः स्वतन्त्र रूप से अनेक स्थानों पर विकसित स्थाई नाभिक केन्द्रों में ज्वारीय लहर स्थिर बाग की भाँति आती है।

हेरिस ने अपने सिद्धान्त को समझाने के लिए एक आयताकार बर्तन में पानी भरकर उसमें यहाँ दिये चित्र क्र. 5.17 की भाँति, विभिन्न दशाओं में लहरों की व्यवस्था के विकास तथा उनमें बनने वाली लहर से शीर्ष या केन्द्रीय उच्चतम एवं निम्न तल या केन्द्रीय निचले भाग को प्रयोग द्वारा दर्शाकर स्पष्ट किया। उसने पूर्ण विश्वास से समझाया कि महासागरों में भी जो निरन्तर विशेष घटनाओं व गुरुत्वाकर्षण आदि के प्रभाव से **दोलन** (Oscillation) की प्रक्रियात्मक घटना होती रहती है, उसी से ज्वार के स्थाई या स्थिर नाभिक केन्द्र विकसित होते हैं।

टिप्पणी

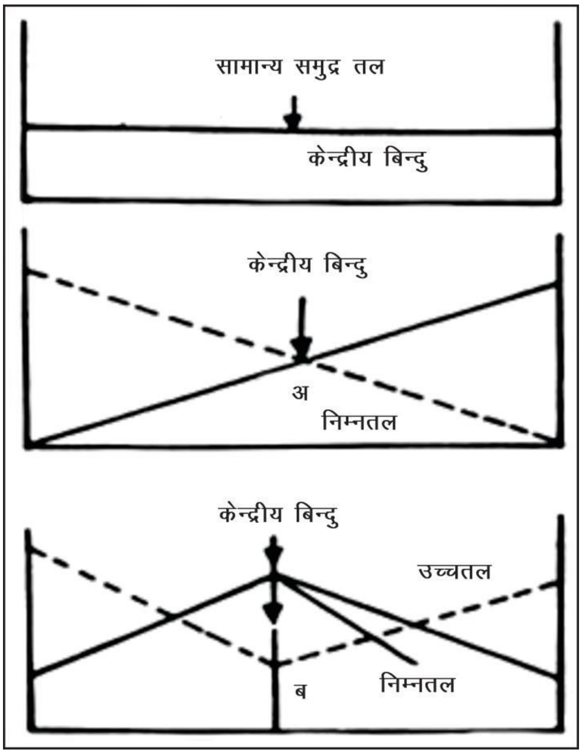

चित्र क्र. 5.17: हेरिस के अनुसार दोलन क्रिया से निर्मित केन्द्रीय बिन्दु (अ) भाटे की स्थिति एवं (ब) ज्वार की स्थिति

इसी से निकट के प्रदेशों में ज्वार भाटा की घटना उत्पन्न होती रहती है। चन्द्रमा के आकर्षण से उस क्षेत्र में नमी का शीघ्र उद्वेलन होता है एवं ज्वार आता है, किन्तु पृथ्वी का ठोस भाग भी कुछ आकर्षित या प्रभावित होकर चलता है। जब चन्द्रमा आगे बढ़ जाता है, तो ठोस पृथ्वी व महासागर अपनी पुरानी स्थिति की ओर लौटने लगते हैं। इसी प्रक्रिया में ज्वार के पश्चात् भाटा आता है। ऐसे दोलन में जल–तल में परिवर्तन सीधी रेखा के सहारे होता है। अतः ऐसी रेखा को **नाभिक रेखा (Nodal Line)** भी कहा गया। जिस प्रकार आयताकार बर्तन में काम में लाये गये बल या झटके से जितनी सघनता या शक्ति से दोलन (Oscillation) होगा, वही शक्ति बर्तन में विकसित दोलन क्रिया से बनने वाली लहरों की ऊँचाई व निम्नतम गहराई का आधार बनेगी। इसी प्रकार, महासागरों से पूर्णिमा व अमावस्या की उच्च आकर्षण शक्ति तथा दोनों अष्टमी की विभाजित आकर्षण शक्ति की सबलता या निर्बलता ही पानी की दोलन क्रिया अर्थात् ज्वारीय लहर की वृहद् या दीर्घ ज्वार की स्थिति अथवा लघु ज्वार (Neap Tide) की स्थिति को विकसित रूप देगी।

हेरिस ने महासागरों को भी बड़े बर्तन की भाँति माना। यहाँ उसने महासागरों के विषम् तल एवं महाद्वीपों की स्थिति के प्रभाव को भी विशेष व्यवस्था के विकास में तथ्यात्मक स्थान या महत्ता प्रदान की। उसने बताया कि चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के द्वारा पानी को जो बल प्रभावित करता है या जो झटका लगता है, उससे वहाँ जल के खिंचने से तरंगें उत्पन्न होती हैं। इन्हें **हेरिस ने स्थिर या स्थावर तरंग** (Stationary Waves) कहा। ऐसी महासागरीय तरंगें दोलन क्रिया द्वारा मिलती व फैलती जाती हैं। ये तरंगें ज्वार के समय एक ही दिशा में चलती हैं।

जब चन्द्रमा के आगे बढ़ने से आकर्षण शक्ति कम हो जाती है, तब उसके बाद में ऐसी जल तरंगें पीछे हटने लगती हैं या तब ऐसे क्षेत्र तरंग के प्रभाव–क्षेत्र में नहीं रहते। अतः वहाँ ज्वार के कुछ समय बाद भाटा आता है।

टिप्पणी

हेरिस ने विशेष प्रयोग द्वारा एवं महासागरों में निरीक्षण करके विशेष स्थानों पर दो के स्थान पर प्रति दिन बार–बार ज्वार आने की घटना को भी इसी सिद्धान्त से समझाया है। उसने स्पष्ट किया कि जब दो नाभिक केन्द्रों या रेखाओं से विकसित ज्वारीय तरंग अलग–अलग जल संयोजकों या मार्गों से किसी तट पर अलग–अलग समय पर प्रवेश करती है, तो ऐसी स्थिति विकसित हो सकती है। यह अपवाद अवश्य है, किन्तु असम्भव घटना नहीं है।

महाद्वीपों एवं बड़े द्वीपों की स्थिति एवं पृथ्वी की दैनिक गति का भी दोलन एवं तरंग के विकास व निकट के क्षेत्रों में प्रसार पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यद्यपि सभी महासागरों में ऐसी स्थिर तरंगें समान गति से प्रसारित नहीं होतीं, किन्तु यहाँ पर भी बड़े द्वीप व महाद्वीपों के प्रायद्वीपों की बाधाओं के कारण प्रत्येक महासागर में विशेष **भँवर बिन्दुओं** (Amphidromic Points) का विकास होता है। इन्हीं नाभिक या भँवर बिन्दुओं से ही प्रत्येक महासागर में दोलन क्रिया या ज्वारीय तरंग प्रसार क्रिया होती रहती है। यह प्रसार क्रिया उपयुक्त भँवर बिन्दुओं से दक्षिणावर्त दिशा में उत्तरी गोलार्द्ध में घटित होती रहती है। अतः इन बिन्दुओं को स्थाई बिन्दु एवं तरंगों को स्थावर या स्थिर (Stationary) माना गया है। इसी आधार पर समान समय पर, ज्वार आने वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखा को **सम–ज्वार रेखा** (Co–tidal Line) कहा गया।

यद्यपि इस सिद्धान्त में कई तथ्य महत्वपूर्ण हैं एवं सम्पूर्ण ज्वार–भाटा प्रक्रिया पर नये सिरे से एवं बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है, फिर भी, इस बारे में विस्तृत शोध एवं अपवादों के स्पष्टीकरण हेतु निकट से विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता है।

5.4.2 ज्वारीय भित्ति (Tidel Bore)

जहाँ खुले व गहरे सागरों में ऊँची उठी ज्वारीय लहर निरन्तर गतिशील रहती है, वहीं छिछले सागरों, खाड़ियों व मुहाने के निकट उनकी गति अवरोधित होने से, पीछे से ज्वारीय लहर की बढ़ती हुई शक्ति के साथ आने वाला पानी मिलकर, वहाँ दीवार की भाँति एकत्रित होकर आगे की ओर तेजी से बढ़ने लगता है। अतः इसका अगला भाग दीवार की भाँति खड़े या तेज ढ़ाल वाला होता है। इसी प्रकार, जब लम्बी व सँकरी खाड़ी में ज्वारीय लहर का पानी बाहरी चौड़े भाग से प्रवेश कर सँकरे भाग में फंसने व दबने लगता है, तो भी पानी की ऊँचाई तेजी से बढती जाती है। इससे भी ज्वारीय भित्ति का विकास होता है। इसी प्रकार चौड़े मुहाने वाली नदी की धारा में जब ज्वारीय लहर प्रवेश करती है, तो वह नदी के बहाव की दिशा से विपरीत दिशा में बहने से भी तेजी से दबाव डालकर आगे बढ़ती है, इससे भी ज्वारीय भित्ति (Tidel Bore) के समान पानी खड़ा होकर आगे बढ़ने लगता है। ऐसी स्थिति कुछ किमी. तक व सँकरे मार्ग में सम्भव है। बाद में ज्वारीय लहर की शक्ति क्षीण होती जाती है एवं वह पुनः लौटने लगती है, क्योंकि तब तक अर्थात् निश्चित समय पश्चात् भाटे की स्थिति आ जाती है।

ज्वारीय भित्ति की जब भी ऊँचाई बहुत अधिक होती है या औसत से यकायक बढ़ जाती है, तब वह विशेष विनाशकारी बन जाती है। इसके प्रभाव से इसके मार्ग में फॅसने वाले जहाज या बड़ी नावें भी पलटकर या उलटकर नष्ट हो जाती हैं। डॉक यार्ड में खड़े जहाजों के लंगर भी यकायक जल–स्तर बढ़ने से टूट सकते हैं। अतः ऐसे समय को ध्यान में रखकर जहाजों के लंगर पहले से ही ढीले कर दिये जाते हैं, नहीं तो विशेष जन–धन की हानि हो सकती है।

हुगली नदी में ज्वारीय भित्ति की ऊँचाई 1.5 से 3 मीटर के मध्य एवं कलकत्ता बन्दरगाह के निकट यहाँ ऊँचाई 5.5 मीटर रहती है। यांग्ट्सी नदी में ऐसी भित्ति की ऊँचाई 6 मीटर तक, सेवन नदी में 2 मीटर तक, ब्रिस्टल की धारा के मुहाने पर ज्वार भित्ति की ऊँचाई 5.5 मीटर रहती है। विश्व में सबसे ऊँची ज्वारीय लहर फण्डी की खाड़ी में 21 मीटर अंकित की गई है। ज्वारीय लहर की सबसे अधिक ऊँचाई दीर्घ ज्वार के समय अंकित की जाती है। यदि इस समय तूफानी पवनें भी चल रही हों, तो ऐसे में तूफानी लहरें व ज्वारीय लहरें मिलकर तटीय भागों एवं उपयुक्त खाड़ियों व नदियों के तट व मुहाने के निकट विनाशलीला मचा सकती हैं। इससे तट पर एवं इसके प्रभावित भागों के जलयानों को अपार हानि भी उठानी पड़ सकती है।

छिछले सागरों की सँकरी खाड़ियों में एवं तटीय भागों में ज्वारीय भित्ति के स्थान पर ज्वारीय धाराएँ भी चलती हैं। यह खुले सागरों की ज्वारीय लहरों से डेढ़ से दोगुनी गति तक बढ़कर 10 से 18 किमी. प्रति घण्टा तक चल सकती हैं। इन्हें तीव्र जल दाब प्रेरित धारा (Acute Hydraulic Current) भी कहते हैं। इससे प्रारम्भ में तो खाड़ी का तल पास के तटीय ज्वारीय धारा से प्रभावित सागर तल से काफी नीचा रहता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् तटीय ज्वारीय धारा के लौटने के पश्चात् खाड़ी के पानी का तल थोड़े समय के लिए तटीय सागर तल से तेजी से ऊँचा होने लगता है। सागर तल में ऐसी उथल–पुथल के कारण ही, वहाँ पर कई घण्टों तक जलयान तथा नावें नहीं चलाई जा सकती हैं। जहाजों को भी बन्दरगाहों में प्रवेश हेतु खुले सागर में कई घण्टे इन्तजार करना पड़ता है।

ज्वार–घाटे का प्रभाव (Effect of Tides)– ज्वारीय लहर का तटीय सागरों एवं महासागरों में विशेष प्रभाव पडता है। ज्वारीय लहर सामुद्रिक यातायात में सहायक होकर बन्दरगाह–विशेष की उपयोगिता बढ़ा सकती है। किसी नदी के मुहाने में जब ज्वारीय लहर प्रवेश करती है तो उस नदी के पानी की गहराई बढ़ जाती है, इसी से वहाँ बड़े जहाज नदी के मुहाने में प्रवेश कर नदी तट के अन्तदेशीय बन्दरगाह तक पहुँच सकते है एवं जब ऐसी लहर पुनः लौटती है तो निश्चित समय पश्चात पुनः लौटा जा सकता है। इन लहरों के द्वारा नदियों के मुहानों व कटे–फटे तटों के निकट का कूड़ा–करकट दूर सागर में फेंक दिया जाता है। समुद्री तट (Beach) की भी प्रति दीर्घ ज्वार के समय सफाई हो जाती है एवं वहाँ का वातावरण पुनः मनोहारी बन जाता है। इस प्रकार समुचित ज्वारीय लहर तटों के बीच एवं बन्दरगाहों के विकास में विशेष सहायक रहते है। वर्तमान में ज्वारीय लहर से ऊर्जा भी पैदा की जाने लगी है। भारत में भी गुजरात के तट पर इस ओर विशेष प्रयास किये जा रहे है। विश्व में सबसे ऊँची ज्वारीय लहर या

टिप्पणी

ज्वारीय भित्ति संयुक्त राज्य में फण्डी की खाड़ी में 70 फीट (21 मीटर) ऊँची उठती है। इसी प्रकार हुगली तट पर स्थित कलकत्ता के विभिन्न डाक यार्डो में ज्वारीय भित्ति 7 से फीट (2.1 से 4.5 मीटर) तक ऊपर उठ जाती है। इससे बन्दरगाहों के डॉक यार्डो की बड़े जहाजों को रोकने की क्षमता भी बढ़ जाती है और वहाँ निरन्तर काम होता रहता है। ज्वार–भाटा का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके हानिकारक एवं लाभकारी दोनों प्रकार के प्रभाव होते है।

लाभ

1. उथले सागर, खाड़ियों तथा मुहानों पर स्थित बन्दरगाहों में इतना जल नहीं होता है कि वहाँ बड़े–बड़े जलयान तट आ सकें। ज्वार के समय जल की गहराई बझ़ जाती है जिससे बड़े–बड़े जलयान बन्दरगाह तक प्रवेश कर जाते हैं और भाटा के समय पुनः बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार ज्वार–भाटा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सरल, सुगम तथा निरन्तर बनाए रखने का उत्तम साधन है।
2. ज्वार–भाटा के कारण समुद्री जल में निरन्तर हलचल बनी रहती है जिससे नदियों का स्वच्छ, मीठा जल तथा सागर का खारा जल आपस में मिलते रहते हैं जिससे हिम को गलाने में शक्ति मिलती है। इससे शीतोष्ण तथा शीत कटिबन्धों के बन्दरगाह हिम के प्रभाव से बच जाते है।
3. ज्वार–भाटा सागर के तट के जल को जमने से रोक देता है। ज्वार–भाटा के कारण सागरीय जल में जब उथल–पुथल होती है तो वह जल को जमने नहीं देता।
4. ज्वार से सागर में लहरें उठती हैं जिससे अपार ज्वारीय शक्ति उत्पन्न होती है। यह विद्युत उत्पादन में सहायक होती है।

हानियाँ

1. ज्वार–भाटा कभी–कभी जलायनों को भारी क्षति पहुँचाते है।
2. ज्वार के साथ बड़ीं मात्रा में सागर तटीय रेत बन्दरशाहों में जमा हो जाती है जिससे सागर की गहराई कम हो जाती है। इससे जलयानों के आने–जाने में कठिनाई होती है।
3. ज्वार भाटा से कभी–कभी जलयानों की दिशा बदल जाती है। कभी–कभी जहाज उलट पलट जाते है।

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

6. दीर्घ ज्वार के दिन हैं।

(अ) प्रत्येक माह का सातवाँ व तेइसवाँ दिन

(ब) प्रत्येक माह की अमावस्या एवं पूर्णमासी

(स) 21 व 22 दिसम्बर

(द) 21 मार्च व 22 सितम्बर

टिप्पणी

7. साम्यावस्था सिद्धान्त प्रस्तुत किया।
   (अ) आर ए. हेरिस ने (ब) डार्विन ने
   (स) न्यूटन ने (द) सर जॉन मरे ने
8. निमज्जन सिद्धान्त को समझाया
   (अ) अगासीज ने (ब) डार्विन ने
   (स) न्यूटन ने (द) गार्डिनर ने

5.5 महासागर भावी संसाधन के स्रोत के रुप में (Oceans as Sources of Future Resources)

"महासागर रत्नों के अक्षय भण्डार हैं।" यह कथन लोकोक्ति मात्र नहीं है। सागरीय नितल एवं उसके भीतरी भागों में खनिजों की अपार राशि संचित है। प्राचीन काल में मानवजाति को महासागरों का सीमित ज्ञान ही था। वर्तमान समय में उन्नत तकनीकों, उपकरणों, अन्वेषणों, यात्राओं, शोध, संस्थानों की स्थापना आदि से महासागरों के वर्णनातीत महत्व को समझा जा सकता है। हाल के वर्षों में, समुद्री नितल के प्रसार (Sea Flore Spending) के अध्ययन अन्टार्कटिका अभियान आदि से भी महासागरीय संसाधनों के सम्बन्ध में अपूर्व जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। आधुनिक युग में, जबकि जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है तथा स्थलीय संसाधन तेजी से समाप्त होते जा रहे हैं, मानव का अस्तित्व अन्ततः महासागरों पर ही आश्रित दिखाई देता है। स्थलीय संसाधनों के बाद मानव समुदाय के लिए सागरीय संसाधन ही **अंतिम संसाधन सीमा** (Resource Frontier) हैं। अतः भविष्य में इनके विस्तृत एवं विविध रूपों में विदोहन (Exploitation) एवं उपयोग (Utilization) की प्रबल संभावनाएँ हैं। बीसवीं सदी को यदि जनसंख्या विस्फोट की सदी कहा जाए, तो 21वीं सदी जनसंख्या विस्फोट के भयावह एवं त्रासद परिणामों से जूझने की सदी होने जा रही है। लगभग 2% वार्षिक दर से बढ़ती हुई जनसंख्या शताब्दी के अन्त तक भयंकर विस्फोटक स्थिति की सूचक है। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि से खाद्य सामग्री तथा प्राकृतिक संसाधनों की कमी का संकट उत्पन्न होगा। आज भी कई देश इस संकट से जूझ रहे हैं। स्थल से प्राप्त संसाधन समाप्त प्रायः हैं। ऐसी स्थिति में, महासागर एवं उनके संसाधन ही समस्त मानवजाति को इस संकट से बचाने में सक्षम हैं। महासागरों की उपयोगिता निम्न सन्दर्भो में उल्लेखनीय है–

1. महासागर एवं खाद्य–आपूर्ति (Ocean and Food Supply)– सर्वविदित है कि मछली प्रोटीनयुक्त उत्तम खाद्य पदार्थ है, जो महासागरीय संसाधन है। तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या हेतु स्थलीय संसाधनों के विस्तार की सम्भाव्यता अत्यल्प ही रह गयी है। धरातल के 70.8 प्रतिशत भाग पर महासागरों का विस्तार है तथा शेष 29.2 प्रतिशत हिस्सा स्थल का है। अब तक विश्व के कुल भोजन का 90 प्रतिशत स्थल से तथा मात्र 10 प्रतिशत जलीय भाग (महासागर एवं अन्य जलागार) से उपलब्ध होता है। जनसंख्या की वृद्धि के समानान्तर खेतिहर भूमि का

सिमटना एक कटु यथार्थ है, क्योंकि भूमिहीन–जनसंख्या हेतु खेती की जमीन भी आवास हेतु उपयोग किया जाना अपरिहार्य है। निरन्तर विकसित होते जा रहे वैज्ञानिक उपायों के बावजूद, भूमि–संसाधनों से खाद्य–पदार्थों की आपूर्ति आवश्यकता के अनुरूप हो पाना असम्भव है। ऐसी दशा में, महासागरीय संसाधनों की प्राप्ति के प्रति नियोजित अभियान चलाने की आवश्यकता है।

2. महासागर एवं मत्स्य–उत्पादन (Ocean and Fishing)– मत्स्य उत्पादन मनुष्य के आर्थिक कार्यों में ऐसा आकर्षक एवं उत्पादनपरक कार्य रहा है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर आदिम–अवस्था से प्रारम्भ होकर जीवन–निर्वाहक् एवं आधुनिक–वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के स्तरों तक भी उतना ही प्रचलित है। विभिन्न आदिम जातियाँ यदि छोटी नाव, जाल तथा पुराने उपकरणों से जीवन निर्वाहन (Subsistence) हेतु मत्स्याखेट करती हैं, तो समुद्रीतटीय मछुआरों एवं द्वीपों पर निवास करने वाले लोगों पर, कुछ परिष्कृत स्तर पर यह कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। आधुनिक युग में विश्व की अधिकांश मछलियाँ बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उद्देश्य से पकड़ी जाती हैं। एक्वाकल्चर (Aquaculture) अर्थात् मछली की खेती का प्रारम्भ जापान में हुआ। विश्व–स्तर पर एक्वाकल्चर–विधि से मत्स्य उत्पादक देशों में जापान, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा नार्वे अग्रणी हैं। भारत में भी पर्याप्त मात्रा में मत्स्योत्पादन तथा निर्यात होता है। सम्पूर्ण विश्व में खाद्य–आपूर्ति के उद्देश्य से प्रतिवर्ष लगभग 10 करोड़ टन मछली पकड़ी जाती है। मछली पकड़ने का कार्य जापान, चीन, पूर्वी साइबेरिया, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी भाग से अटलाण्टिक तट और पश्चिमी पैसिफिक तट, पश्चिमी यूरोप के देश नॉर्वे, ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्ड्स, पीरू, चिली और न्यूजीलैण्ड में अधिक होता है।

मछलियों की कुल 30 हजार प्रजातियाँ अनुमानित हैं, जिनमें से 25 हजार मीठे जल में प्राप्त होती हैं। उष्ण कटिबन्धीय सागरों में अनेक प्रकार की मछलियाँ पकड़ी जाती हैं, जिनमें मुलेट, रेडफिश, टर्टल, फ्लाउण्टर, रेडस्नेपर, सी–ट्राउट, शीप्सहेड एवं स्पेनिश मैकरेल आदि प्रमुख हैं।

विविध प्रकार की कवची–मछलियाँ (Shell Fish) भी खाद्य के रूप में पकड़ी जाती हैं, जैसे– लॉब्स्टर, ऑयस्टर, क्लैम, क्रैब्स आदि। मध्य अक्षांशीय उथले जल में उपयुक्त कवची मछलियाँ बहुतायत में पाई जाती हैं, जबकि ठण्डे महासागरों में सारडाइन, पिल्काई एकोवी, हैरिंग, प्लेस, कॉड एवं हैडॉक आदि मछलियाँ मुख्य रूप से पकड़ी जाती हैं। इनके अतिरिक्त स्पंज, केकड़े, सीपी, घोंघे, शुक्ति (Oyster) तथा समुद्री स्तनपायी जीव (Sea mammals) भारी संख्या में प्रतिदिन पकड़े जाते हैं।

अटलाण्टिक तटों पर पकड़ी जाने वाली अन्य मछलियाँ हैरिंग, मैकरेल (Mackerel) हैडक, हैलीवट आदि हैं। उत्तरी अमेरिका के पैसिफिक तट के निकट सबसे अधिक सामन मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। ब्रिटेन में भी मत्स्य उद्योग उन्नत है।

यूँ तो, विश्व के सभी सागरतटीय प्रदेशों में मत्स्याखेट किया जाता है, व्यापारिक मत्स्य उद्योग के लिए संसार में पाँच प्रदेश महत्वपूर्ण हैं।

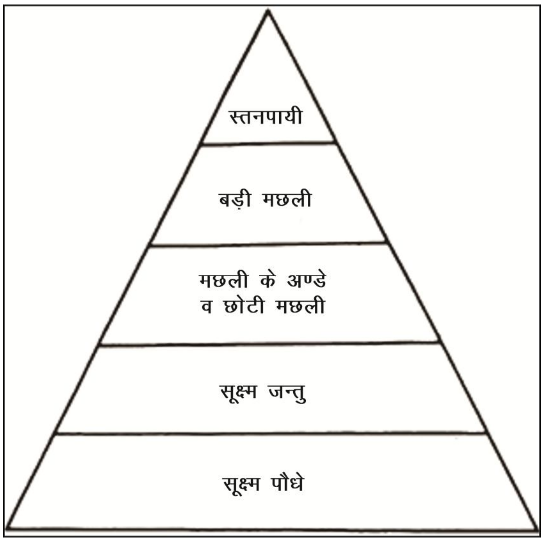

चित्र क्र. 5.18: समुद्री जीवन की आहार–श्रृंखला

(i) संयुक्त राज्य के अटलाण्टिक तट पर न्यू–इंग्लैण्ड और ग्रेट बैंक्स (Great or Grand Banks) का प्रदेश।

(ii) उत्तरी यूरोप के तटीय प्रदेश, जिसमें बिस्के की खाड़ी, उत्तरी सागर और उसमें डॉगर बैंक्स, नॉर्वे के तट और बाल्टिक सागर।

(iii) उत्तरी अमेरिका का पैसिफिक तट, जो केलिफोर्निया से बैरिंग सागर (Bearing sea) तक फैला हुआ है।

(iv) एशिया का उत्तरी–पूर्वी तटीय भाग, जिसमें जापान, चीन, पूर्वी साइबेरिया और उत्तरी–पूर्वी चीन हैं।

(v) पीरू का समुद्री तट।

विश्व के अधिकांश अर्ध–विकसित एवं विकासशील देश जो कुपोषण (Mal-nutrition) अथवा न्यून पोषण (Under-nourishment) के शिकार हैं, इन अभावग्रस्त देशों को न केवल भविष्य में वरन् आज भी पोषणयुक्त भोजन के नाम पर मछली ही एकमात्र विकल्प है। इसलिए परम्परागत विधि से ही सही, इन देशों के तटवर्ती भागों में छोटे–छोटे मत्स्य–फार्म बनाकर मछली पालन का व्यवसाय विकसित हुआ है। ज्वारीय लहरों के सहारे बहकर आयी मछलियों को एस्चुअरी तथा खाड़ियों के पीछे तटबन्ध बनाकर, इन फार्मों में इकट्ठा करके वैज्ञानिक तरीके से पाला जाता है। मछलियों का उत्पादन तेजी से बढ़ाने हेतु अन्य खाद्य–पदार्थों के साथ–साथ गोबर जैसे मल–पदार्थ भी प्रयोग में लाये जाते हैं। यूरोपीय देशों में ऑयस्टर, मुसेल, मुलेट तथा ईल, जापान में श्रिम्प एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में ऑयस्टर नामक मछलियाँ व्यवसाय हेतु अधिक पाली जाती हैं।

3. महासागर एवं वानस्पतिक (शाकाहारी) खाद्य पदार्थ (Oceans and Vegetables)– महासागरों से प्राप्त अधिकांश खाद्य पदार्थ, जैविक (माँसाहारी) पदार्थ हैं, किन्तु वर्तमान में गैर परम्परागत (Non-traditional) खाद्य पदार्थों के रूप में वानस्पतिक (शाकाहारी) खाद्य पदार्थ भी उपलब्ध होने लगे हैं। इस सन्दर्भ में, प्रोटीन से परिपूर्ण 'शैवाल' तथा 'पादप–प्लवक' विशेष उल्लेखनीय हैं जो

महासागरों में अपरिमित मात्रा में पाये जाते हैं। रूसी वैज्ञानिकों के अनुसार समुद्री पादप–प्लवक का कुल वार्षिक उत्पादन 550 अरब टन है, जबकि सारे महाद्वीपों की सम्पूर्ण वनस्पति मात्र 300 अरब टन होती है। यद्यपि ये शाकाहारी खाद्य वनस्पतियाँ अधिक लोकप्रिय नहीं हैं, तथापि शनैः – शनैः इनका प्रयोग बढ़ने की सम्भावना है।

समुद्र विज्ञानीय शोध समिति (Oceanographic Research Committee) के अध्यक्ष **रेवेल** (Revelle) के अनुसार, "प्रोटीन की बढ़ती हुई माँग का उत्तर समुद्रों के पास है। समुद्री सतह पर कुछ ऐसे घास अनाज (Grass grains) उगाना सम्भव है, जो स्थल उत्पादन से सस्ता होगा तथा इसमें प्रोटीन की मात्रा भी अधिक होगी।" वैज्ञानिकों का मत है कि स्थलीय पौधों की जातियों में संशोधन कर उन्हें उथले समुद्र तल पर उगाया जा सकता है। समुद्री जल में वे सभी रासायनिक पदार्थ मिलते हैं, जो पौधों का भोजन हैं। समुद्री खारे जल में ऐसी वनस्पति विकसित की जा सकती है जिससे चीनी बनाई जा सके। समुद्री सतह पर ऐसे पौधे उगाये जा सकेंगे जिनसे चावल जैसे बीज प्राप्त होंगे। समुद्र में मिलने वाली वनस्पति में तेल व प्रोटीन का अंश अधिक होता है। ऐसा अनुमान है कि समुद्रों से प्राप्त प्रति हैक्टेयर उपज, भूमि पर प्राप्त प्रति हैक्टेयर उपज से कहीं अधिक होगी। समुद्री कृषि में सिंचाई जैसी कोई समस्या नहीं होगी। समुद्र के छिछले भागों के अलावा गहरे सागरों पर भी खेती की जा सकती है। इस प्रकार भूतल पर जितनी कृषियोग्य भूमि है, उसके दस गुने से भी अधिक क्षेत्र पर महासागरों में कृषि की जा सकेगी।

4. महासागर पेयजल के स्रोत के रूप में (Oceans as Source of Drinking-Water)– जनसंख्या की अनियन्त्रित–वृद्धि तथा प्रदूषण के कारण पेयजल (Potable water) का संकट और भी गहराता जायेगा। अतः अन्य विकल्प के अभाव में, समुद्री खारे जल को पीने–योग्य बनाने के लिए, उसे लवण रहित किया जाना ही एकमात्र उपाय है जिसके लिए सफल परीक्षण भी हो चुका है। समस्या मात्र भारी लागत आने की है। विश्व भर में 500 से अधिक संयन्त्र लग चुके हैं, जो समुद्री जल को पीने–योग्य बनाते है। क्यूबा में 'ग्वाटानामो', नौ–सैनिक केन्द्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के टैक्सास राज्य के 'फ्रीपोर्ट' नामक स्थान पर सर्वप्रथम इस कार्य हेतु अलवणीकरण संयन्त्र (Desalinization project) स्थापित किया गया। फ्लोरिडा के 'की–वेस्ट' स्थान पर विश्व का अब तक का विशालतम संयन्त्र स्थापित है। शुष्क प्रदेशों के तटीय क्षेत्रों में, नगरीय विकास के कारण बढ़ी पेय एवं अन्य घरेलू उपयोग के जल की माँग की आपूर्ति के लिए, सागरीय खारे जल के शोधन एवं पेयजल में बदलने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है।

5. महासागर एवं खनिज संसाधन (Oceans and Mineral Resources)– सागरीय जल में पृथ्वी की ठोस पपड़ी का प्रत्येक खनिज उपस्थित है, यद्यपि अधिकांश खनिजों की मात्रा अत्यल्प होती है। समुद्री जल में लगभग 3.5% खनिज पाये जाते हैं, जिनमें सबसे अधिक मात्रा (78%) साधारण नमक (Sodium chloride) और मैग्नीशियम (Magnesium) की होती है। समुद्री जल के द्वारा नमक भारत, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका और भूमध्यसागरीय देशों में सर्वाधिक मात्रा में बनाया जाता है। जर्मनी में महासागरीय जल से मैग्नीशियम

नामक हल्की धातु भी प्राप्त की जाती है। समुद्री शैवाल (Sea weed) की भस्मी से अन्य खनिज पोटाश, आयोडीन, ऐगार (Agar) आदि भी प्राप्त होते हैं। इनका उपयोग उद्योगों में कच्चे माल के रूप में होता है। चूने का पत्थर और फॉस्फेट्स समुद्री जीवांशों से निर्मित होते हैं। ऐथील–गैसोलीन में प्रयोग होने वाला ब्रोमीन, महासागरों से प्राप्त किया जाता है। महासागरीय कटकों में टाइटेनियम युक्त विशाल लौह भण्डार विद्यमान हैं। सोने, चाँदी एवं ताँबे के भी पर्याप्त भंडार इन कटकों में पाये जाते हैं।

पेट्रोलियम के भण्डारण की दृष्टि से महासागरीय एवं तटीय क्षेत्र सर्वाधिक सम्पन्न हैं। वर्तमान में भी विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 40% पेट्रोलियम महासागरीय क्षेत्रों से प्राप्त होता है। भारत में तो वर्तमान कुल तेल उत्पादन का 58% से भी अधिक हिस्सा (158 लाख टन) 'बॉम्बे हाई', 'खम्भात खाड़ी' एवं 'गोदावरी थाले' आदि उपतटीय समुद्री क्षेत्रों से प्राप्त हो रहा है। बाम्बे हाई के तेल क्षेत्र ने अपतटीय–तेल भण्डार का जैसे नया द्वार ही खोल दिया है, जिसकी प्रेरणा से अपतटीय–क्षेत्रों में तेल–प्राप्ति की सम्भावनाओं पर नये उत्साह के साथ खोज जारी है। गोदावरी थाले तथा तमिलनाडु के तंजाउर जनपद में नये तेल कुएँ खोदे गये हैं। इसके अतिरिक्त, बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के अपतटीय क्षेत्रों में, तेल के कुएँ खोदे जा रहे हैं, जहाँ अनेक तेल–भण्डार मिले भी हैं। चूँकि खनिज तेल की प्राप्ति अवसादी शैलों से ही सम्भव है, इसलिए इन अवसादी शैलों वाले स्थलीय एवं जलीय दोनों क्षेत्रों में इसकी प्राप्ति की सम्भावनाएँ विश्व–स्तर पर अनुसंधान का विषय बन चुकी हैं। भारत में भी अवसादी बेसिनों में तेल प्राप्ति हेतु गहन–सर्वेक्षण का कार्य अनवरत चल रहा है।

समुद्री नितल में लौह–मैग्नीशियम के भी विशाल भण्डार विद्यमान हैं। अकेले प्रशान्त महासागर में ही 10,000 करोड़ टन से भी अधिक खानें (Nodules) हैं जिनसे 24% मैंगनीज, 15% लौह अयस्क एवं बड़ी मात्रा में कोबाल्ट तथा निक्कल जैसी मूल्यवान धातुएँ प्राप्त होती हैं।

चित्र क्र. 5.19: भारत में पेट्रोलियम युक्त अवसादी बेसिन

आण्विक खनिजों में यूरेनियम, थोरियम आदि के भण्डार भी समुद्री नितल में विद्यमान हैं जिनका विदोहन किया जाना अभी शेष है। सागरीय शोध से जुड़े विभिन्न संस्थान खनिज संसाधनों की संभाव्यता के लिए निरन्तर सचेष्ट हैं।

टिप्पणी

6. महासागर एवं गैर–पारम्परिक ऊर्जा स्रोत (Oceans and Non-Conventional Source of Energy)– ऊर्जा की बढ़ती विश्वव्यापी खपत एवं विकास की अन्धी दौड़ को देखते हुए लगता है कि कोयला, एवं प्राकृतिक गैस जैसे परम्परागत शक्ति के साधन लम्बे समय तक मनुष्य की माँग की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। इसीलिए वैज्ञानिक अब गैर–पारम्परिक ऊर्जा की खोज में रहता हैं, ताकि भविष्य में विकास की गति बाधित न हो।

महासागरों को आदिकाल से ही अपरिमित शक्ति का स्रोत माना गया है। वैज्ञानिकों ने भू–मण्डल की इस विशाल जल राशि को विभिन्न प्रकार के ऊर्जा के वैकल्पिक साधन के स्रोत के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। विशेषकर, समुद्रों में सतत उठती ऊँची–ऊँची लहरें, ज्वारीय तरंगें, धाराएँ, समुद्र सतह में विद्यमान सौर्यिक ताप–ऊर्जा, लवणता एवं घनत्व की भिन्नता विद्युत उत्पन्न करने के प्रमुख स्रोत हैं। स्थल की भाँति ही, सागरों तथा महासागरों को भी ऊर्जा की प्राप्ति सौर–किरणों द्वारा ही होती है। एक अनुमान के अनुसार 10,000 टैरावाट (1016) सौर–ऊर्जा पृथ्वी को प्राप्त होती है, स्वाभाविक रूप से इसका लगभग 70% भाग महासागर ग्रहण करते हैं जिसका विभिन्न रूपों में परिवर्तन होता रहता है।

समुद्रों में उठने वाली लहरों में असीमित ऊर्जा निहित है। लहरों की ऊँचाई के अनुसार, उनके आघात–प्रत्याघात द्वारा यन्त्रों–संयन्त्रों की सहायता से जल विद्युत ऊर्जा उत्पन्न की जाने लगी है। समुद्री लहरें कुछ सेंटीमीटर से लेकर 20 मीटर तक ऊँचाई की होती हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार, **तरंगीय–जल विद्युत–ऊर्जा** के निर्माण हेतु 5 मीटर से अधिक ऊँचाई वाली लहरें अपेक्षित हैं। इस दृष्टि से, समुद्री लहरों द्वारा भविष्य में जल विद्युत शक्ति की अपार सम्भावनाएँ हैं। ज्वार–भाटा के समय उत्पन्न लहरों से 2.7 से 3 टैरावाट विद्युत ऊर्जा का आकलन किया गया है जिसमें से लगभग 40 से 50 मेगावाट ऊर्जा का उत्पादन किया जा सकता है। फ्रांस में 'सेंट–माली' के समीप एक ऐसा ही संयन्त्र 1990 में स्थापित किया गया है। 1000 लाख डालर की लागत से स्थापित विश्व का यह प्रथम संयन्त्र 240 लाख किलोवाट ऊर्जा उत्पन्न कर रहा है। पूर्व सोवियत संघ की किसलय नामक खाड़ी में तथा चीन में ऐसा ही संयन्त्र स्थापित किया गया। भारत में पूना स्थित केन्द्रीय जल एवं ऊर्जा अनुसंधान केन्द्र तथा राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान, गोआ इस दिशा में शोधरत् हैं।

ज्वारीय तरंगों के साथ–साथ समुद्रों में हवाओं द्वारा जल के गतिमान होने से उत्पन्न (विक्षोभ जनित) तरंगों तथा भूकम्प आदि विवर्तनिक कारणों से उत्पन्न समुद्री तरंगों से भी ऊर्जा की प्राप्ति की जाने लगी है। इस सन्दर्भ में जापान एवं ब्रिटेन उल्लेखनीय हैं।

समुद्रों द्वारा अवशोषित सूर्यताप के संचय से भी ऊर्जा की प्राप्ति संभावित है। समुद्री सतह पर औसत तापमान 25° सेग्रे. रहता है। एक गणना के अनुसार,

उष्ण कटिबंधीय समुद्रों में यदि सतह का तापमान 22° सेग्रे. तथा 400 मीटर की गहराई पर 10° सेग्रे. हो, तो इससे 50 टेरावाट ऊर्जा प्राप्त हो सकती है। हवाई द्वीप में 50 किलोवाट का एक छोटा समुद्र–तापीय–ऊर्जा परिवर्तक (संयन्त्र) परीक्षण के तौर पर कार्यरत् है। भारत का पूर्वी समुद्री तट इस प्रकार की (तापीय) ऊर्जा के विदोहन (Exploitation) हेतु उपयुक्त है।

समुद्री ऊर्जा के विदोहन हेतु इजराइल में मृत सागर में एक ऐसा संयन्त्र लगाया गया है, जिसमें लवणता की भिन्नता के आधार पर खारे समुद्रों में नदियों के मुहाने क्षेत्र पर इसे स्थापित कर ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार, विभिन्न प्रकार की समुद्री घासें द्रवीय एवं गैसीय ईंधन हेतु प्रयोग में आ रही हैं। सं. रा. अमेरिका के कैलीफोर्निया स्थित समुद्रतटीय क्षेत्र में एक ऐसा ही संयन्त्र कार्यरत् है, जिससे समुद्री घास को अनेक रासायनिक अभिक्रियाओं से मीथेन गैस के रूप में रूपान्तरित किया जाता है, जो भविष्य में ऊर्जा के रूप में प्रयोग की जा सकेगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि समुद्रों में ऊर्जा का भण्डार समाहित है जिसको नित–नूतन अनुसंधानों के माध्यम से परम्परागत ऊर्जा के विकल्प के रूप में विकसित किया जा सकता है।

7. महासागर एवं जल परिवहन (Ocean Sand Water Transport)– आज के **आर्थिक–मनुष्य** के जीवन में परिवहन एक अनिवार्य प्रक्रम बन चुका है। स्थल परिवहन एवं जल परिवहन से होता हुआ आज का उन्नत मानव समुदाय यद्यपि वायु परिवहन को अपने जीवन का अंग बना चुका है, तथापि आज भी समुद्री परिवहन का कोई अन्य विकल्प नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े पैमाने का आयात–निर्यात मात्र समुद्री परिवहन द्वारा ही सम्भव है। वायुयान भी उड़ान भरने के लिए प्रायः बड़े–बड़े जलपोतों को हवाई पट्टी की तरह प्रयोग करते हैं, यहाँ तक कि विश्व स्तर पर सामरिक एवं आपात्कालीन परिस्थितियों में समुद्री बेड़ों का उपयोग सर्वविदित है। विश्व में किसी सामुद्रिक अवस्थिति (Location) में पड़ाव डालकर जलपोत–बेड़ों को **"अस्थाई सामरिक स्टेशन"** के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

महासागर प्राचीनकाल से ही अत्यधिक महत्वपूर्ण रहे हैं, इसके पीछे सामुद्रिक जल–परिवहन हेतु प्रयोग ही उल्लेखनीय कारण हैं। समय–समय पर आवश्यकताओं एवं तकनीकी विकास के अनुसार इसका स्वरूप परिवर्तित होता गया। महासागरों का परिवहन एवं व्यापार पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता रहा है कि NATO (North Atlantic Treaty Organisation) अर्थात् **उत्तरी अटलाण्टिक सन्धि संगठन** जैसा व्यापारिक एवं सामरिक गुटों का अभ्युदय हो गया, जो अटलाण्टिक महासागर और उसके पर्यावरणीय (जलवायुविक तथा सामुद्रिक) प्रभाव की अभिव्यंजना करते हैं। इसी तरह, प्रशान्त महासागरीय देशों का भी एक संगठन है। निश्चय ही, सामुद्रिक परिवहन मानव की आर्थिक समृद्धि में बहुत अधिक सहायक होगा तथा मानव समुदाय की आवश्यकता के अनुरूप इसमें नित नये आयाम जुड़ते रहेंगे।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जाँचिए (Check Your Progress)

9. पृथ्वी पर महासागरों का सर्वाधिक विस्तार किस गोलार्द्ध में है?
   (अ) उत्तरी (ब) दक्षिणी
   (स) पूर्वी (द) पश्चिमी
10. महासागरीय प्रदूषण के लिए उत्तरदायी नहीं है?
   (अ) रेडियोधर्मी पदार्थों का विसर्जन
   (ब) औद्योगीकरण तथा नगरीकरण
   (स) अपतटीय तेल वेघरा
   (द) वन विनाश।
11. विश्व में सर्वाधिक मत्स्योत्पादन का क्षेत्र है।
   (अ) ग्रेट बैंक्स (ब) उत्तरी सागर
   (स) बैरिंग सागर (द) जापान सागर

5.6 अपनी प्रगति जाँचिए प्रश्नों के उत्तर (Answers to Check Your Progress)

1. (ब)	5. (स)	9. (ब)
2. (स)	6. (ब)	10. (द)
3. (ब)	7. (अ)	11. (अ)
4. (द)	8. (स)	

5.7 सारांश (Summary)

सामान्यतया महासागरों के धरातलीय जल का औसत तापमान 26.7 डिग्री सेल्सियस माना गया है । जिस प्रकार विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते जाने से वायुमण्डल का तापमान घटता चला जाता है, ठीक उसी प्रकार समुद्र का तापमान भी घटता जाता है। पृथ्वी के धरातल के समान ही सागरीय जल को भी तापमान सूर्यातप से प्राप्त होता है। सागरीय जल का तापमान –50°C से 33°C तक पाया जाता हैं। लेकिन सागरीय जल का औसत दैनिक तापान्तर लगभग 10°C तक अर्थात नगण्य होता है क्योंकि जल धीरे–धीरे गर्म तथा धीरे–धीरे ठण्ड़ा होने के करण तापान्तर बहुत कम पाया जाता है।

सागरीय जल के तापमान पर सूर्य की उत्तरायण एवं दक्षिणायण स्थिति का प्रभाव पड़ता हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित सागरीय जल का अधिकतम तापमान

अगस्त में तथा न्यूनतम तापमान फरवरी में रहता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में फरवरी में अधिकतम तथा अगस्त में न्यूनतम रहता है।

सागरीय तापमान के वितरण पर भूमध्य रेखा से दूरी जल एवं स्थल का असमान वितरण, प्रचलित पवनें, सागरीय धाराओं तथा स्थल से घिरे बन्द या खुले महासागरों का प्रभाव पड़ता है।

लम्बवत् वितरण की दृष्टि से सागरीय जल की गहराई में जाने पर तापमान घटता जाता है। लेकिन ध्रुवीय क्षेत्रों में सागर तल पर बर्फ के पिघलने से उत्पन्न ठण्डा जल होने के कारण तापीय विलोमता की स्थिति भी पायी जाती है। जिसके कारण तापमान गहराई में बढ़ने लगता है।

5.8 मुख्य शब्दावली (Key Terminology)

- **दक्षिणायणः** दक्षिणायण सूर्य की स्थिति है जिसमें सूर्य कर्क संक्रांति के बाद से लेकर मकर संक्रांति तक होता है। इस दौरान सूर्य दक्षिण की ओर गमन करता है (अयन = गति), अर्थात कर्क संक्रांति के दिन सूर्य की किरणे कर्क रेखा पर सीधी पड़ने के बाद दक्षिण की ओर खिसकते हुए मकर संक्रांति के दिन मकर रेखा पर सीधी पड़ती हैं।
- **उत्तरायणः** उत्तरायण' (= उत्तर + अयन) का शाब्दिक अर्थ है – 'उत्तर में गमन'। दिन के समय सूर्य के उच्चतम बिंदु को यदि दैनिक तौर आरंभ 22 दिसंबर को होता है। यह दशा 21 जून तक रहती है। उसके बाद दक्षिणायण प्रारंभ होता है जिसमें दिन छोटे और रात लम्बी होती जाती है।
- **अयनवृत्तीयः** एक साल में दो बार सूर्य की स्थिति में परिवर्तन होता है और यही परिवर्तन या अयन 'उत्तरायण और दक्षिणायण' के रुप में होता है इसे अयनवृत्तीय कहा जाता है।

5.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास (Self Assessment Questions and Exercises)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. समुद्र जल के तापमान के वितरण को समझाइए।
2. महासागरीय जल के तापमान के क्षैतिजीय वितरण की व्याख्या कीजिए।
3. महासागरीय जल के तापमान के वितरण की व्याख्या कीजिए।
4. उत्तरी अन्ध महासागर के सतही तापमान का वर्णन कीजिए।

5 सागरीय ताप के क्षैतिज वितरण पर टिप्पणी लिखिए।

6 सागरीय जल की लवणता के नियंत्रक कारकों का वर्णन कीजिए।

7 महासागर के जल की लवणता के क्या कारण हैं?

टिप्पणी

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. महासागरीय जल में तापमान के क्षैतिज तथा लम्बवत् वितरण की व्याख्या कीजिए।
2. महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक क्या हैं? महासागरीय ताप के क्षैतिजवर्ती वितरण को समझाइए।
3. संसार में महासागरों एवं सागरों (अधखुले सागरों) में तापमान की भिन्नता के लिए उत्तरदायी कारणों का वर्णन कीजिए।
4. समुद्री जल के क्षैतिज ताप वितरण से क्या तात्पर्य है? इसे कौन–से तत्व प्रभावित करते हैं?
5. सामुद्रिक जल के तापक्रम से आप क्या समझते हैं? वे कौन–कौन से तत्व हैं जो सामुद्रिक जल के तापक्रम के लम्बवत् एवं क्षैतिज वितरण को प्रभावित करते हैं?
6. खारापन क्या है? समुद्रों के खारेपन को नियन्त्रित करने वाले कारकों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
7. सागरों और महासागरों के खारेपन के कारण और उसके वितरण का वर्णन कीजिए।

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री (Suggested Readings)

1. डॉ. रविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल प्रवर्तलिका पब्लिकेशन इलाहाबाद।
2. डॉ. एच.एन. गुप्ता एवं डॉ. शिवानंद गौतम भौतिक भूगोल (वायुमण्डल एवं जलमण्डल) एवं प्रसाद एण्ड सन्स पब्लिकेशन भोपाल।
3. डॉ. चतुर्भुज मामोरिया भौतिक भूगोल साहित्य भवन आगरा।
4. डॉ. मामोरिया एवं सिसोदिया यूनीफाइड भूगोल साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स आगरा (म. प्र.)।